महान् शिक्षा-
दार्शनिक के रूप में
आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य

लेखक :

डॉ० भीष्म दत्त शर्मा,

एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत, दर्शनशास्त्र), एम०एड०, पी-एच०डी०,

प्रवक्ता, शिक्षा विभाग,

एन० ए० एस० कॉलिज, मेरठ।

प्रकाशक :

अनु प्रकाशन, मेरठ।

प्रकाशक :

अनु प्रकाशन,

शिवाजी रोड, मेरठ।

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

49166

मूल्य : 85/– मात्र

प्रथम संस्करण (सितम्बर–1985)

मुद्रक :

प्रभात कुमार गुप्ता,

पीयूष प्रिन्टर्स,

32–शिवाजी रोड, मेरठ।

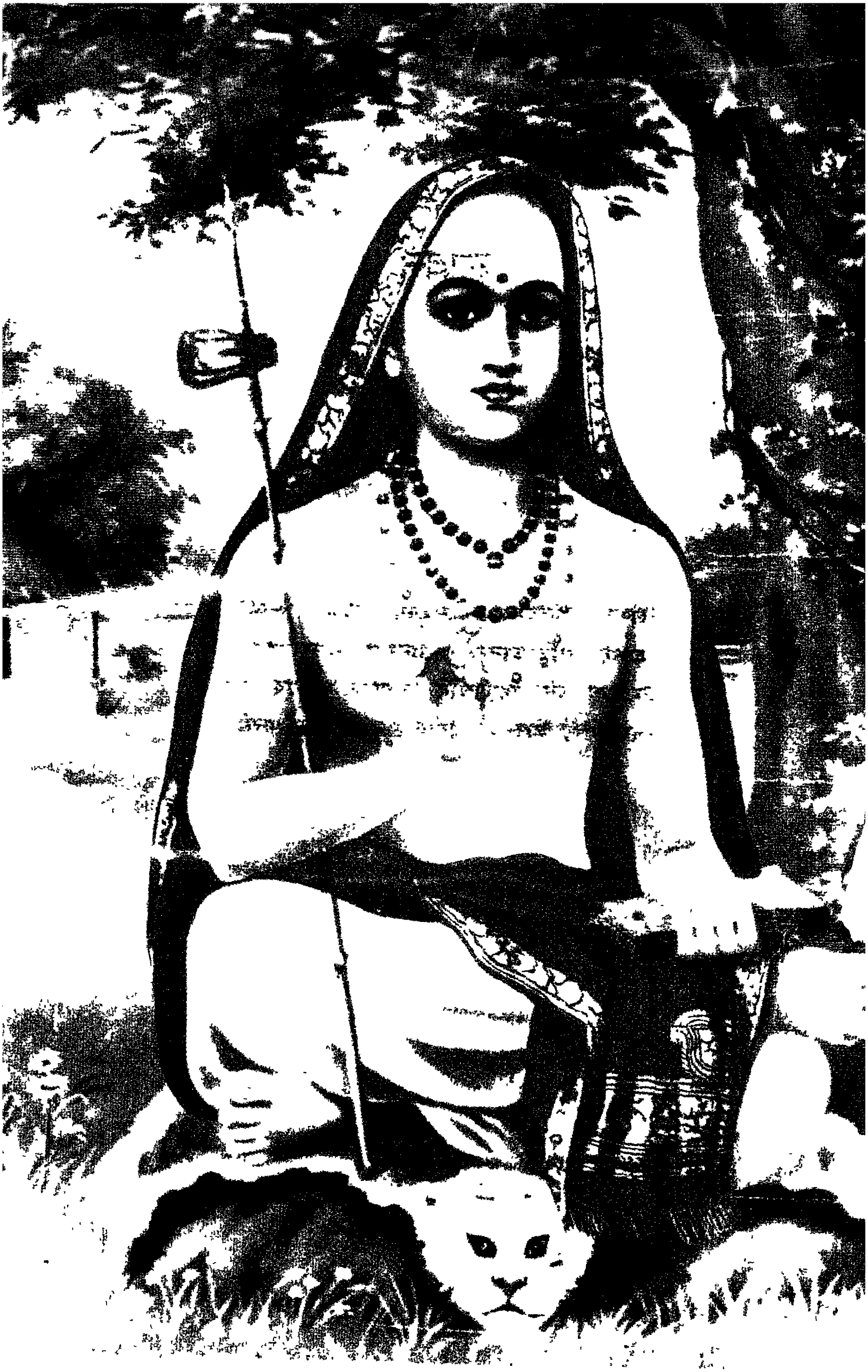

॥ श्रीहरिः ॥

पुरोवाक्

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै, विवाद संवाद भुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्म मोहं, तस्मै नमोऽनन्त गुणाय भूम्ने ॥

श्रुति-स्मृति के अनुशीलन से यह सुस्पष्ट है कि वैदिक धर्मानुयायी अनादिकाल से मुख्यतः भारत निवासी, वेदमार्गी, दार्शनिक और शिक्षा-शास्त्री थे। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्नातक शिष्य के प्रति आचार्य की जो शिक्षा है, वह इस रहस्य को द्योतित करने वाली है। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश निवासी अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथिवी के सर्वमानवों को स्व-स्वचरित्र शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा[1] भी इसी तथ्य को द्योतित करती है।

विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य के पूर्ण पालन की परम आवश्यकता है। 'सनत्सुजातीय' शांकर भाष्य सहित अनुशीलन करने पर पता चलता है कि जिस तरह आत्मा के वैश्वाम्बर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय चार पाद हैं; उसी तरह ब्रह्मचर्य के भी वेदज्ञ ब्राह्मण रूप प्राचार्य, वेद, बिन्दु (वीर्य) और ब्रह्म ये चार चरण है। अभिप्राय यह है कि वेदज्ञ-ब्राह्मण आचार्य की विधिवत् उपासना, उनके स्वस्थ मार्गदर्शन मे वेदानुसन्धान, ब्रह्मचर्यपालन रूप संयमी जीवन और ब्राह्मी स्थिति की समुपलब्धि में ही शिक्षा की समग्र स्वस्थ विधा सन्निहित है। 'सहनाववतु' (कृष्ण यजुर्वेदीय शान्तिः, मुक्ति को० 1·3) आदि मन्त्र गुरु और शिष्य में परस्पर सद्भाव की प्रतिष्ठा को द्योतित करते हैं। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत' (अथर्ववेद) आदि मन्त्र ब्रह्मचर्य और वेद-शास्त्रानुसन्धानपूर्वक स्वधर्मपालनरूप तप को इच्छा मृत्यु और मृत्युञ्जय पद प्राप्ति में अमोघ हेतु मानते हैं 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि' (सामवेदीय शान्तिः, मुक्ति को० 1·4) आदि मन्त्र 'ब्रह्मचर्य पालन से उद्दीप्त प्रज्ञाशक्ति और प्राणशक्ति से भरपूर भव्य अङ्गोपाङ्ग से युक्त जीवन ब्रह्म द्वारा रक्षित होकर शास्त्रा-

---

1. एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं-चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ मनुस्मृति 2-20 ॥

वलम्बनपूर्वक स्वरूपानुसन्धान में रमा रहे' यह प्रेरणा प्रदान करते हैं। 'ज्ञानी-अनुभवी आचार्य के स्वस्थ मार्गदर्शन में श्रद्धालु, तत्पर, संयतेन्द्रिय व्यक्ति अभ्युदय-निःश्रेयस प्रदायक ज्ञानोपलब्धि में समर्थ होता है' जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीता में यह प्रेरणा प्रदान करते हैं।[1] भगवान् का यह उद्बोधन शिक्षा-शास्त्रियों के लिये प्रेरणास्रोत है। 'शास्त्रविधि की उपेक्षा कर बनायी गयीं शिक्षा-पद्धतियों का आलम्बन लेकर वर्तने वाला व्यक्ति सिद्धि, सुख और परागति से सदा ही वंचित रहता है,[2] जो शास्त्रविधि के अनुरूप शिक्षा-प्रणालियों का आलम्बन लेकर वर्तने वाला है; वह सिद्धि, सुख और परागति से सम्पन्न होता है।' श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द सुधासिन्धु का यह उद्बोधन महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य शकर द्वारा प्रणीत एव उद्भावित और उनकी विधा से विरचित ग्रन्थों के द्वारा दर्शन का एक उन्नत पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवत्पाद द्वारा विरचित विविध स्तोत्रों को तथा विष्णु सहस्रनाम भाष्य को 'प्रथमा' कक्षा के उपयोगी माना जा सकता है। प्रबोध सुधाकर, सौन्दर्य लहरी, सनत्सुजातीय भाष्य, पातन्जल योग सूत्र व्यास-भाष्य पर आचार्यकृत विवरण तथा [illegible] भाष्य को 'मध्यमा' में सन्निहित किया जा सकता है। अपरोक्षानुभूति,विवेकचूडामणि, उपदेश साहस्री आदि आचार्यकृत प्रक्रिया ग्रन्थों को तथा भगवद्गीता एवं ईशावास्योनिषद् भाष्य को 'शास्त्री' कक्षा के उपयुक्त माना जा सकता है केन-कठ-मुण्डक-प्रश्न-माण्डूक्य-ऐतरेय-तैत्तिरीय-छान्दोग्य और बृहदारण्यक भाष्य को तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य को 'आचार्य' कक्षा के उपयुक्त माना जा सकता है। दशश्लोकी पर गौड ब्रह्मानन्दी सहित मधुसूदनपाद विरचित सिद्धान्त बिन्दु, तैत्तिरीय भाष्य-वार्तिक, बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक एवं विद्यारण्यस्वामि विरचित सूतसंहिता भाष्य और सर्वदर्शन संग्रह तथा मान्य वाचस्पति मिश्र विरचित भामती तथा श्रीपद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका विवरण सहित को आचार्योत्तर पोस्टाचार्य, पी-एच०डी० और डि० लिट्० स्तर का माना जा सकता है।

डॉ० श्री भीष्म दत्त जी द्वारा विरचित शोध प्रबन्ध के संक्षिप्त रूप का आद्योपान्त अनुशीलन करने का योग सधा। जिसे वे 'महान् शिक्षा

---

1. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। (भगवद्गीता 4- 34, 35) श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (भगवद्गीता 4–39)।
2. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। (भगवद्गीता 16–23)।

दार्शनिक के रूप में आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य' नाम से प्रकाशित करने जा रहे हैं। प्रबन्ध सरल, सरस और शिक्षाप्रद है तथा समयोपयोगी भी। इसका प्रथम अध्याय 'प्रस्तावना' परक है। इसमें श्री शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों के आधार पर शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य, पद्धति, पाठ्यक्रम आदि पर परिष्कृत गवेषणापूर्ण विवेचना गुम्फित है।

ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय 'शांकर-शिक्षा-दर्शन की पृष्ठभूमि' परक है। इसमें श्री शंकर के दिव्य जन्म-कर्मो का चित्रण मनोरम रीति से सम्पन्न है। इसके माध्यम से यह दर्शाया गया है कि अवैदिक शासन-तन्त्र की कुरीतियों और बौद्धिक दासताओं से देश को उन्मुक्त कर इसमें धर्म नियन्त्रित आध्यात्मिक शासन तन्त्र की स्थापना कर प्रजा को भगवद् भक्ति और भगवत्तत्त्व विज्ञान के उन्मुख करने का पूर्ण श्रेय श्री भगवत्पाद को प्राप्त है। इस अध्याय मे आचार्य शकर का प्रादुर्भाव 788 ई० में तथा लीला संवरण 820 ई० में माना गया है। यह नवीन विचारकों की अवधारणा है।[1] प्राञ्चो के अनुसार आचार्य का अवतरण काल ई० सन् और वि०सं० से भी वर्षो पूर्व सिद्ध होता है।[2]

प्रबन्धका तृतीय-अध्याय 'शंकराचार्य की दार्शनिक विचारधारा' है। लेखक ने दक्षतापूर्वक शाकर दर्शन को सूत्रित किया है। इसमें आचार्य द्वारा व्यावहारिक, प्राति भासिक और पारमार्थिक त्रिविध सत्ता की स्वीकृति का उल्लेख किया गया है। वस्तुत: 'सत्यस्य सत्यम्' (बृहदा० 2-3-6), 'न तत्र रथा:' (बृहदा० 4-3-10) एवं 'सदेव सत्यम्' ये श्रुतियाँ क्रमश: व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक त्रिविध सत्ता को सूचित करती हैं। इनके अनुसार ही आचार्य ने अधिकार एवं प्रसङ्गानुसार एक दो या तीन सत्ताओं का उल्लेख किया है। इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि ज्ञान प्राप्ति की योग्यता के सम्पादन हेतु आचार्य को निष्काम कर्म का महत्त्व मुक्तस्वरूप से मान्य है, यद्यपि मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है न कि

1. परम्परागत एवं प्राचीन अवधारणा को भी इसी स्थान पर विवेचित किया गया है।
2. 'युधिष्ठराब्दे 2631 वैशाख शुक्ल पञ्चम्यां श्रीमच्छंकरावतार:' (श्री शकर विजय मकरन्दे पृ० 40) = संवत् 2042, सन् 1985 से 2492 वर्ष पूर्व अर्थात् वि०सं० से 450 वर्ष और ई० सन् से 507 वर्ष पूर्व 2631वें युधिष्ठिराब्द में श्री शंकराचार्य का जन्म माना है। इस वर्ष कलि संवत्सर 5087 है, कलि सवंत्सर से 37 वर्ष पूर्व होने के कारण युधिष्ठिर संवत्सर इस वर्ष 5124 है।

कर्म और ज्ञान के सह समुच्चय से[1] इसी अध्याय में यह भी माना गया है कि प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत आचार्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को माना है। उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि शेष तीन प्रमाणों का पूर्व तीन प्रमाणों में अन्त-र्भाव करके यह कथन उपयुक्त परिलक्षित होता है। 'मीमांसा मानमेयोदय' के अनुसार भाट्ट-मीमांसकों को और 'वेदान्त परिभाषा के अनुसार शांकर मीमांसकों को पूर्वोक्त छः प्रमाण मान्य हैं। शांकर सम्प्रदाय में समादृत स्कन्दपुराणान्तर्गतमान्य विद्यारण्य स्वामिपाद के भाष्य से समलंकृत 'सूतसंहिता' में छः प्रमाणों का अनुपम प्रतिपादन द्रष्टव्य है।

ज्ञानस्य तेन सम्बन्धः प्रामाण्यं कथितं मया। प्रमाण ज्ञान सामग्र्यः वण्संथाऽ-भिहिता बुधाः। तत्रै का भाव विज्ञान सामग्री कथिता द्विजाः। अन्यातु भाव विज्ञान सामग्री परिकीर्तिता ॥ यद्योग्यानुपलब्ध्यैव जन्यं [illegible] । तत्यादभावविज्ञानं धार्मिका वेदवित्तमाः ॥ इन्द्रियोत्पन्न विज्ञानं प्रत्यक्षं परिभाषितम्। व्याप्तिजन्य परिज्ञान मनु मानमितीष्यते ॥ सादृश्यहेतुजं ज्ञानमुपमान मुदाहृतम्। अर्थापत्तिरिति प्रोक्तं विप्रा अनुपत्तिजम् ॥ तात्पर्योपेत शब्दोत्थज्ञानं शाब्दमुदाहृतम् ॥ (सूत संहिता 4 यज्ञवै० अध्याय 10/13/17½)।

ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में 'शिक्षा का स्वरूप' है। इसके अनुसार 'ज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्ति और निरावरण आत्मोपलब्धि' शिक्षा का फल है। इसी से व्यक्ति का परम कल्याण सम्भव है। व्यक्ति कल्याण ही समाज कल्याण का मूल है। गीतोक्त दैवीसंपत् सम्पन्न और मनुप्रोक्त वर्णाश्रमनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में अभ्युदय निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। 'अपराविद्या' अपराशिक्षा और 'पराविद्या' पराशिक्षा मान्य है। अपराविद्या से धर्माधर्म का ज्ञान होता है। धर्मनियन्त्रित अर्थ काम के सेवन से अभ्युदय की उपलब्धि होती है। पराशिक्षा से भगवद्भक्ति और भगवत्तत्त्व विज्ञान होता है। जिससे निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। शोध प्रबन्ध का पञ्चम अध्याय 'शिक्षा का उद्देश्य' है। मनुप्रोक्त प्राविधान के अनुसार द्विजातियों को गुरु-कुल-ऋषिकुल में रहकर वेदादि शास्त्रों का अनुशीलन करना चाहिये। शेषों को शिष्टों के सम्पर्क से सेवा एवं शिल्प आदि का बोध प्राप्त करना चाहिये। कन्याओं को सावित्री, सीता, अनुसूया, शवरी, मदालसा, द्रोपदी, उभय भारती, मीराबाई, लक्ष्मीबाई और कर्माबाई आदि के समान 'गृहशिक्षा' के माध्यम से सुशिक्षित करना

---

1. युक्तः सत्वशुद्धिज्ञान प्राप्ति सर्वकर्म संन्यास ज्ञाननिष्ठा क्रमेण नैष्ठिकीं शान्ति माप्नोति (गीता भाष्य 5-12) सर्वेपामात्मविज्ञानादेवमुक्तिर्न चान्यतः। ज्ञानादन्यत्सुराः सर्वविज्ञानस्यैव साधनम् ॥ (सूतसंहिता 3 मुक्ति० अ० 8/44)।

चाहिये। योगसिद्धि एवं विद्यासिद्धि के लिये यम-नियमादि का एवं विवेक वैराग्यादि का सेवन करना चाहिये। वैराग्य और समाधि की उपेक्षा कर जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की अभिव्यक्ति असम्भव है :—

अत्यन्त वैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढ़ प्रबोधः।
प्रबुद्धतत्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

(विवेकचूडामणि 376)

'सर्वात्मभाव की सिद्धि ही शिक्षा की पूर्ति है'[1] यह ध्यान रखना चाहिये। आत्मकल्याण से विमुख व्यक्ति की विद्वत्ता भुक्ति में भले ही हो, भक्ति और मुक्ति में उपयोगी कथमपि नहीं—'भुक्तये न तु मुक्तये' (विवेकचूडामणि 60)।

शोध-प्रबन्धका षष्ठ-अध्याय 'शांकर दर्शन मे शिक्षा-पद्धतियाँ' है इसमे श्रवण-मनन-निदिध्यासन और अध्यारोपापवाद की प्रक्रिया को मुख्य शिक्षा-पद्धति के रूप में लेखक ने स्वीकार किया है। यद्यपि उपनिषदों में ब्रह्मविद्या या पराविद्या मान्य है; तथापि अनुभव पर्यवसायी हुए बिना पराविद्या भी अपराविद्या ही मान्य है। यही कारण है कि छान्दोग्य श्रुति में देवर्षि नारद ने विविध विद्याओं के सहित वेद-वेदान्तों का अध्ययन कर चुकने पर भी स्वयं को केवल मन्त्रवित् और शोकग्रस्त ही बताया न कि अर्थवित् और शोकमुक्त आत्मवित्-सोऽहं भगवो मन्त्र विदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकंमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामितं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु (छान्दो० 7-1-3)।

आचार्य भगवत्पाद शंकर ने स्वयं ही अविद्या और उसके कार्यों को निवृत्त कर आत्मा को निरावरण ब्रह्म रूप अद्वितीय अवशिष्ट रखने वाली महावाक्य जन्य ब्रह्माकाराकारित मनोवृत्ति एवं तदवच्छिन्न चैतन्य को ही मुख्य उपनिषद् माना है;[2] क्योंकि उपनिषद् शब्द का अर्थ मुख्य रूप से उसी में चरितार्थ होता है। इस तरह

---

1. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ (मनु०12/85, 118)।
2. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययांतस्यरूपमिदंमु निषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासित-ग्रन्थ प्रतिपाद्यवेद्यवस्तु विषया विद्योच्यते।········अविद्यादि संसार हेतु विशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात् ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः आयुर्वैघृतमित्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते,ग्रन्थे तु भक्त्येति (कठो० संगति भाष्य)। द्रष्टव्य तैति० मनोमयकोश)।

उन्होंने 'शिक्षा अनुभूति पर्यवसायी हो' इस बात पर बहुत बल दिया है। इतना होने पर भी व्यवहारिक ज्ञान भी आचार्य की दृष्टि में उपेक्षणीय नही। आचार्य का मत है कि सर्प, कुशकन्टक, गर्त, अग्नि आदि का ज्ञान भी व्यक्ति को विविध अनर्थो से बचाता है; फिर भगवत्तत्त्व विज्ञान समस्त अनर्थो से बचाने में समर्थ है, इसमें कहना ही क्या ?[1] वस्तुत: वेदान्त दर्शन और वेदान्त शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र-'शिक्षा शास्त्र' ही समझने योग्य है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' (बृहदारण्यक 2-4-5, 4-5-6) इस श्रुति में श्रवण-मनन-निदिध्यासन और आत्मदर्शन का उद्‌बोधन ब्रह्मविद्या को अनुभूति पर्यवसायी बनाने के अभिप्राय से है। निदिध्यासन रूप 'भावना' यद्यपि प्रमाण नहीं; किन्तु स्वत: प्रकाश, प्रमाण लक्षित ब्रह्मात्मतत्व औपनिषद् होने के कारण ब्रह्मात्म-भावना 'विधुर परिभावित कान्ता साक्षात्कार' तुल्य नहीं, अर्थात् अप्रामाणिक नहीं। ब्रह्मसूत्र के 'समन्वय' नामक प्रथम-अध्याय, 'अविरोध' नामक द्वितीय-अध्याय, 'साधन' नामक तृतीय-और 'फल' नामक चतुर्थ-अध्याय क्रमश: ब्रह्मात्म तत्व के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और दर्शन के अभिप्राय से ही लिखे गये है। मानव-जीवन की प्रशंसा भी महानुभावों ने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' (बृहदारण्यकोपनिषद् 4-5-6) इस श्रुति के अनुसार ही की है। मानव जीवन में प्रामाणिक श्रवण-मनन-निदिध्यासन और दर्शन की नैसर्गिक योग्यता है। इसका उपयोग यदि केवल जीवन-यापन के लिये न होकर भगवत्तत्त्व के श्रवण-मननादि में हो तो व्यक्ति कृतार्थ हो जाय। 'अध्यारोपापवाद' की प्रक्रिया वेदान्त की सिद्ध प्रक्रिया है। कहा भी गया है—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'
'अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते'

(पञ्चदशी रामकृष्ण टीका 1-2, 6-1)

उक्त 'अध्यारोपापवाद' के अन्तर्गत ही पञ्चभूत विवेक, पञ्चकोश विवेक, त्रिदेह विवेक, प्रकृति-पुरुष विवेक आदि विविध प्रक्रियाओं का सन्निवेश है। ब्रह्मविद्या की इन विविध प्रक्रियाओं को ही वेदान्त की विविध विधाएँ या पद्धतियाँ भी कह सकते हैं। परमात्मतत्त्व की प्राप्ति में जिसका साक्षात् या परम्परा से भी उपयोग हो, वह प्रक्रिया शांकरदर्शन की शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत मान्य है। इसी अभिप्राय

---

1 सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्या: परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति चान्ये ज्ञाने फलं पश्य तथा विशिष्टम्॥
(महा० शान्ति० 201.16, गीता-शांकर भाष्य 13.2)

से भगवद्गीता में ध्यानयोग, साख्ययोग, कर्मयोग, आचार्योपासनयोग और अभ्यास-योग का प्रसङ्गानुसार परोवरीय क्रम से वर्णन है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा ॥
(गीता 13,24,25)

अथचित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयिस्थिरम् ।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥
(गीता 12,9)

प्रबन्धका सप्तम-अध्याय 'शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध' है । दोनों के समबन्धको प्राञ्जल-प्राञ्च ढग से प्रस्तुत करते हुए समयानुसार ढाला गया है । शोध के अष्टम-अध्याय में 'पाठ्यक्रम' की स्वस्थ रूपरेखा शाकरदर्शन के अनुसार प्रस्तुत की गयी है । नवम्-अध्याय मे 'उपसहार' की छटा भी शोभन शैली में प्रस्तुत की गयी है ।

इस ग्रंथ का अधिकारियों मे अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो, इसके योग से उत्तमोत्तम उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री प्राचार्यो का उद्भव हो, यह भावना है । लेखक के द्वारा समय-ममय पर उत्तमोत्तम ग्रंथ स्फुरित हों, यह भावना है ।

वेदान्तसिद्धान्त निरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेवमोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥[1]
(विवेकचूडामणि 479)

श्री निश्चलानन्द सरस्वती जी
श्री वृन्दावन (मथुरा)
उत्तर प्रदेश ।

आषाढ कृष्णात्रयोदशी सं० 2042
(10 जून, 1985)

---

1 "वेदान्त का सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है, उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्डरूप से स्थित रहना ही मोक्ष है । वह अद्वितीय है । इममें श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।"

॥ श्री हरिः ॥

शुभाशंसा

अन्नत श्री विभूषित पुरी पीठाधीश्वर परमहंस परिव्राजकाचार्य

स्वामी श्री निरञ्जनदेवतीर्थ शंकराचार्य जी महाराज

भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य का समय पाश्चात्य और तदनुयायी आठवीं-नवीं शताब्दी मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा अशुद्ध है। क्योंकि सातवीं-आठवीं शताब्दी में बौद्धों का इतना प्राबल्य नहीं था, उनका प्रभाव समाप्त हो गया था। इसलिये आचार्य पाद की आवश्यकता नहीं थी। प्रमाणिक इतिहास के अनुसार भट्टपाद ने ही बौद्धों का प्रभाव नष्ट कर दिया था। फलस्वरूप मीमांसकों का प्राबल्य हो गया था। उसे अधिकारानुसार व्यवस्थित कर अद्वैत की पुनः प्रतिष्ठा करना, यही भगवत्पाद का मुख्य कार्य था और तत्कालीन वेद विरूद्ध कापालिकादि सम्पूर्ण मतों का निरास [illegible] था। स्वयं सम्राट् अशोक के बौद्ध बन जाने पर बौद्धों का प्रभाव चरम सीमा पर पहुँच गया था। उस समय कुमारिल भट्ट और भगवत्पाद की आवश्यकता थी। दोनों सम-सामयिक थे। भट्टपाद के निर्वाण के समय भगवत्पाद पहुँच गये थे, यह इतिहास सिद्ध है। अशोक का समय ईसा से दूसरी या तीसरी शती (सदी) पूर्व माना जाता है। उसके बाद आवश्यकतानुसार भट्टपाद और भगवत्पाद का प्राकट्य मानना उचित है। गोवर्द्धन मठ पुरी में वर्तमान जगद्गुरू की संख्या 144 है। पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष एक-एक आचार्य का काल मानने पर $144 \times 15 = 2160$ वर्ष पूर्व भगवत्पाद का प्राकट्य सिद्ध होता है। 'मठाम्नाय महानुशासन' और 'शिवरहस्य' के 'कलौ द्विसहस्रान्ते' इस वचन के अनुसार कलियुग के दो हजार और तीन हजार वर्ष के बीच में शंकर भगवत्पाद का प्राकट्य काल सिद्ध होता है। जो कि आज से 'कलि सं०' $5087 - 3000 = 2086$ वर्ष और ई० सन् से $2087 - 1985 = 102$ वर्ष पूर्व ही सिद्ध होता है।

यदि भगवत्पाद का अवतार इसके बाद का होता तो 'कलौ भि सहस्रान्ते' अथवा 'चतुः सहस्रान्ते' लिखा होता। इसलिये ईसा पूर्व लगभग दूसरी या तीसरी शती (सदी) भगवत्पाद का समय समझना चाहिये। साथ ही उनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को भी उनकी ही कृति माननी चाहिये।

डॉ० भीष्म दत्त शर्मा जी द्वारा विरचित 'महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य' नामक 'शोध-प्रबंध' का उक्त दृष्टि से अनुशीलन कर विद्वान विचारक भगवान् श्री चन्द्र मौलीश्वर की अनुकम्पा से प्रमुदित हों।

अधिक श्रावण शुक्ल

—निरंजनदेव तीर्थ

॥ श्री हरिः ॥

अनन्त श्री विभूषित श्री जगद्गुरु शकराचार्य द्वारिका एवं ज्योतिष्पीठाधीश्वर
श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज
ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम) हिमालय

डॉ० भीष्मदत्त शर्मा द्वारा लिखित शंकराचार्य का शिक्षा-दर्शन नामक शोध-प्रबन्ध पढ़कर प्रसन्नता हुई। निश्चय ही इस प्रबन्ध से मानव-जाति के अलंकार-भूत धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना के द्वारा आधुनिक भौतिक-समृद्धि जन्य दोषों के निराकरण में महत्त्व-पूर्ण सहायता मिलेगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध में शिक्षा के सभी पहलुओं के प्रति भगवान् शंकराचार्य के दृष्टिकोण का समुचित एवं प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

वर्तमान अध्ययन जगद्गुरु शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन तक सीमित है। हम विद्वान् लेखक के इन विचारों से सहमत हैं कि आचार्य शंकर के शैक्षिक विचारों से सम्बद्ध ऐसे महत्त्व-पूर्ण क्षेत्र हैं जिनमें शोध-कार्य की लोक-हित के लिये नितान्त आवश्यकता है।

श्री शर्मा जी के शोध-प्रबन्ध से सन्तुष्टान्तरङ्ग होकर इसके प्रसार-प्रचार की शुभाशंसा प्रकट करते हुये इस पवित्र-कार्य के लिये इनके उत्साह को देखकर इनका अभिवर्धन करते हैं।

—स्वरूपानन्द सरस्वती

डॉ० एस० पी० चौबे,
भूतपूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर,
शिक्षा विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर,

यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई कि आपका शोध प्रबन्ध शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। देश के शिक्षा जगत् हेतु यह अनुपम देन होगी।

अनेक शुभ कामनाओं के साथ और सस्नेह।

—एस० पी० चौबे

●

डॉ० राम शकल पाण्डेय,
प्रोफेसर, शिक्षा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि मेरे निर्देशन में सम्पादित शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन होने जा रहा है। इस शोध-ग्रन्थ में आपने जगद्गुरु श्री शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन का सांगोपांग विवेचन किया है। आप स्वयं संस्कृत एवं दर्शन के विद्वान् हैं। आपने जिस लग्न, उत्साह, विद्वत्ता, कठोर परिश्रम एवं जागरुकता से शोधकार्य किया था, वह मुझे अभी तक स्मरण है। आपने मुझे निर्देशन का अवसर देकर गौरवान्वित किया है। मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर आपको मंगल कामना भेज रहा हूँ।

—राम शकल पाण्डेय

डॉ० राम नाथ शर्मा
M.A., D. Phil. (Alld.), D. Litt. (Meerut),
Reader & Head of the Deptt.,
Meerut College, Meerut.

'अर्चना' सिविल लाईन
मेरठ शहर

पाश्चात्य शिक्षा दर्शन के विकल्प नहीं तो पूरक के रूप में भारतीय शिक्षा दर्शन का अपना एक विशिष्ट स्थान है। समकालीन भारतीय शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में पिछले दशक मे कुछ शोध ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। **इसके प्राच्य मूल स्रोत को** समझने के लिये प्राचीन भारतीय शिक्षा दर्शन को जानना आवश्यक है। किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कम शोध-कार्य हुआ है। डा० भीष्म दत्त शर्मा ने श्री शंकराचार्य के शिक्षा दर्शन को व्यवस्थित रूप से उपस्थित करके इसी कमी को पूरा किया है। पुस्तक प्रामाणिक **स्रोतों पर** आधारित है। पुस्तक की भाषा शुद्ध, प्रवाहमय, किन्तु सरल है। आशा है कि इस पुस्तक का शिक्षा एवं दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में भारी स्वागत होगा और यह प्राचीन भारतीय शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त करेगी।

—राम नाथ शर्मा
अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद्

शंकराचार्य अनन्त श्री स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज

॥ श्री हरिः ॥

आमुख

आत्मेप्सितार्थसिद्धयर्थं संस्तुतो यः सुरादिभिः ।
अविघ्नं ग्रंथसम्पूर्त्यै तं नमामि गजाननम् ॥१॥

यत्कृपा लवमात्रेण मूको भवति पंडितः ।
वेदशास्त्र शरीरां तां वाणीं वीणाकरां भजे ॥२॥

नित्यानन्दं निराधारं निखिलाधारमव्ययम् ।
निगमाद्यगतं नित्यं नीलकंठं नमाम्यहम् ॥३॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा ।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥४॥

शंकरं शंकराचार्यं सद्गुरुं शंकरं स्वयम् ।
शंकरं सच्चिदानन्दं स्वात्मानं संस्मराम्यहम् ॥५॥

वर्तमान युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति परिलक्षित होती है किन्तु कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनमें प्रगति की गति अत्यन्त मंद है, उदाहरणार्थ शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि अनुसंधान-कार्य में प्रगति हुई है और अनुसंधान की प्रविधियों एवं उपकरणों के विकास में अभूतपूर्व क्रांति का सूत्रपात हुआ है तथापि दार्शनिक मान्यताओं, आध्यात्मिक एवं धार्मिक आस्थाओं, जीवन-मूल्यों तथा शैक्षिक आदर्शों के क्षेत्र में अनुसंधान के प्रति शोधकर्त्ताओं की रूचि बहुत कम रह गई है। वस्तुतः इसीलिये आजकल शोध कार्य प्रायः एकांगी एवं सीमित लक्ष्य की पूर्ति करते हुए प्रतीत होते हैं। हम सभी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि आध्यात्मिक एवं धार्मिक संस्कारों से शून्य, सत्यविहीन, दिशाहीन तथा निम्न कोटि के मूल्यों को प्रश्रय देने वाली शिक्षा अपने नाम (शिक्षा) को भी सार्थक नहीं कर पाती है। यही कारण है कि आज के शिक्षा जगत् में विचित्र प्रकार की बेचैनी और हलचल सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

शिक्षा में मूल्यों, आदर्शो तथा मान्यताओं की स्थापना का प्रश्न इसी युग का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न तो चिरकाल से मानव के सम्मुख महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीलिये हर युग के ऋषि-मुनि, विद्वान्, आचार्य तथा संत-महात्मा आदि इस प्रश्न के उत्तर-गवेषण में प्रयत्नशील रहे हैं। जिन महान् आचार्यों, शिक्षाविदों तथा विचारकों तथा मनीषियों ने इस महान् प्रश्न के उत्तर को खोजने का प्रयास किया है उनमें आद्य जगद्गुरु भगवान् श्री शंकराचार्य जी महाराज का नाम अग्रगण्य है। उन्हें भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म एव संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि माना जाता है। विदेशों में तो शंकराचार्य के भारत को ही विद्वान् वास्तविक भारत मानते है।

आचार्य शंकर के चिन्तन ने भारतीय जन-जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। शिक्षा भला इस प्रभाव से कैसे अछूती रहती ? आधुनिक शब्दावली में उनके महान् कार्य की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि देश के चारों कोनों में चार धर्मपीठों की केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के रूप में स्थापना करके और सम्पूर्ण राष्ट्र को इन पीठों की परिधि में समेटकर स्वामी शकराचार्य ने शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा अद्भुत कार्य कर दिखाया जो विश्व के इतिहास मे अतुलनीय है। ऐसे अद्वितीय शिक्षाशास्त्री के शिक्षा-दर्शन पर अनुसन्धान कार्य करने में अब तक शिक्षा के शोध-कर्त्ताओं का रुचि न दिखाना बड़ी भारी विडम्बना है। इससे आचार्य शंकर के शिक्षा दार्शनिक होने पर तो आँच नहीं आती है वरन् शैक्षिक अनुसन्धान के शैशव काल का ही बोध होता है।

मैंने भगवान् शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन के अध्ययन को केवल उचित ही नहीं अपितु आधुनिक युग मे शिक्षा के लिये आवश्यक समझा है। विगत २५ वर्षो से शिक्षा एवं संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में रहने, परमपूज्य जगद्गुरू शंकराचार्य श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज तथा धर्मसम्राट् श्री स्वामी करपात्री जी महाराज सदृश आध्यात्मिक विभूतियों के मार्ग दर्शन मे रहकर कार्य करने, आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य के ग्रन्थों के अनुशीलन करने तथा वेदान्त वाङ्मय के स्वाध्याय करने एव इस अध्ययन के आधार पर आचार्य शंकर को महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करने की आन्तरिक प्रेरणा का मुझ मे उद्भव हुआ। मेरठ विश्वविद्यालय का मैं हार्दिक आभारी हूँ कि उसने इस प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर प्रदान किया।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में शिक्षा और दर्शन के घनिष्ठ सम्बंधों की विवेचना करते हुए अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व, शांकर दर्शन से सम्बंधित पूर्व अध्ययनों की मीमांसा, अध्ययन के उद्देश्य, परिसीमन और शोधविधि को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में आचार्य शंकर का जीवन परिचय, उनका साहित्य तथा उनके दर्शन की ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक,

सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमियों की विवेचना की गई है। तृतीय अध्याय में उनकी दार्शनिक विचारधारा के अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, जगत् तथा मोक्ष सम्बंधी विवेचन के साथ उनकी आचार मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को भी प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा के अर्थ, महत्त्व तथा आवश्यकता. इसका जीवन से सम्बन्ध और इसके भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय मे शांकर शिक्षा के उद्देश्यों एवं मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ अध्याय में उनके शिक्षा दर्शन में प्रतिपादित विभिन्न प्रकार की शिक्षा पद्धतियों (श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि) की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। सप्तम अध्याय में गुरू तथा शिष्य की संकल्पना और दोनों के परस्पर सम्वन्धों की मीमांसा प्रस्तुत की गई है। अष्टम अध्याय का निर्धारण शांकर शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिये किया गया है। इस अध्याय में प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक इन त्रिविध सत्ताओं के आधार पर पाठ्यक्रम की विवेचना की गई है। नवम अध्याय अध्ययन के उपसंहार के लिये है। इसमें भगवान् शंकराचार्य को महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके शिक्षा दर्शन का आधुनिक संदर्भ में मूल्यांकन किया गया है। अन्त में अध्ययन के निष्कर्षों पर भी प्रकाश डाला गया है।

आद्य जगद्गुरू भगवान् शंकराचार्य तो इस शोध ग्रन्थ के सर्वस्व ही है। उन्हीं के ग्रन्थरत्नों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से मुझ में इस गुरुतम किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य को करने की क्षमता का विकास हुआ है। आचार्य शंकर की इस महती कृपा के लिये उनका आभार व्यक्त करने में अपनी वाणी को मैं असमर्थ पा रहा हूँ। फिर भी उनके चरण कमलों में, श्रद्धावनत होकर मैं स्वयं को कृतकृत्य अनुभव कर रहा हूँ। भगवान् शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित आचार्य परम्परा के अलंकार-स्वरूप ज्योतिष्पीठ के ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज की सतत् प्रेरणा, असीम अनुकम्पा तथा अमोघ आशीर्वाद से शाकर दर्शन को हृदयंगम करने में जिस क्षमता का मुझमे विकास हुआ है उसके लिये आचार्य चरणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना मै अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

भारत के ही नहीं अपितु विश्व के मूर्धन्य विद्वान्, संन्यासियों में शिरोमणि, धर्मसम्राट् तथा वेदोद्धारक श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने वाराणसी में अपने अमूल्य समय में दीर्घकालिक तथा व्यापक साक्षात्कार देने में जिस उदारता एवं आत्मीयता का परिचय दिया था उसी के फलस्वरूप शांकरदर्शन के गम्भीर तत्त्वों के समझने में अवर्णनीय सफलता मिली। गोवर्धनपीठ के सम्प्रति जगद्गुरु शंकराचार्य श्रद्धेय स्वामी निरंजनदेवतीर्थ जी महाराज की विद्वत्ता, अनुसन्धान-प्रियता तथा अध्ययनशीलता सर्वविदित ही है। मेरे पत्र व्यवहार के उत्तर में उन्होंने अनुग्रहपूर्वक जो विषय सामग्री

शिक्षा में मूल्यों, आदर्शो तथा मान्यताओं की स्थापना का प्रश्न इसी युग का प्रश्न नही है। यह प्रश्न तो चिरकाल से मानव के सम्मुख महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीलिये हर युग के ऋषि-मुनि, विद्वान्, आचार्य तथा संत-महात्मा आदि इस प्रश्न के उत्तर-गवेषण में प्रयत्नशील रहे हैं। जिन महान् आचार्यो, शिक्षाविदों तथा विचारकों तथा मनीषियों ने इस महान् प्रश्न के उत्तर को खोजने का प्रयास किया है उनमें आद्य जगद्गुरु भगवान् श्री शंकराचार्य जी महाराज का नाम अग्रगण्य है। उन्हें भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म एव संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि माना जाता है। विदेशों में तो शंकराचार्य के भारत को ही विद्वान् वास्तविक भारत मानते है।

आचार्य शंकर के चिन्तन ने भारतीय जन-जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। शिक्षा भला इस प्रभाव से कैसे अछूती रहती ? आधुनिक शब्दावली में उनके महान् कार्य की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि देश के चारों कोनों में चार धर्मपीठों की केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के रूप में स्थापना करके और सम्पूर्ण राष्ट्र को इन पीठों की परिधि में समेटकर स्वामी शंकराचार्य ने शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा अद्भुत कार्य कर दिखाया जो विश्व के इतिहास में अतुलनीय है। ऐसे अद्वितीय शिक्षाशास्त्री के शिक्षा-दर्शन पर अनुसन्धान कार्य करने में अब तक शिक्षा के शोध-कर्त्ताओं का रुचि न दिखाना बड़ी भारी विडम्बना है। इससे आचार्य शंकर के शिक्षा दार्शनिक होने पर तो आँच नहीं आती है वरन् शैक्षिक अनुसन्धान के शैशव काल का ही बोध होता है।

मैने भगवान् शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन के अध्ययन को केवल उचित ही नहीं अपितु आधुनिक युग मे शिक्षा के लिये आवश्यक समझा है। विगत २५ वर्षो से शिक्षा एवं संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में रहने, परमपूज्य जगद्गुरू शंकराचार्य श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज तथा धर्मसम्राट् श्री स्वामी करपात्री जी महाराज सदृश आध्यात्मिक विभूतियों के मार्ग दर्शन में रहकर कार्य करने, आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य के ग्रन्थों के अनुशीलन करने तथा वेदान्त वाङ्मय के स्वाध्याय करने एव इस अध्ययन के आधार पर आचार्य शंकर को महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करने की आन्तरिक प्रेरणा का मुझ में उद्भव हुआ। मेरठ विश्वविद्यालय का मैं हार्दिक आभारी हूँ कि उसने इस प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर प्रदान किया।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में शिक्षा और दर्शन के घनिष्ठ सम्बंधों की विवेचना करते हुए अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व, शांकर दर्शन से सम्बंधित पूर्व अध्ययनों की मीमांसा, अध्ययन के उद्देश्य, परिसीमन और शोधविधि को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में आचार्य शंकर का जीवन परिचय, उनका साहित्य तथा उनके दर्शन की ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक,

सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमियों की विवेचना की गई है। तृतीय अध्याय में उनकी दार्शनिक विचारधारा के अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, जगत् तथा मोक्ष सम्बंधी विवेचन के साथ उनकी आचार मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को भी प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा के अर्थ, महत्त्व तथा आवश्यकता. इसका जीवन से सम्बन्ध और इसके भेदों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय मे शांकर शिक्षा के उद्देश्यों एवं मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ अध्याय में उनके शिक्षा दर्शन में प्रतिपादित विभिन्न प्रकार की शिक्षा पद्धतियों (श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि) की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। सप्तम अध्याय में गुरू तथा शिष्य की संकल्पना और दोनों के परस्पर सम्बन्धों की मीमांसा प्रस्तुत की गई है। अष्टम अध्याय का निर्धारण शांकर शिक्षा के पाठ्यक्रम के लिये किया गया है। इस अध्याय में प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक इन त्रिविध सत्ताओं के आधार पर पाठ्यक्रम की विवेचना की गई है। नवम अध्याय अध्ययन के उपसंहार के लिये है। इसमें भगवान् शंकराचार्य को महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके शिक्षा दर्शन का आधुनिक संदर्भ में मूल्यांकन किया गया है। अन्त में अध्ययन के निष्कर्षो पर भी प्रकाश डाला गया है।

आद्य जगद्गुरू भगवान् शंकराचार्य तो इस शोध ग्रन्थ के सर्वस्व ही हैं। उन्हीं के ग्रन्थरत्नों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से मुझ में इस गुरुतम किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य को करने की क्षमता का विकास हुआ है। आचार्य शंकर की इस महती कृपा के लिये उनका आभार व्यक्त करने में अपनी वाणी को मैं असमर्थ पा रहा हूँ। फिर भी उनके चरण कमलों में, श्रद्धावनत होकर मैं स्वयं को कृतकृत्य अनुभव कर रहा हूँ। भगवान् शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित आचार्य परम्परा के अलंकार-स्वरूप ज्योतिष्पीठ के ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज की सतत् प्रेरणा, असीम अनुकम्पा तथा अमोघ आशीर्वाद से शांकर दर्शन को हृदयंगम करने में जिस क्षमता का मुझमें विकास हुआ है उसके लिये आचार्य चरणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना मै अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

भारत के ही नहीं अपितु विश्व के मूर्धन्य विद्वान्, संन्यासियों में शिरोमणि, धर्मसम्राट् तथा वेदोद्धारक श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने वाराणसी में अपने अमूल्य समय में दीर्घकालिक तथा व्यापक साक्षात्कार देने में जिस उदारता एवं आत्मीयता का परिचय दिया था उसी के फलस्वरूप शांकरदर्शन के गम्भीर तत्त्वों के समझने में अवर्णनीय सफलता मिली। गोवर्धनपीठ के सम्प्रति जगद्गुरु शंकराचार्य श्रद्धेय स्वामी निरंजनदेवतीर्थ जी महाराज की विद्वत्ता, अनुसन्धान-प्रियता तथा अध्ययनशीलता सर्वविदित ही है। मेरे पत्र व्यवहार के उत्तर में उन्होंने अनुग्रहपूर्वक जो विषय सामग्री

लिखकर भेजी है उनसे शांकर शिक्षा-दर्शन के गहन तत्वों के अवबोधन में स्तुत्य सहायता मिली है। अनुसन्धान कार्य को प्रोत्साहित करने के लिये द्वारिका एवं ज्योतिष्पीठ के वर्तमान् जगद्गुरू शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज ने कृपापूर्वक मुझे साक्षात्कार के लिये अपना जो अमूल्य समय दिया है उससे दार्शनिक एवं शैक्षिक तथ्यों के समझने में आशातीत सफलता मिली है। इसके लिये इन पूजनीय आचार्यो का मैं हृदय से आभारी हूँ।

मेरी प्रार्थना पर स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज (वृन्दावन) ने इस ग्रंथ का 'पुरोवाक्' लिखकर जिस महती उदारता का परिचय दिया है उसके लिये मैं पूज्य स्वामी जी का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। स्वामी श्री माधवाश्रम जी महाराज (दिल्ली), स्वामी श्री चिन्मयानंद सरस्वती जी महाराज (वृन्दावन) तथा स्वामी श्री हरिबोधाश्रम जी महाराज (मेरठ) का भी मैं उनके सहयोग के लिये अनुगृहीत हूँ।

श्रद्धेय डॉ० राम शकल पाण्डेय (प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्व-विद्यालय, इलाहाबाद) के असीम अनुग्रह एवम् आशीर्वाद का फल है कि प्रस्तुत शोध ग्रंथ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर सका है। उन्हीं के स्तुत्य एवं कुशल निर्देशन में यह जटिल तथा गुरुतर कार्य सम्पन्न हो सका है। डॉ० राम नाथ शर्मा (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ,) ने अपने कुशल मार्ग दर्शन में इस ग्रंथ को तैयार कराने तथा समय-समय पर जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में जिस उदारता एवं सहृदयया का परिचय दिया है, वस्तुत: वह अविस्मरणीय है। डॉ० के० जी० शर्मा (रीडर, शिक्षा विभाग, उच्च अध्ययन संस्थान, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ) के सफल निर्देशन एवम् कुशल पथ प्रदर्शन का प्रतिफलन ही इस गम्भीर शोध कार्य की पूर्णता के रूप में हुआ है। श्रद्धेय डॉ० एस० पी० चौबे (भूतपूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर) ने मुझे प्रोत्साहन देने के लिये समय-समय पर जो आशीर्वाद तथा प्रेरणाएँ दी है उनके अभाव मे इस ग्रंथ का प्रकाशन कठिन ही था। इन सभी महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ में उल्लिखित उन सभी ग्रंथकारों, विद्वान् लेखकों तथा शिक्षा विचारकों के प्रति अपना आभार व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता हूँ जिनके ग्रंथों, लेखों एवम् विचारों के आधार पर यह ग्रंथ पूर्णता को प्राप्त हुआ है। डॉ० जी०एस० शर्मा-प्रवक्ता शिक्षा विभाग, एन० ए० एस० कॉलिज, मेरठ, श्री हरिश्चंद्र जी प्रवक्ता, एस० डी० इंटर कालिज, कंकर खेड़ा तथा अन्य वे सभी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इस कार्य के लिये अपना सहयोग प्रदान किया है। इस ग्रंथ के प्रकाशन का बहुत कुछ श्रेय श्री कैलाश मित्थल

अनु प्रकाशन, मेरठ को है जिनके कठिन परिश्रम, लगन और आत्मीयता से यह कार्य पूर्ण हो पाया है। इसके लिये वह साधुवाद के पात्र है। पीयूष प्रिंटर्स के व्यवस्थापक श्री प्रभात कुमार जी ने मुद्रण कार्य का इतनी तत्परता एवम् कुशलता से सम्पादन किया है कि उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह पा रहा हूँ, इस सहयोग के लिये मैं हृदय से उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस शृंखला मे मै अपनी धर्म पत्नी श्रीमती सुशीला रानी शर्मा, उप.बालिका विद्यालय निरीक्षिका, गाजियाबाद को उनके सहयोग के लिये धन्यवाद देने का मोह सवरण नही कर पा रहा हूँ। इतिहास मे निष्णात श्रीमती शर्मा ने भगवान् शंकराचार्य के ऐतिहासिक पक्ष को समझने मे जो सहयोग दिया है वह आभार की अपेक्षा रखता है। स्वात्मज चि० अनुराग शर्मा, आशुतोष शर्मा तथा पीयूष शर्मा का भी इस अवसर पर स्मरण होना स्वाभाविक ही है। ये मेरे अपने है और इन्होंने इस ग्रंथ की पूर्णता में अपना जो अपनत्व दिखाया है उसके लिये इनके प्रत्येक शुभ की कामना करता हूँ। इस ग्रंथ के गुरुतर भार को वहन करने के योग्य होने की क्षमता प्रदान करने का पूर्ण श्रेय पूज्यपाद पिताजी एवम् स्व० माता जी को है। उनका तो आजीवन ऋणी हूँ ही। अन्त में जगदीश्वर परमेश्वर का बारम्बार स्मरण करता हूँ जिनकी कृपा से मुझे अच्छा स्वास्थ्य, सामर्थ्य एवम् सभी प्रकार का सुख-सौविध्य प्रचुर मात्रा में मिलता रहा। विज्ञ पाठकों को धन्यवाद न देना मेरी कृतघ्नता होगी यदि वे इस ग्रन्थ के अध्ययन से शिक्षा जगत् में व्याप्त जड़ता, असंतोष, कर्त्तव्य विमुखता तथा अनुशासनहीनता को दूर करने में थोड़ा भी सहयोग दे सके तो मै अपने इस प्रयास को सफल समझूंगा।

विनयावनत :

डॉ० भीष्म दत्त शर्मा,

प्राध्यापक, शिक्षा विभाग,

एन० ए० एस० कॉलिज,

मेरठ (उत्तर प्रदेश)

अधिक श्रावण शुक्ला षष्ठी, सं० 2042

(23 जुलाई, 1985)

विषय-सूची

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
1. प्रस्तावना		**1–36**
	1. शिक्षा और दर्शन	1
	2. अध्ययन की आवश्यकता और महत्त्व	10
	3. अध्ययन सम्बन्धी पूर्व अध्ययनो का मूल्यांकन	19
	4. अध्ययन के उद्देश्य	24
	5. अध्ययन में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों का परिभाषिकरण	26
	6. अध्ययन का परिसीमन	30
	7. शोधविधि का विहङ्गम प्रस्ताविकरण	33
2. शाङ्कर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठभूमियाँ		**37–72**
	1. शंकराचार्य का जीवन-परिचय	37
	2. शांकर साहित्य	48
	3. शंकराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन	54
	4- शांकर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठभूमियाँ	60
	ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	61
	धार्मिक पृष्ठभूमि	63
	दार्शनिक पृष्ठभूमि	65
	सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	67
	सामाजिक पृष्ठभूमि	69
3. शंकराचार्य की दार्शनिक विधारधारा		**73–102**
	1. ब्रह्म विचार	75
	2. आत्मा का विचार	80
	3. जगत्-विचार	86
	4. मोक्ष-विचार	93
	5. आचार मीमांसा	95
	6. प्रमाण मीमांसा	98
4. शिक्षा का स्वरूप		**103–126**
	1. शिक्षा की परिभाषा	105

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
	2. शिक्षा के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण	105
	3. शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण	107
	4. आचार्य शंकर का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण	109
	5. शिक्षा का महत्त्व एवं आवश्यकता	115
	6. शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध	118
	7. शिक्षा के प्रकार	120
	8. आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा का वर्गीकरण	124
5. शिक्षा के उद्देश्य एव मूल्य		**127–150**
	1. पाश्चात्य दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य	130
	2. भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य	133
	3. शांकर शिक्षा के उद्देश्य	133
	4. आत्मानात्म विवेक	134
	5. ब्रह्मनिष्ठा	136
	6. आत्मनिष्ठा	138
	7. अद्वैत भावना	140
	8. धार्मिक भावना	142
	9. वैराग्यमूलक जीवन	143
	10 मोक्ष-प्राप्ति	145
	11. आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षा के मूल्य	147
6. शिक्षा-पद्धतियाँ		**151–177**
	1. पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा पद्धतियाँ	152
	2. आदर्शवाद तथा शिक्षण विधियाँ	152
	3. प्रकृतिवाद तथा शिक्षण विधियाँ	154
	4. यथार्थवाद तथा शिक्षण विधियाँ	155
	5. व्यवहारवाद तथा शिक्षण विधियाँ	156
	6. भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा पद्धतियाँ	157
	7. शंकराचार्य तथा शिक्षण पद्धतियाँ	160
	8. शांकर ज्ञान मीमांसा	161
	9 शंकराचार्य के अनुसार शिक्षण विधियाँ	162
	10. श्रवण विधि	163
	11. मनन विधि	164
	12. निदिध्यासन विधि	166

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
	13. प्रश्नोत्तर विधि	167
	14. तर्क विधि	169
	15. व्याख्या विधि	170
	16. अध्यारोप-अपवाद विधि	171
	17. दृष्टान्त (उदाहरण) विधि	172
	18. कथा-कथन विधि	174
	19. उपदेश विधि	175
7. शिक्षक-शिक्षार्थी		**178–203**
	1. शिक्षक-शिक्षार्थी के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण	179
	2. शिक्षक-शिक्षार्थी के प्रति भारतीय दृष्टिकोण	184
	3. आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षक-शिक्षार्थी	186
	4. शिक्षक (गुरु)	186
	5 शिक्षक की योग्यताएँ	188
	6. शिक्षक के कार्य	189
	7. शिक्षार्थी (शिष्य)	191
	8. छात्र की योग्यताएँ	194
	9. छात्र के कार्य तथा कर्तव्य	196
	10. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध	199
	11. आचार्य शंकर की दृष्टि में अनुशासन	200
8. पाठ्यक्रम		**204–234**
	1. प्राचीन आश्रम व्यवस्था	205
	2. पाठ्यक्रम का स्वरूप	208
	3. पाठ्यक्रम के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण	208
	4. पाठ्यक्रम के प्रति भारतीय दृष्टिकोण	212
	5. आचार्य शंकर की दृष्टि में पाठ्यक्रम	217
	6. व्यावहारिक दृष्टि से पाठ्य विषयों का निर्धारण	222
	7. प्रस्थानत्रयी का अध्ययन	225
	8. धर्मशास्त्रों का अध्ययन	228
	9. अध्ययन-क्रम	228
	10. पारमार्थिक दृष्टि से विषय-निरूपण	229
	11. पाठ्य सहगामी क्रियाएँ	231

अध्याय विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
9. उपसंहार	**235–277**
1. स्वामी शंकराचार्य एक महान् शिक्षा दार्शनिक	236
2. आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन	245
3. अध्ययन के निष्कर्ष	258
4 भावी शोधकार्य हेतु सुझाव	275
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :	**278–289**
परिशिष्ट संख्या 1— स्वामी करपात्री जी से साक्षात्कार का विवरण	290
परिशिष्ट संख्या 2— ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य स्वामी स्वारूपानन्द जी के साक्षात्कार का विवरण	293
परिशिष्ट संख्या 3 तथा 4 गोवर्धन (पुरी) पीठ के शंकराचार्य स्वामी निरन्जनदेव तीर्थ जी के पत्र	297–298

चित्र सूची :

1 भगवान अद्य श्री शकराचार्य जी महाराज,

2. जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त श्री स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज,

3. यनिवक्र चूडामणि अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज,

प्रस्तावना

अज्ञोऽप्यश्रुतशास्त्राण्याशु किल व्याकरोति यत्कृपया ।
निखिलकलाधिपमनिशं तमहं प्रणमामि शंकराचार्यम् ।।[1]
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास् तथा स्यां वीर्यवत्तरा ।।[2]
वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिक संसारदुख नाशो भवत्यनु ।।[3]

शिक्षा और दर्शन :

भारतवर्ष में ऐसे सन्तों, ऋषियों तथा मुनियों एवं समाज सुधारकों की विशिष्ट परम्परा रही है जिन्होंने अपने देश की शिक्षा के लिए ही नहीं वरन् विश्वशिक्षा हेतु बहुत कुछ किया है। याज्ञवल्क्य, गौतम बुद्ध, जगद्गुरु शंकराचार्य, महात्मा तुलसीदास, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगौर, अरविन्द घोष, बाल गंगाधर तिलक तथा महात्मा गाँधी आदि महापुरुषो का स्थान ऐसे मनीषियों में महत्वपूर्ण माना जाता है जिन्होंने अपने जीवन काल में समस्त राष्ट्र का नेतृत्व किया है किन्तु आचार्य शंकर की अवतारणा भारतीय इतिहास की ऐसी महत्वपूर्ण घटना है जिसने भारतीय लोक-मानस को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जगद्गुरु भगवान् आचार्य शंकर के जीवन और कर्त्तव्य से, तेजस्वी प्रतिभा और अद्भुत एवं अलौकिक नेतृत्व शक्ति से समस्त

---

1. 'श्री शंकरस्तुतिः' "श्री शंकराचार्य" हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद। जिनकी कृपा से, अज्ञानी होकर भी व्यक्ति शीघ्र अपठित शास्त्रों को स्पष्ट कर लेता है, उन समस्त कलाओं के स्वामी शंकराचार्य को मै प्रणाम करता हूँ।
2. विद्या ब्राह्मण के पास जाकर कहने लगी कि मै तो तेरा कोष हूँ। मेरी रक्षा करो। मुझे निन्दक-ईर्ष्यालु शिष्य को न दीजिए। तभी मैं बलवती होऊँगी। मनुस्मृति (2–114)।
3. श्री शंकराचार्य-विवेक-चूडामणि, गीता-प्रेस, गोरखपुर।
वेदान्त-वाक्यों के अर्थ का विचार करने से उत्तम ज्ञान होता है, जिससे फिर संसार-दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।

भारतीय जन-जीवन प्रकाशमान हो उठा था और वही प्रकाश आज भी उसको मार्ग दिखला रहा है।[1] उन्होंने अपने ग्रन्थों में समग्र जीवन-दर्शन की प्रस्थापना की है ? उनका अद्वैतवाद केवल क्या दर्शन, धर्म तथा संन्यास की जिज्ञासा को शान्त करता है अथवा उसमें किसी प्रकार के शिक्षा दर्शन की उपलब्धि भी होती है ? इस प्रश्न का निराकरण तब तक नहीं हो सकता है, जब तक हम शिक्षा और दर्शन के सम्बन्ध को भली-भाँति नहीं समझ लेते है। इसीलिए राबर्ट आर० रस्क की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध है, "उन महान् शिक्षकों, जो कि महान् दार्शनिक भी है, के सिद्धान्तों का एक आलेख्य पहलू अपने दार्शनिक विचारो का विकास तथा प्रत्यावर्तन अपनी शैक्षिक योजनाओं मे अथवा अपने युग की शिक्षा व्यवस्थाओं में है।"[2]

दर्शन शब्द के लिए अंग्रेजी मे व्यवहृत "फिलास्फी" शब्द का विकास यूनानी भाषा के "फिलॉसफस" से हुआ है जिसका अर्थ विद्या का प्रेम होता है। अतः दर्शन की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में लिखा है, "वह जिसे प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में रुचि है और जो सीखने के लिए जिज्ञासु है तथा कभी भी सन्तुष्ट नही होता, सही रूप मे दार्शनिक कहा जाता है।"[3] दर्शन की इस परिभाषा में उसे सब प्रकार के ज्ञान की जिज्ञासा और कभी न बुझने वाली ज्ञान की प्यास कहा गया है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक आजीवन सत्य की खोज मे लगा रहता है क्योंकि उसे सत्य से प्यार होता है। वैज्ञानिक को भी सत्य की खोज रहती है। किन्तु वह सत्य विशेष क्षेत्र का सत्य होता है जबकि दार्शनिक की खोज सम्पूर्ण सत्य की खोज है। प्लेटो के शब्दो में वह "सत्य के किसी अंश का नहीं वल्कि समग्र का प्रेमी है।"[5]

वेंकटराव एम० ए० का कहना है, "दर्शन एक विचारक अथवा दृष्टिकोण है जिससे व्यवस्थित समग्र रूप में विश्व-दर्शन किया जाता है, जिसमें मानव, प्रकृति तथा ईश्वर अथवा अन्तिम वास्तविकता का समुचित स्थान रहता है।"[4]

---

1. बलदेव उपाध्याय 'श्री शंकराचार्य' (हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद) में विद्याभास्कर, सचिव के प्रकाशकीय से उद्धृत।
2. The Philosophical Bases of Education, (*R R. Robert*). Page–1, University of London press
3. Plato Republic, Book V, P. 252.
4. Plato. ibid.
5. *Rao Venkata* M. A, Philosophy in India II, Astrological Magazine, Raman Publications, Benglore–20 June, 1964–P. 505–506.

दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। समस्त ज्ञान-विज्ञान का उसके अन्दर समाहार हो जाता है। स्वामी करपात्री जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मार्क्सवाद और रामराज्य' में लिखा है, "दृश्यते वस्तु याथात्म्यं जनेन इति दर्शनम्"। दूसरे शब्दों में प्रमाण द्वारा आत्मानात्मा का ज्ञान जिससे होता है उसका नाम 'दर्शन शास्त्र है।'[1] इस प्रकार दार्शनिक सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टि रखता है। जब ग्लाउकन ने सुकरात से यह पूछा कि "सच्चे दार्शनिक कौन हैं ?" तो सुकरात ने उत्तर दिया, "वे जो कि सत्य की झांकी के प्रेमी हैं।"[2] दार्शनिक का यह ज्ञान सार्वभौम होने के साथ-साथ शाश्वत भी होता है। इस सम्बन्ध में वृहदारण्यकोपनिषद् का वह प्रसंग उल्लेखनीय है जब याज्ञवल्क्य की इच्छा सन्यास लेने की हुई और उन्होंने अपनी दोनों स्त्रियों को सम्पत्ति बांटने का प्रस्ताव किया तो कात्यायनी के मुख से तो कुछ नही निकला क्योंकि वह प्रेय: कामिनी थी, उस धन में ही उसका सारा सुख निहित था, किन्तु मैत्रेयी थी श्रेय: कामिनी। अत: उसने सम्पत्ति को अस्वीकार करते हुए अमरत्व प्रदान करने वाले शाश्वत ज्ञान की शिक्षा देने की इच्छा व्यक्त की, "जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? मुझे तो वही बात बताइए जिससे मैं अमर हो सकूँ।"[3]

इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण मे आश्चार्य की भावना, सन्देह, समीक्षा, चिन्तन और उदारता एवं सत्य की जिज्ञासा निहित है। जान ड्यूबी के अनुसार "जब कभी दर्शन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया गया है तो यह सदैव अवधारित हुआ है कि यह प्राप्त किये जाने वाले उस ज्ञान का महत्वांकन करता है, जो कि जीवन के आचार को प्रभावित करता है।"[4]

दार्शनिक निष्कर्षो की विशेषता यह है कि वे कभी भो अन्तिम नही होते हैं। उनमें सदैव मतभेद रहता है। इस बात को लेते हुए कुछ लोगों ने शिक्षा के दार्शनिक आधार का विरोध किया है। शिक्षा के क्षेत्र मे वैज्ञानिक प्रणाली के समर्थक हरबार्ट ने लिखा है कि "शिक्षा को तब तक अवकाश मनाने का कोई समय नही है, जब तक कि दार्शनिक प्रश्न पूरी तरह से स्पष्ट न हो जाय।" किन्तु दार्शनिक निष्कर्षों के अन्तिम न होने से उनका महत्त्व कम नही हो सकता क्योंकि प्रत्येक

---

1. स्वामी करपात्री जी महाराज—"मार्क्सवाद और रामराज्य", गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ सं० 2.
2. (Plato, Republic, Book VI, p. 485.
3 वृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (4–5, 1–2–3–4–5) गीता प्रेस, गोरखपुर पृष्ठ स० 1128–1131.
4. *Prof. John-Dewey*—Democracy and Education, New York Macmillan Co —Page 378.

व्यक्ति उन पर अपने अनुसार विचार करता है किन्तु जिस प्रकार व्यक्तियों में व्यक्तिगत विभिन्नताओं के होने पर भी उनके लिए शिक्षण प्रणाली सम्भव ही नहीं वरन् उपयोगी भी है उसी प्रकार व्यक्तियों में दार्शनिक अन्तर होने से दर्शन का महत्व कम नहीं होता है। हाकिंग ने इसी आशय को इस प्रकार प्रकट किया है, "प्रत्येक व्यक्ति का एक दर्शन होता है, और मनुष्य-मनुष्य में अन्तर मुख्यतया दार्शनिक अन्तर होता है। मैं इससे और भी अधिक कहूँगा, मनुष्य और स्वयं अपने आप में अन्तर एक दार्शनिक अन्तर है, जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि मनुष्य बहुधा ऐसा दर्शन अपना लेते हैं जो उनका अपना नहीं है और जो उन्हें स्वयं अपने आपसे दूर ले जाता है क्योंकि वे अन्य का दर्शन उधार ले लेते हैं।"[1] आल्डस हक्सले के शब्दों में, "मनुष्य अपने जीवन-दर्शन, अपने विश्व-सिद्धान्त के अनुसार रहते है।"[2]

प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन-दर्शन होने से विभिन्न प्रकार के दर्शनों का जन्म होता है। ये विभिन्न दर्शन विविध जीवन पद्धतियों को विकसित करते हैं। यह स्वाभाविक है कि हर व्यक्ति अपने जीवन-दर्शन से दूसरों को प्रभावित तथा बदलने का प्रयास करता है। यह जाने अथवा अनजाने प्रभावित करने तथा बदलने की की प्रक्रिया शिक्षा है। यही जीवन के स्वाभाविक विकास का संशोधन है। अतः दर्शन ही समस्त ज्ञान का समन्वय करता है और उसकी जड़ें वास्तविक जीवन में होती हैं। कनिंघम के शब्दों में, "इस प्रकार दर्शन प्रत्यक्ष रूप से जीवन और उसकी आवश्यकता से विकसित होता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कि जीवित है, यदि वह चिन्तनपूर्ण जीवन व्यतीत करता है तो किसी न किसी अंश में वह एक दार्शनिक है।"[3] इस प्रकार दर्शन की शिक्षा में परिणति हो जाती है। अतः सरजान एडम्स का विश्वास है कि "शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पक्ष है, यह दार्शनिक विश्वास का क्रियात्मक पक्ष है और जीवनादर्शों के अनुभव करने का क्रियात्मक साधन है।"[4]

---

1. (*Hocking William-E.*, philosophy–The businese of everyone, Journal of American Association of University women, June, 1937, p. 212).
2. (*Huxley Aldous*), P–252, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay. (Ends & Means).
3. *Cunningham* C. W. Problems of Philosophy, page–5, New-York-Henry Holt and Company.)
4. *Adems Sir John*–The Evolution of Educational Theory,

वर्तमान युग में आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी न समझे जाने के कारण दर्शनशास्त्र के पठन-पाठन के इच्छुक व्यक्तियों की संख्या बराबर कम होती जा रही है किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन के महत्व को स्वीकार करते हुए ब्लेशार्ड तथा अन्यों के उद्‌गार विचारणीय हैं, "विश्वविद्यालयों में दर्शन का वही कार्य है जो किसी समाज के सांस्कृतिक विकास में उसका कार्य है अर्थात् समुदाय की बौद्धिक अन्तर्चेतना बनना ।"[1]

दर्शन और शिक्षा के सम्बन्ध को विभिन्न विद्वानों, शिक्षाविदों तथा विचारकों ने अपने-अपने ढंग से स्पष्ट किया है। ड्यूवी शिक्षा की अधिकांश परिभाषाओं के आधार पर कहते है, "यह दर्शन अपने सामान्य रूप मे शिक्षा का सिद्धान्त है।"[2] दर्शन तथा शिक्षा के परस्पर सम्बन्ध को जेम्स रास ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलुओं के समान है। इनमें दर्शन विचारात्मक पहलू है और शिक्षा क्रियात्मक पहलू है।"[3] इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा से दर्शन प्रभावित होता है और दर्शन से शिक्षा प्रभावित होती है। यह दर्शन और शिक्षा का परस्पर प्रभावित करने का चक्र सदैव चलता रहता है। शिक्षा द्वारा हम अपने पूर्वजों के अनुभवों एवं उनकी सभ्यता तथा संस्कृति से परिचित होते है। इस ज्ञान के आधार पर हम अपने नए अनुभवों की सत्यता की परख करते हैं और नए अनुभवों के आधार पर पूर्व ज्ञान की सत्यता की परख करते हैं। इस सबके आधार पर अपना जीवन-दर्शन निश्चित करने में सफल होते हैं। हमारा जैसा जीवन-दर्शन होता है उसी के अनुसार हम आने वाली पीढी का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। यह कार्य हम शिक्षा द्वारा करते हैं। इसलिए हमें दर्शन के अनुकूल ही शिक्षा के रूपरंग को बदलना होता है। इस दृष्टि से शिक्षा दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप है। इस आशय को रास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ग्राउन्ड वर्क ऑफ एजूकेशन थ्योरी' में इस प्रकार व्यक्त किया है, "इस पुस्तक का प्रयोजन इस सिद्धान्त का विस्तार है कि शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पक्ष है।"[4]

शिक्षा मूलतः तथा स्पष्टतः दर्शन पर आधारित है—यह धारणा इस तथ्य से पुष्ट होती है कि महान् दार्शनिक सदैव महान् शिक्षा शास्त्री रहे हैं। शिक्षा

1. (Blanshard & Others, philosohy in American Education, Harper & Bros., New York—page 80.)
2. (*Dewey John*, Democracy & Education, Macmilla, New York, page 386.)
3. *Ross James*, Ground Work of Educational Theory, George G. Harrap & Co. page 16.)
4. (Ross James. ibid, p. 22.)

का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विश्व के विचारक अपने जीवन की प्रभात-वेला में दार्शनिक थे और बाद में शिक्षा शास्त्री हो गए। पाश्चात्य दार्शनिकों में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु तथा जान ड्यूबी के नाम विशेष उल्लेखनीय है जो कि पहले दार्शनिक थे और फिर शिक्षक थे। दर्शन और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी प्रकार भारत में याज्ञवल्क्य, व्यास (बादरायण) तथा शंकाचार्य आदि से लेकर गाँधी जी तक हजारों दार्शनिकों के जीवनादर्शो और शिक्षाओ से दर्शन तथा शिक्षा के अभिन्न सम्बन्धों का पता चलता है। वास्तव में प्राचीन भारत और यूनान में शिक्षा प्रणाली पूरी तरह दर्शन पर आधारित थी। सुकरात दार्शनिक चिन्तन के आधार पर अपने पास आने वाले जिज्ञासुओं को शिक्षा देता था। इस प्रकार एक सैद्धान्तिक दार्शनिक एक सक्रिय शिक्षाशास्त्री बन गया।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने अपनी दार्शनिक पुस्तक 'रिपब्लिक' में जिस आदर्श जनतन्त्र की कल्पना की है वह शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में आज भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्लेटो की इस पुस्तक का शिक्षा और राजनीति दोनों के क्षेत्रों पर प्रभाव है और आज भी लगभग सभी देशों में शिक्षा और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है। अरस्तु की रचनाओं में भी राजनीति और शैक्षिक-सिद्धान्त दार्शनिक विचारो पर आधारित है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के अतिरिक्त ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह ने जीवन-पर्यन्त जो शिक्षाएँ दी है उनका आधार उनके जीवन-दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त रहा है कि ईश्वर सब मनुष्यों का पिता है। जो ईसा के सम्बन्ध में सत्य है वह विश्व के सभी महान् शिक्षकों के सम्बम्ध मे भी सत्य है। संसार में सर्वत्र और सदैव धर्म संस्थापकों, उपदेशकों तथा जननेताओं ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी है। गौतम बुद्ध, मोहम्मद, शंकराचार्य, मार्टिन लूथर और महात्मा गाँधी आदि ने जनता को जो शिक्षा दी वह उनके दार्शनिक विचारों की ही उपज है और उन्होंने जो कुछ किया वह उनके दर्शन का क्रियात्मक रूप था। शान्ति निकेतन गुरुदेव के दर्शन का क्रियामत्क रूप है। काशी हिन्दू विश्वद्यालय पं० मदन मोहन मालवीय की दार्शनिक विचारधारा की चरम परिणति है। अलीगढ का मुस्लिम विश्वविद्यालय सर सय्यद अहमद खां के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूर्तिमान रूप है। इन महान् दार्शनिकों का विश्व पर बड़ा उपकार है। विश्व में जो भी भलाई, प्रेम, न्याय और सहानुभूति सदृश गुण विद्यमान् हैं वे इन्हीं दार्शनिकों के उच्च विचारों तथा श्रेष्ठ शिक्षाओं का प्रतिफल है। अतः एम० एस० पटेल का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है, "यदि ये कतिपय उच्चकोटि के दार्शनिक जन्म नहीं लेते तो यह विश्व बुराई, घृणा, अन्याय तथा अनुदारता की शक्तियों से आक्रान्त हो जाता है।"[1]

---

1. *Patel M. S.*, The educational philosophy of Mahatma Gandhi. Nav Jiwan Publishing House, Ahmedabad p. 5.

का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विश्व के विचारक अपने जीवन की प्रभात-बेला में दार्शनिक थे और बाद मे शिक्षा शास्त्री हो गए। पाश्चात्य दार्शनिकों मे सुकरात, प्लेटो, अरस्तु तथा जान ड्यूबी के नाम विशेष उल्लेखनीय है जो कि पहले दार्शनिक थे और फिर शिक्षक थे। दर्शन और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी प्रकार भारत में याज्ञवल्क्य, व्यास (बादरायण) तथा शंकाचार्य आदि से लेकर गाँधी जी तक हजारों दार्शनिकों के जीवनादर्शों और शिक्षाओं से दर्शन तथा शिक्षा के अभिन्न सम्बन्धों का पता चलता है। वास्तव में प्राचीन भारत और यूनान में शिक्षा प्रणाली पूरी तरह दर्शन पर आधारित थी। सुकरात दार्शनिक चिन्तन के आधार पर अपने पास आने वाले जिज्ञासुओं को शिक्षा देता था। इस प्रकार एक सैद्धान्तिक दार्शनिक एक सक्रिय शिक्षाशास्त्री बन गया।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने अपनी दार्शनिक पुस्तक 'रिपब्लिक' मे जिस आदर्श जनतन्त्र की कल्पना की है वह शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में आज भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्लेटो की इस पुस्तक का शिक्षा और राजनीति दोनों के क्षेत्रों पर प्रभाव है और आज भी लगभग सभी देशों में शिक्षा और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है। अरस्तु की रचनाओं में भी राजनीति और शैक्षिक-सिद्धान्त दार्शनिक विचारो पर आधारित है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के अतिरिक्त ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह ने जीवन-पर्यन्त जो शिक्षाएँ दी हैं उनका आधार उनके जीवन-दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त रहा है कि ईश्वर सब मनुष्यों का पिता है। जो ईसा के सम्बन्ध मे सत्य है वह विश्व के सभी महान् शिक्षकों के सम्बम्ध मे भी सत्य है। ससार मे सर्वत्र और सदैव धर्म संस्थापकों, उपदेशकों तथा जननेताओं ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी है। गौतम बुद्ध, मोहम्मद, शंकराचार्य, मार्टिन लूथर और महात्मा गाँधी आदि ने जनता को जो शिक्षा दी वह उनके दार्शनिक विचारों की ही उपज है और उन्होंने जो कुछ किया वह उनके दर्शन का क्रियात्मक रूप था। शान्ति निकेतन गुरुदेव के दर्शन का क्रियामत्क रूप है। काशी हिन्दू विश्वद्यालय पं० मदन मोहन मालवीय की दार्शनिक विचारधारा की चरम परिणति है। अलीगढ़ का मुस्लिम विश्वविद्यालय सर सय्यद अहमद खां के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूर्तिमान रूप है। इन महान् दार्शनिकों का विश्व पर बड़ा उपकार है। विश्व में जो भी भलाई, प्रेम, न्याय और सहानुभूति सदृश गुण विद्यमान् है वे इन्हीं दार्शनिकों के उच्च विचारों तथा श्रेष्ठ शिक्षाओं का प्रतिफल है। अतः एम० एस० पटेल का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है, "यदि ये कतिपय उच्चकोटि के दार्शनिक जन्म नहीं लेते तो यह विश्व बुराई, घृणा, अन्याय तथा अनुदारता की शक्तियों से आक्रान्त हो जाता है।"[1]

---

1. *Patel M. S.*, The educational philosophy of Mahatma Gandhi. Nav Jiwan Publishing House, Ahmedabad p. 5.

केवल यूनानी दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के उल्लेखनीय दार्शनिकों ने भी शिक्षा के क्षेत्र पर व्यापक प्रभाव डाला है। आधुनिक युग के महान् विचारक रुसो की पुस्तक 'एमील' में उसकी दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप शिक्षा की कल्पना के दर्शन होते हैं। रुसो एमील को ऐसे शान्त प्राकृतिक वातावरण में शिक्षित करने की कल्पना करता है जो कि तत्कालीन भीड़ भरे सामाजिक वातावरण से दूर हो। अतः एमील की शिक्षा को रूसो की दार्शनिक विचारधारा का क्रियात्मक रूप माना जाता है।[1] रुसो शिक्षा को जीवन मानता है और उसे बाल केन्द्रित कहता है। रुसो की इसी दार्शनिक विचारधारा से शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद का विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त जार्ज बर्नाडशा, एच० जी० वैल्स, बर्ट्रेण्डरसेल, ए० एन० व्हाइट हैड, आल्डस हक्सले और वर्तमान शताब्दी में अमेरिका में जान ड्यूबी तथा भारत में रवीन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द, विवेकानन्द, दयानन्द, महात्मा गाँधी एवं स्वामी करपात्री जी आदि दार्शनिकों ने अपने चिन्तन-मनन से विभिन्न प्रकार के शिक्षा-दर्शनो का विकास किया है।

भिन्न-भिन्न युगों में मानव समाज में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का विकास होता रहा है। प्राचीन भारत में धर्म तथा दर्शन का सम्बन्ध अभिन्न माना जाता था। अतः उस समय शिक्षा धर्म पर आधारित थी। महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र का प्रारम्भ ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ होना इसी तथ्य का द्योतक है।[2] विगत शताब्दी में विज्ञान के अभूतपूर्व विकास के कारण यन्त्रवाद का प्रचार-प्रसार हुआ। फलतः शिक्षा के सभी क्षेत्रों में इस मान्यता की स्थापना होने में विलम्ब नहीं हुआ। यहाँ तक कि मनोविज्ञान में भी मनुष्य को यन्त्र से अधिक नहीं माना गया। दार्शनिकों की जगत् को एक विशालयन्त्र के रूप में मानने की मान्यता अधिक समय तक नहीं टिक सकी क्योंकि वैज्ञानिकों ने इस मत का त्याग कर दिया। मनोविज्ञान ने यन्त्रवाद के स्थान पर व्यवहारवाद को ग्रहण कर लिया किन्तु शीघ्र व्यवहारवाद की भी आलोचना होने लगी। यन्त्रवाद जैसे ही दर्शन से विदा हुआ शिक्षा भी इसके प्रभाव से मुक्त हो गयी।

इसी प्रकार प्राणीविज्ञान मे विकासवाद की स्थापना होने पर शिक्षा के क्षेत्र में भी इस सिद्धान्त का बोलबाला हो गया और ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रकार की विकासवादी विचारधाराओं की अवतारणा हो गयी। पूर्व तथा पश्चिम के अनेक दार्शनिकों ने अपनी विचारधारा को विकासवाद पर आधारित करके इस सिद्धान्त को पुष्पित-पल्लवित किया। फलतः शिक्षा के क्षेत्र में एकमात्र लक्ष्य बालक के विकास को माना जाने लगा किन्तु शीघ्र ही परस्पर विरोधी

---

1. (*Patel M.S.* ibid, p. 6.)
2. "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।" (ब्रह्मसूत्र, 1,1,1,1)

एकांगी विचारों को छोडकर आधुनिक शताब्दी में दर्शन के क्षेत्र में समाहारक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में भी विज्ञानवादी, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियाँ समन्वित होकर समाहारक प्रवृत्ति के रूप में उदित हुई। आज शिक्षा के क्षेत्र में इसी समाहारक प्रवृत्ति के सर्वत्र दर्शन होते है। अत: प्रसिद्ध दार्शनिक फिक्टे का जर्मन राष्ट्र के प्रति उद्‌बोधन सामयिक एवं उपयुक्त ही है, शिक्षा की कला स्वयं कभी भी दर्शन के बिना पूर्णतया स्पष्ट नहीं होगी। अस्तु इन दोनों में एक अन्तर्क्रिया है और कोई भी दूसरी के बिना अपूर्ण और व्यर्थ है।"[1]

शिक्षा-दर्शन प्राय: जीवन-दर्शन होता है। अत: रोबर्ट आर० रस्क ने लिखा है, "जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन के मध्य कोई पार्थक्य नहीं किया जा सकता है। वे जो कि दर्शन की अवहेलना करने का गर्व करते हैं उनका भी अपना दर्शन होता है और बहुधा वह अत्यन्त अपर्याप्त होता है।[2] "किसी शिक्षा-दर्शन का मूलत: जीवन के आदर्शो एवं लक्ष्यों के सन्दर्भ में, शिक्षा के उद्देश्यो, इन उद्देश्यों की प्राप्त्यर्थ शैक्षिक कार्यक्रम और परीक्षा एवं शैक्षिक संगठनों का मूल्यांकन, विषयवस्तु विधियों, अध्यापक-निर्माण मापन इत्यादि से सम्बन्ध होता है।[3]

उपर्युक्त विवेचना से शिक्षा तथा दर्शन की अन्योन्याश्रितता स्पष्ट हो जाती है। दर्शन अपने निर्माण के लिये शिक्षा पर निर्भर है और शिक्षा अपने मार्गदर्शन के लिए दर्शन पर आश्रित है। अत: रस्क के ये शब्द यहाँ विशेष उल्लेखनीय है, "दर्शन जीवन के लक्ष्य निर्धारित करता है, शिक्षा इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सुझाव देती है।"[4] प्रत्येक श्रेष्ठ शिक्षा दर्शन मे एम० एस० पटेल[5] के अनुसार ओधोलिखित तीन आवश्यक तत्व होने चाहिए—

प्रथमत: शिक्षा दर्शन को शिक्षा के विषय में केवल सैद्धान्तिक नहीं होना चाहिए। वर्तमान शताब्दी में वैज्ञानिक चिन्तन ने शिक्षा-दर्शन के विकास को व्यक्तियों के शैक्षिक चिन्तन को अधिक आलोचनात्मक बनाकर प्रभावित किया है।

---

1. (*Fichte J. C.* Addresses to the German Nation, translated by R. F. Janer and Turntill G. N. the open court publishing Co. London p. 103.)
2. *Rusk Sobert R.* The philosophical Bases of Education, W. London press p. 12.)
3. (*Thomas F. W. & A. R. Lang*, principles of modern education p. 39, Daston, Honghton Mifflin.)
4. (*Rusk R. Robert*, ibid, p. 6.)
5. *Patel M. S.*, The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, Nav Jiwan Publishing House, Ahmedabad, p. 8–9.

फलतः तथ्यों के व्यापक अध्ययन की विशिष्ट पद्धतियों के विकसित होने से शैक्षिक समस्याओं के समाधान तथा सरलीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है और साथ ही शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों—सीखना, समाजीकरण एवं व्यवहार आदि का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने के युग का समारम्भ हुआ है।

द्वितीयतः शिक्षा-दर्शन में शैक्षिक लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का निर्माण होना चाहिए। यह शिक्षा-दर्शन के विकास का सशक्त सोपान है। किसी भी शिक्षा-दार्शनिक की अपनी आस्थाएँ होनी चाहिए क्योंकि ये ही आस्थाएँ शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण करती है। इन उद्देश्यों के आधार पर अन्ततः विधियों का चयन, संगठन की योजना तथा शिक्षण एवं विषय सामग्री का निर्धारण होता है। शिक्षा दर्शन में शिक्षा के तात्कालिक तथा अन्तिम उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का विचार किया जाता है। इस सम्बन्ध में शिक्षाविदों में मतभेद है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के पूर्ण विकास तथा प्रसन्नता तक ही सीमित है अथवा समाज के सर्वोच्च हित तक। इस विवाद का शमन हो जाता है जबकि व्यक्ति और समाज को परस्पर बिरोधी न मानकर, परस्पर सहयोगी तथा पूरक माना जाता है। इसीलिए प्राचीन भारतीय दर्शन-विशेषतः शंकर-अद्वैतवाद में प्रत्येक प्राणी में विद्यमान् ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाकर[1] समष्टि और व्यष्टि का सामन्जस्य करने का प्रयास किया गया है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक व्यक्ति तथा समाज के हितों को अविरोधी मानते थे। उनके अनुसार व्यक्ति में अच्छे गुणों के विकास से ही श्रेष्ठ समाज का निर्माण सम्भव है। आधुनिक अमेरिका के निर्माता अब्राह्मलिकंन की प्रजातन्त्र की परिभाषा उपर्युक्त विवेचन पर और अधिक प्रकाश डालती है, "प्रजातन्त्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।"

शिक्षा दर्शन के विकास का तृतीय सोपान है—शैक्षिक प्रक्रिया की योजना के सिद्धान्तो तथा संगठन का मूल्यांकन करना। प्रत्येक शिक्षा विचारक की इस सम्बन्ध में अपनी योजनाएँ, विधियाँ तथा व्यवस्थाएँ होती है जिनमें वह अपनी विचारधारा के अनुसार मूल्यों, आदर्शो तथा उद्देश्यों पर बल देता है। यद्यपि मूल्यांकन पद्धतियों के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्रियों में मतैक्य नही है। तथापि किसी भी शिक्षा-दर्शन में इसकी आवश्यकता का अपलाप नही किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कोई भी शिक्षा-दर्शन मूलभूत वैज्ञानिक तथ्यों के उपयुक्त ज्ञान तथा शैक्षिक क्रियाओं को प्रेरित करने वाले लक्ष्यों तथा उद्देश्यों पर आधारित होता है। शैक्षिक कार्यक्रमों की

---

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर वाराणसी–5 (पृष्ठ सं० 384)

योजनाओं, सिद्धान्तों तथा गठन के मूल्यांकन को भी शिक्षा-दर्शन मे विशेष महत्त्व दिया जाता है।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

हर राष्ट्र की उन्नति का आधार उसकी शिक्षा-व्यवस्था है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यह सर्वमान्य तथ्य ! कि जैसी शिक्षा होती है वैसा ही राष्ट्र होता है। किसी भी राष्ट्र की परम्परागत चेन्तनशीलता, मननशीलता एवं विचारशीलता का प्रतिबिम्ब उसकी शिक्षा मे दृष्टि-ोचर होता है। सौभाग्य से भारतीय ऋषियों, मुनियो, सन्तों तथा समाज सुधारकों ो विशिष्ट एवं प्रकाशमान परम्परा ने समय-समय पर अपने देश की शिक्षा के लिए हुत कुछ किया है। ऐसे मनीषियों मे जगद्गुरु शंकराचार्य का नाम अत्यन्त गौरव-र्ण रूप मे स्मरण किया जाता है। उन्होंने भारतीय जनमानस की मूलभूत, प्राण-क्ति आध्यात्मिकता को ग्रहणकर अपने अद्वैत-सिद्धान्त की प्रस्थापना की थी। न्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (पृथ्वी ही परिवार) के भारतीय आदर्श को ब्रह्मात्मवाद रूप मे और अधिक परिष्कृत एव परिमार्जित करके विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया । अतः डा० राधाकृष्णन् के विचार उनके सम्बन्ध में अत्यन्त उपयुक्त तथा समी-न हैं—"एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने में ा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम ने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी।[1]"

इस प्रकार शंकराचार्य हमारे सम्मुख केवलमात्र एक दार्शनिक अथवा चार्य के रूप मे ही नही आते है अपितु वह इन दोनों से कहीं अधिक एक शिक्षा-स्त्री हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व द्वारा एक विशिष्ट प्रकार के शिक्षा-न को प्रस्तुत करने का गुरुतर कार्य किया है। उनका समस्त जीवन इस तथ्य का नन्त उदाहरण है कि महान् दार्शनिक सदैव शिक्षा शास्त्री रहे है। जैसा कि त पृष्ठों में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचना की जा चुकी है कि शिक्षा एवं दर्शन पर अन्योन्याश्रित हैं। उस विवेचना को पढ़कर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर जाते हैं भगवान् शंकराचार्य अपने युग के महान् दार्शनिक तत्ववेत्ता तथा उच्च-के शिक्षाशास्त्री थे। डा० राधाकृष्णन् के ये उद्गार हमारे कथन की कितनी करते है, "वे (शंकराचार्य) कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नहीं थे, वरन् एक ोर कल्पना-विहारी व्यक्ति थे, दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर पुरुष तसे हम विस्तृत अर्थों में एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते है।[2]"

---

1. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 660, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6।
2. वही।

आज का युग ज्ञान-विस्फोट का है। विश्व में चारों ओर ज्ञान-विज्ञान का प्रसार तीव्रगति से हो रहा है। अतः पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों की दार्शनिक विचारधारा पर आधारित शिक्षा-दर्शन का विकास करना आज के युग की महती आवश्यकता है। जगद्‌गुरु शंकराचार्य भारत के ऐसे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने मुक्ति के ज्ञान मूलक होने के सिद्धान्त की स्थापना कर एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया था। अतः उन्होंने अपने जीवन के उत्तरकाल को वेदान्त की शिक्षा के लिये समर्पित कर दिया था।इस प्रकार शंकराचार्य तथा अन्य विचारकों एवं विद्वानों के सम्बन्ध में शैक्षिक अध्ययन उन व्यक्तियो के लिए मूल्यवान्, महत्वपूर्ण तथा उपादेय होंगे जिन्हे वर्तमान अथवा भविष्य में अपने देश अथवा विश्व की शिक्षा-व्यवस्था के निर्माण का दायित्व वहन करना है। प्रस्तुत अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्ता का निरुपण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

1. **राष्ट्रीय दृष्टि से**—महापुरुषो, विचारकों तथा मनीषियों का चिन्तन-मनन राष्ट्र की अक्षय निधि होती है। उनका समस्त जीवन एवं कार्य राष्ट्रीय ऐक्य तथा जन कल्याण के लिए होता है। इसीलिए जगद्‌गुरु शंकराचार्य के दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों में भारतीय आदर्शों, मान्यताओं, प्रेरणाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार पाया जाता है। वह अपने युग के न केवल दार्शनिक विचारक थे वरन् उच्च-कोटि के शिक्षक भी थे।[1] धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय एवं शैक्षिक क्षेत्रों को अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से प्रभावित करने वाले आचार्य शंकर का शैक्षिक अध्ययन न केवल शिक्षा के शोध-क्षेत्र मे मौलिक कार्य होगा अपितु राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था के निर्माण मे भी योगदान करेगा। यह शिक्षा-जगत में एक नई उपलब्धि होगी। आज राष्ट्र के विभिन्न वर्गो, सम्प्रदायों तथा धार्मिक समुदायों में व्याप्त असद्‌भावना तथा असन्तोष एवं विग्रह की शान्ति के लिए डा० डी० एस० कोठारी के शब्दों को यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा, "अनेक धर्मो वाले एक लोकतान्त्रिक राज्य के लिए यह आवश्यक है, वह सभी धर्मो के सहिष्णुतापूर्ण अध्ययन को प्रोत्साहित करें ताकि उसके नागरिक एक दूसरे को और अधिक अच्छी तरह समझ सकें तथा शान्तिपूर्वक साथ-साथ रह सकें।[2] अतः भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ विभिन्न जातियाँ, विविध धार्मिक विश्वास रखने वाले तथा अनेक प्रकार के मतावलम्बी रहते है, शंकर शिक्षा-दर्शन का अध्ययन सभी देशवासियों के मध्य सौहार्द एवं विश्वास का सृजन कर सकेगा।

भगवान शंकराचार्य ने जिस वैदिक संस्कृति और संस्कृतिभाषा का अपने

---

1. बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, द्वितीय-संस्करण पृष्ठ सं० 150-72।
2. डा० डी० एम० कोठारी-शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, पहला अध्याय, पृष्ठ सं० 24।

जीवन काल में प्रचार-प्रसार किया था, वही एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा कश्मीर से कन्याकुमारी (उत्तर से दक्षिण) अटक से कटक (पूर्व से पश्चिम) तक विस्तीर्ण भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है। भारत देश में विभिन्न भाषा-भाषी, विविध आस्थाओं एवं मान्यताओं में विश्वास रखने वाले तथा पृथक्-पृथक् प्रदेशों की वेशभूषा पहिनने वाले भारतीयों की एकता का सूत्र उनके ग्रन्थों में पाया जाता है—"जिसने थोड़ी भी भगवद्गीता पढ़ी है जिसने गंगाजल का कणमात्र पिया है और जिसने एक बार भगवान श्रीकृष्ण की अर्चना की है उसकी यम के यहाँ क्या चर्चा हो सकती है? अर्थात् नहीं।[1]" उनके इस श्लोक में भगवद्गीता एवं भगवान् श्रीकृष्ण की अर्चना पर दक्षिण-उत्तर और पश्चिम-पूर्व के सभी निवासी अपने नाना प्रकार के मतभेदों को भुलाकार एक हो जाते है। इतना ही नही, हम सब जानते हैं कि नेपाल भौगोलिक तथा राजनैतिक दृष्टि से एक पृथक् प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्र है किन्तु वहाँ के राष्ट्रीय आराध्यदेव भगवान पशुपतिनाथ भारतीयों के लिए अर्चनीय है तथा भारत के भगवान् बद्रीनारायण, रामेश्वर और जगन्नाथ भगवान् नेपालवासियों के लिए पूजनीय हैं। यह दोनों देशों के सांस्कृतिक ऐक्य का प्रतीक है। इस प्रकार देशवासियो में उसी आध्यात्मवाद पर विकसित शंकर-दर्शन के अध्ययन द्वारा सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक ऐक्य के आधार देशप्रेम एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास हो सकता है।

भारत देश की चारों दिशाओं में जगद्गुरु शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने के लिए चारपीठ-उत्तर में ज्योति पीठ, दक्षिण में श्रृंगेरीपीठ, पश्चिम में शारदापीठ और पूर्व में गोवर्धनपीठ स्थापित किए थे। यह उनका कार्य जनशिक्षा तथा राष्ट्रीय एकता दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों से भारत माता के भव्य मानचित्र की सृजना हो उठती है। भारत-चीन सीमा विवाद के समय चीन द्वारा हिमालय पर अपना दावा किए जाने पर और उसके द्वारा मैकमोहन रेखा को अस्वीकार किये जाने पर पौराणिक सन्दर्भ तथा संस्कृत के महाकवि कालिदास जैसे कवियों के काव्यों से हिमालय को सीमा-प्रहरी के रूप में चित्रण करने वाले श्लोकों को ढूँढा गया था। इस प्रकार आचार्य शंकर की चारों पीठ की स्थापना से भारत राष्ट्र की एकता की पुष्टि होती है अतः उनके कृतित्व, व्यक्तित्व, दर्शन एवं शैक्षिक विचारों के अध्ययन से राष्ट्रवासियों तथा अध्ययनकर्ताओं क इसो दिशा में कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।[2]

---

1. आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य—चर्पटपञ्जरिका
   भगवद्गीता किञ्चिदधीता गंगाजललवकणिका पीता।
   सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्॥
2. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्-प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ० सं० 321।

2. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से—आज का विश्व नाना प्रकार की विविधताओं में बंटा हुआ है। विश्व-मानव-समाज में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रगत वैशम्य के कारण भविष्य के अन्धकारमय होने की सूचना डा० राधाकृष्णन् के इन शब्दों में मिलती है, "अपने प्रसिद्ध व्यंगचित्र (कार्टून) में 'अनागत की ओर देखती हुई बीसवीं शताब्दी' (द ट्वेन्टिएथ सेंचुअरी लुक्स एट द फ्यूचर) में मैक्स वीरबोस ने दिखाया है कि एक लम्बी, अच्छी वेशभूषा में सज्जित, किंचितनमिति मुद्रा में एक मानवाकृति विस्तृत भू दृश्य (लैंडस्केप) के पार एक प्रश्नचिह्न की ओर देख रही है जो दूरवर्ती क्षितिज पर धूमकेतु की तरह लटका है।" यह सर्वमान्य तथ्य है कि आज समस्त मानवीय राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति के आधार पर तीन वर्ग बन गए हैं—(1) विकसित देश (2) अविकसित देश और (3) विकासशील देश। इस मानवकृत वर्गीकरण के कारण विश्व में राष्ट्रों के मध्य तनाव, द्वेश तथा शीतयुद्ध उत्पन्न हो गया है। परस्पर दोषारोपण एवं असद्भावना के कारण विश्वशान्ति के लिए किसी समय खतरा बन सकता है। विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आने वाले देश अमेरिका और रूस आदि धन-धान्य-सम्पन्न होकर सभी प्रकार की सुख-सुविधा का स्वयं उपभोग कर रहे हैं किन्तु अन्य अविकसित तथा अल्प विकसित देश को सद्-भावपूर्वक सहयोग देने में अपनी उदारता का परिचय नही देते हैं। आज मानवजाति का सबसे बड़ा अभिशाप है—शक्ति सन्तुलन का भ्रष्ट होना। आर्थिक रूप में समृद्ध देशों के पास उपभोग करने के लिए आवश्यकता से अधिक सम्पन्नता है किन्तु अविकसित और अल्प विकसित राष्ट्रों के पास सर्वथा अभाव एवं कष्ट है।

विश्व-मानव की आधारभूत आवश्यकता का स्वरूप आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक है। आर्थिक आवश्यकताओं का मानव जीवन में कितना प्राधान्य है यह तो इसी से पता चलता है कि आज आर्थिक आधार पर न केवल मनुष्य का व्यक्तिगत रूप में वर्गीकरण हुआ है बल्कि विश्व के रूप में भी वह विभक्त है। इसकी ऊपर पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। सामाजिक आवश्यकता के अन्तर्गत मानव जगत् की प्रमुख आवश्यकता है—एक विश्व मानव समाज का निर्माण करना। मानव समाज में अनेक प्रकार के छोटे-छोटे समूहों की परिसमाप्ति होकर एक व्यापक मनुष्य समाज की स्थापना होना सदैव से महान् व्यक्तियों का मानवजाति के प्रति प्रयास रहा है। सामाजिकता की दृष्टि से आधुनिक विश्व कितना बौना है ? इसका चित्रण डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में पठनीय है, "आज राष्ट्रों का यह संसार उस चटशाला की तरह जान पड़ता है जो उद्दण्ड, जिद्दी और शरारती बच्चों से कोलाहलपूर्ण हो, जहां के बच्चे एक दूसरे के साथ धक्का-मुक्की कर रहे हों तथा अपनी भौतिक सम्प्रदाओं रूपी भारी भरकम भद्दे खिलौनों काप्रदर्शन कर रहे हों।[1]"

---

1. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, पृष्ठ सं० 419।

चिरन्तन काल से ही बौद्धिक आवश्यकता की दृष्टि से विश्व-मानव ने उसके लिए सदैव अपने प्रयत्न को प्रदर्शित किया है। बौद्धिक चिन्तन-मनन एवं विचार मानव की मूलभूत पूँजी रही है। मनुष्य प्रारम्भ से ही विचारशील है, उसकी यही विचारशीलता आज के नाना प्रकार के आविष्कारों, ज्ञान के विस्फोट तथा नए नए क्षेत्रों मे अभूतपूर्व अनुसन्धानों की जननी है।

मनुष्यों का आध्यात्मिक पक्ष उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता का निर्धारण करता है। "मनुष्य कोई पौधा या पशु नहीं है, अपितु एक चिन्तनशील और आध्यात्मिक प्राणी है, जो अपनी प्रकृति को उच्चतर प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नियोजित करता है।"[1] इस कथन से मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता का बोध होता है। वह केवल शरीर, मन और बुद्धि का समुच्चयमात्र नही है वरन् चैतन्य-विशिष्ट है। अपने अन्दर निहित इसी चेतना के अनुसन्धान करने की स्वाभाविक प्रवृति के कारण मनुष्य सदा सचेष्ट रहता है। उसका समस्त प्रयास इसीलिए चल रहा है कि वह अपनी चेतना को जाने। यही आध्यात्मिकता का मूलभूत आधार है। अतः डा० राधाकृष्णन् ने आध्यात्मिकता को मानवजाति के उच्चतम भाव के रूप मे चित्रित किया है, "आध्यात्मिकता जीवन के अंगो-उपागों सहित उच्च बनाने की आवश्यकता पर जोर देती है[2]।" इस प्रकार मानव-जाति तथा विश्व-मानव-समाज का उन्नत, उदार एवं सहिष्णु बनने का जितना भी प्रयास है। सभी आध्यात्मिक आवश्यकता का फल है।

वर्तमान मानव समाज में शाश्वत मूल्यों-सत्यं, शिवं, सुन्दरं की रक्षा करने का प्रश्न मुख्यता ग्रहण करता जा रहा है। आज का मनुष्य भयंकर असन्तोष एवं क्षोभ से जर्जर है। उसमें सहिष्णुता, सहानुभूति तथा उदारता की झलक का लोप होता जा रहा है। परस्पर घृणा, द्वेष तथा अनावश्यक आसक्ति आज के मनुष्य का प्रमुख दुर्गुण बन गयी है। क्षुद्र स्वार्थ की भावना से संत्रस्त तथा परस्पर अविश्वास एवं असद्भावना से उत्पन्न भय के कारण आज विश्व-मानव-शक्ति ने संहारक रूप धारण कर स्वयं को विनाशक बना लिया है। आधुनिक मानव-समाज मे पोषकता के स्थान पर शोषकता, पालकता के स्थान पर भक्षकता तथा कल्याण के स्थान पर अकल्याण की वृद्धि हो रही है। अतः विभिन्न राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा, द्वेष तथा घृणा की भावनाएँ उग्र रूप धारण करती जा रही हैं। शक्ति सन्तुलन के भंग होने पर किसी भी समय मानव समाज के विश्व युद्ध की चपेट में आने की

---

1. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली पृष्ठ सं० 52।
2. वही पृष्ठ सं० 77।

समस्त सम्भावनाएँ भविष्य के गर्भ में पुष्पित-पल्लवित हो रही है। अतः डॉ० राधा-कृष्णन् के ये उद्गार आधुनिक सन्दर्भ में कितने सार्थक है, "पृथ्वी को जो वरदान प्राप्त हुए थे, वे आज ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, मूढता और स्वार्थ के कारण अभिशाप में परिणत हो गये हैं। आज मनुष्य का जो रूप है, उसको देखते हुये लगता है कि वह जीने के योग्य नहीं है। उसे या तो परिवर्तन के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये या विनाश का संकट मोल लेना चाहिये'।"[1]

उपर्युक्त अनपेक्षित परिस्थितियों एव प्रवृत्तियों के निराकरण में शकराचार्य के शिक्षा दर्शन की महती उपयोगिता, महत्ता तथा आवश्यकता के दर्शन होते है। भगवान् शंकराचार्य का मूल-भूत सिद्धान्त अभेदवाद है। उसमे किसी प्रकार की विभिन्नता, भेद अथवा पृथकता के लिये स्थान नहीं है। अतः मानव समाज मे परस्पर स्नेह, सहानुभूति सौजन्य एवं सामन्जस्य स्थापन के लिये घृणा आदि के आधार-भूत तत्त्व का निराकरण शांकर दर्शन में किया गया है, "सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ को देखने वाले पुरुष को ही होती है, जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्म-स्वरूप को देखने वाला है, उसकी दृष्टि मे घृणा का निमित-भूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं, यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वह किसी से घृणा नही करता है।"[2]

इस प्रकार शांकर शिक्षा दर्शन ऐसे मानव के निर्माण का उद्देश्य लेकर प्रवृत होता है जिसमे मनुष्य को उदारता, सहिष्णुता तथा सौजन्यता की पराकाष्ठा का विकास करना होता है। शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य वस्तुतः आध्यात्मिक प्राणी है। मूलतः वह परम सत्ता का ही रूप है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। इसी की प्राप्ति मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।[3] अतः डॉ० राधाकृष्णन् ने उचित ही कहा है, "जो लोग आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध है, उनको इस बात से बड़ी घृणा होती है कि हम जातिवाद और राष्ट्रवाद के नाम पर अपनी निम्न लालसाओं का प्रयोग दूसरों को डराने, धमकाने, लूटने, ठगने के लिये करें और यह सब कुछ इस भावना के साथ कि हम जो कुछ कर रहे है बहुत ठीक कर रहे हैं, हम बिल्कुल दूध के धोए हैं और ईश्वर का ही कर्म कर रहे है।"[4]

समस्त विश्व में मानव जाति को ऐक्य के सूत्र मे आबद्ध करना आधुनिक युग की महती आवश्यकता है। अतः ऐसा दर्शन, विचार-पद्धति, जीवनचर्या अथवा

---

1. डॉ० सर्व पल्ली राधा कृष्णन्, वही, पृ० 62।
2. "ईशावास्योपनिषद् (मं० 6 शा० भा,०) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 27।
3. (ब्रह्म सूत्र शां० भा० 1-1-1-1 गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम वाराणसी, वही, पृष्ठ सं० 29)
4. डॉ० सर्व पल्ली राधा कृष्णन् वही, 1970, पृष्ठ 47–48।

शिक्षा-विधि आज विश्व के लिये उपादेय एवं महत्वपूर्ण है जिसके द्वारा समस्त मानव अपने नाना प्रकार के भेदों को समाप्त करके ऐक्यानुभूति कर सकें । इस सन्दर्भ में भी डॉ० राधा कृष्णन् के शब्द उल्लेखनीय है, "हम शान्ति की कीमत विश्व में चुकाने के लिये तैयार नहीं है । शान्ति की कीमत है—साम्राज्यों और उपनिवेशों का त्याग, आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति का परित्याग, जाति-एकता और विश्व समाज के लिये स्वतन्त्रता तथा निष्ठा के आधार पर विश्व की पुनर्व्यवस्था ।"[1] इस कार्य को भगवान् शंकराचार्य के शिक्षा दर्शन से प्रोत्साहन मिलेगा । अतः बलदेव उपाध्याय का यह कथन उपयुक्त ही है, "शांकर वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है—वसुधैव कुटुम्बकम् । समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना । आज क्षुद्र स्वार्थ की भावना से त्रस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिये वेदान्त की महनीय शिक्षा कितनी अमृतमयी है, यहाँ उसके विशेष उल्लेख की आवश्यकता नहीं । आज के पश्चिमी संसार विशेषत: अमेरिका में वेदान्त के प्रचुर प्रचार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छिपा है ।"[2]

3. **शिक्षा-शास्त्रीय दृष्टि से**—इस अध्याय के प्रारम्भ मे हमने इस तथ्य का भली-भाँति अध्ययन-अवगाहन किया कि शिक्षा और दर्शन मे अटूट सम्बन्ध है । वे एक दूसरे पर आश्रित है । दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है । इसीलिये प्रत्येक दार्शनिक की विचारधारा उसके शिक्षा-दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है । प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री जैम्स रास के शब्दों में, "दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलुओं के समान है । इनमें दर्शन विचारात्मक पहलू है और शिक्षा क्रियात्मक पहलू है ।"[3] यह प्रतिध्वनित होता है कि प्रत्येक दार्शनिक का शिक्षा से गहरा सम्बन्ध होता है । अत: शिक्षा के इतिहास के अध्ययन का यह निष्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है कि विश्व के विचारक अपने जीवन के उदयकाल में दार्शनिक थे और उत्तरकाल में शिक्षाशास्त्री हो गये । जगद्गुरु शंकराचार्य के जीवन का पूर्वार्द्ध (16 वर्ष) एक विचारक अध्येता के रूप में उनके जीवन-चरित्र मे देखने को मिलता है किन्तु उनके जीवन का उत्तरार्द्ध (16 वर्ष-32 वर्ष) उन्हें एक महान् शिक्षा-शास्त्री के रूप मे कार्य करने की अद्भुद प्रेरणा देता है जिसके फलस्वरूप उन्होंने जीवन के उत्तरकाल में अपने जगत-प्रसिद्ध अद्वैत सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप प्रदान

---

1. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् वही–1970, पृष्ठ सं०420 ।
2. आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय-भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी, पृ० 384 ।
3. *Rose James*. Ground Work of Educational Theory, P. 16, G., George Harrap & Co., London,

कर एक विशिष्ट शिक्षा-दर्शन की सृष्टि की । आज तक [illegible] पर जितने अध्ययन हुए है, शोधकर्त्ता के सर्वोत्तम ज्ञान के आधार पर उनमें उनका केवल एक ही पक्ष-दार्शनिक स्पष्ट किया गया है । उनके जीवन के उत्तरकाल से सम्बद्ध दूसरे पक्ष शैक्षिक की सदैव उपेक्षा की जाती रही है । एक प्रकार से विद्वानों, विचारकों तथा शोधकर्त्ताओं ने अपने अध्ययन क्षेत्र को शंकराचार्य के जीवन काल के पूर्वार्द्ध तक ही सीमित रखा है जबकि उनके दार्शनिक विचारों में शैक्षिक चिन्तन भी समाहित है । इस प्रकार उनके शैक्षिक विचारों में भारतीय आदर्शों, मान्यताओं, प्रेरणाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार है । अतः अपने युग के महान दार्शनिक विचारक होने के साथ-साथ उच्च कोटि के शिक्षक[1] होने के फलस्वरूप ही भारतीय-विद्वसमाज ने उनको 'जगद्-गुरु' की उपाधि से विभूषित किया था । यह 'जगद्गुरु' की उपाधि आज तक उनकी शिष्य परम्परा में प्रचलित होने के कारण उनके द्वारा स्थापित पीठ पर आसीन संन्यासी को आज भी जगद्गुरु शंकराचार्य के रूप में जनसाधारण में सम्मानित किया जाता है । विश्व के इतिहास में सम्भवतः अन्यत्र कहीं इतनी सुदीर्घकालीन गुरु-शिष्य परम्परा परिलक्षित नहीं होती जितनी विशाल गुरु-शिष्य परम्परा का विकास आचार्य शंकर के अनुयायियों में मिलता है । महान् आचार्य, अपने युग के उच्च कोटि के शिक्षक तथा युग-युगान्तर तक अपनी शैक्षिक मान्यताओं को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने वाले प्रखर शिक्षाविद् जगद्गुरु शंकराचार्य के शैक्षिक स्वरूप की आज तक उपेक्षा होना वस्तुतः खेदजनक स्थिति का परिचायक है । अतः धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्रों को अपने व्यक्तित्व, कृतित्व एवं चिन्तन से प्रभावित करने वाले आचार्य शंकर का शैक्षिक अध्ययन न केवल शिक्षा शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य होगा अपितु यह अध्ययन राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण, शिक्षण विधियों के विकास, गुरु-शिष्य सम्बन्धों के निर्माण तथा पाठ्यक्रम सरंचना आदि में महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा । इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा हम डॉ० डी० एस० कोठारी की इस कल्पना को साकर कर सकेंगे "स्वयं भारतीय विचारधारा मे ही ऐसे सूत्र है जो कि आधुनिक समाज को उपयुक्त नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकते है और जीवन को उसके सुख दुःखों, उसकी चुनौतियों तथा सफलता सहित, सहर्ष स्वीकार करने के लिये लोगों को तैयार कर सकते हैं । । उनमे भी हम सामाजिक सेवा के लिये प्रेरणा तथा भविष्य में आस्था पा सकते है । उदाहरण के लिये, महात्मा गाँधी और कुछ अन्य विचारक महान् नेताओं ने अपने आदर्शवाद तथा सामाजिक न्याय और सामाजिक पुनर्निर्माण के अपने प्रबल प्रयत्नों की प्रेरणा अधिकांशतः इन्हीं साधनों

---

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 66 ।

से ली। अतीत की इसी प्रकार की फिर से व्याख्या तथा पुनर्मूल्यांकन की इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है।[1] अतः शांकर दर्शन की शैक्षिक व्याख्या एवं मूल्यांकन से भारतीय शिक्षा दर्शन के विकास में नये सोपानों की अवतारणा होगी जिससे भविष्य में अध्येताओं, शोधकर्त्ताओं तथा शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत विचारकों को इसी प्रकार के अन्य अध्ययन अथवा भारतीय दर्शन का शैक्षिक मूल्यांकन करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इसीलिये डॉ० डी० एस० कोठारी के शब्द इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है, "प्राचीन ऋषियों ने जीवन की मूल-भूत समस्याओ के प्रति जो अन्तर्दृष्टि जो कि कुछ अर्थो में अद्वितीय तथा विश्व की घटनाओं से सम्बन्धित गहनमत अन्तर्दृष्टि का विशुद्ध सार है—प्राप्त की थी, उसका फिर से अर्थ करना तथा उसे एक नये बोधस्तर पर प्रतिष्ठित करना हमारा ध्येय और दायित्व होना चाहिये।"[2]

4. धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की दृष्टि से—शांकर शिक्षा-दर्शन में जिन धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना की गई है वे न केवल भारत के वरन् समस्त विश्व के लिये उपादेय है। आधुनिक युग में मानव भौतिक प्रगति तथा समृद्धि के लिये इतना आतुर एवं व्यग्र है कि उसने इस वेगवती दौड़ में अपने मन की शान्ति, परस्पर सद्भाव तथा मस्तिष्क की स्थिरता को सर्वथा खो दिया है। फलतः आज की भौतिक समृद्धि अभिशाप सी बनती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। अतः डॉ० राधा-कृष्णन् के शब्दों में आधुनिक युग के अभिशाप की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है, "मानव जीवन में जो वर्तमान संकट पूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है, उसका कारण यह है कि मानव-चेतना में आपातकाल उपस्थित हो गया है, संगठित एवं पूर्ण जीवन में न्यूनता आ गई है। लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि आध्यात्मिकता की उपेक्षा कर रहे हैं और बौद्धिकता को बढ़ावा दे रहे हैं।"[3]

मानव-जीवन में प्रेम, एकता, त्याग और युक्ति संगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयान्धता की अपेक्षा अधिक मूल्य है। इन सद्गुणों के विकास में शंकराचार्य के इस सिद्धान्त से कि सभी जीव एक है, सब प्राणियों में एक ही आत्मा विद्यमान है, जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी और किसी सिद्धान्त से नहीं। अतः स्वामी विवेकानन्द का यह कथन समीचीन ही है, "सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है और इसी से नैतिकता का आधार प्रस्तुत है।

---

1. डॉ० डी० एस० कोठारी–शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964–66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, पहला अध्याय, पृष्ठ सं० 23।
2. वही, पहला अध्याय, 1968, पृष्ठ सं० 25।
3. डॉ० सर्वपल्ली राधा कृष्णन, प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ सं० 53।

दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व मौलिक स्तर पर एक है। दूसरों को कष्ट देनाअपने आपको कष्ट देना है। दूसरों के साथ प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है।[1] "इस प्रकार अहकार, स्वार्थ, हिसा, असत्य तथा अपकार इत्यादि पापकर्मों से बचना और सत्य, अहिंसा, दया, उपकार तथा अहंकार शून्यता का आचरण करना शंकराचार्य की शिक्षा में समाविष्ट नैतिक मूल्यों के प्रतीक है।[2] आधुनिक युग में उपर्युक्त सभी धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्य मानव जाति के अलंकार है। इनसे विहीन मानव जाति दुर्दशा के गर्त में गिर रही है। इस लिये विश्व में उक्त मूल्यों की प्रस्थापना हेतु तथा भौतिक समृद्धिजन्य दोषों के निराकरणार्थ प्रस्तावित अध्ययन की महत्ता एवं आवश्यकता के प्रति किसी को सन्देह नही रहना चाहिये।

अध्ययन सम्बन्धी पूर्व अध्ययनों का मूल्यांकन :

जगद्गुरु शंकराचार्य भारतीय दर्शन के सम्राट् हैं और अद्वैत वेदान्त उनकी अमर कीर्ति की पताका है। अतः उनके सम्बन्ध में अध्ययन करने की जनरुचि व प्रवृत्ति सदा से ही रही है। प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने शंकराचार्य तथा उनके सिद्धान्तों का अध्ययन-आलोडन-विलोडन किया है। आचार्य शंकर विद्वानों में इतने लोकप्रिय रहे है कि उनके अध्ययन के प्रयास रूप में जो ग्रन्थ एवं लेखादि लिखे गये है उनसे एक विशाल साहित्य-राशि का निर्माण हो गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में [illegible] अध्ययनों का ही मूल्यांकन किया जायेगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आचार्य शंकर से सम्बन्धित कार्यो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से करना समीचीन होगा :—

(1) संस्कृत भाषा मे कार्य
(2) अंग्रेजी भाषा मे कार्य
(3) हिन्दी भाषा में कार्य

संस्कृत भाषा में कार्य :

स्वामी शंकराचार्य के प्रधान शिष्य पद्मपाद ने अपने ग्रन्थ 'आत्मानात्म' में आत्मा के सम्बन्ध में गहन विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होने इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र शंकर-प्रतिपादित माया का विवरण भी दिया है। अद्वैत के प्रसिद्ध विद्वान विद्यारण्य मुनि के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सर्व दर्शन-संग्रह में आचार्य शंकर की दार्शनिक विचारधारा का विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ में अन्य दर्शनो का भी विवेचन किया गया है।

---

1. विवेकानन्द संचयन, श्री राम कृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० सं 106
2. प्रश्नोत्तरी, गीता प्रेस गोरखपुर पृष्ठ सं०6,8 11, 14, 17, 19,

काशी के सुप्रसिद्ध संन्यासी तथा शांकर वेदान्त दर्शन के विख्यात विद्वान मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैत सिद्धि' में अद्वैत सिद्धान्त का भली-भाँति प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थ में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भी पाँच प्रकार से किया गया है। सदा शिव ब्रह्मेन्द्र के 'अद्‌वैत विद्‌या विलास' ग्रन्थ में शांकर अद्‌वैत का वर्णन मिलता है। स्वामी सदानन्द योगीन्द्र की प्रसिद्ध रचना 'वेदान्त सार' है जिसमें विद्वान लेखक ने बड़े सारगर्भित एवं संक्षिप्त रूप में आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ शांकर सिद्धान्तों की जानकारी के लिये इतना प्रसिद्ध है कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी है। अद्‌वैत-चिन्ता कौस्तुभ ग्रन्थ में महादेव सरस्वती ने अद्‌वैत सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उठने वाली शंकाओं का सुन्दर रूप में समाधान किया है। शंकराचार्य जी के सिद्धान्त को समझने मे यह ग्रन्थ बड़ा सहायक है। महा महोपाध्याय अनन्त कृष्ण शास्त्री ने अपनी 'शतभूषणी' रचना में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अविद्‌या एवं माया का विस्तृत विवेचन किया है।

कलकत्ते में स्थापित संस्कृत साहित्य परिषद् का कालीपद जी तर्काचार्य के सम्पादकतत्व में 'संस्कृत साहित्य परिषद्' नामक एक संस्कृत भाषा का मासिक पत्र प्रकाशित होता है। इसी मासिक पत्र के सं० 1879 चैत्र के अंक में चार कृष्ण दर्शनाचार्य ने 'वेदान्त विमर्श:' लेख मे आचार्य शंकर के अद्‌वैत वेदान्त पर प्रकाश डाला है। इसी प्रकार काशी से प्रकाशित 'संस्कृत रत्नाकर' और नागपुर से प्रकाशित 'संस्कृत भवितव्यम्' आदि पत्रों में भी शंकराचार्य के सम्बन्ध मे लेखों का प्रकाशन होता रहता है। दी शंकर अकादमी आफ संस्कृत कल्चर एण्ड क्लासिकल आर्ट्‌स (रजि०) नई दिल्ली ने शंकर जयन्ती के उपलक्ष में (1966) एक स्मारिका प्रकाशित की जिसमें संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में स्वामी शकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में देश के उच्च कोटि के विद्वान तथा ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज एवं कामकोटिपीठ के शकराचार्य के लेखो का प्रकाशन हुआ सम्पूर्ण पत्रिका शांकर सिद्धान्तों के विवेचनात्मक लेखों का अच्छा संग्रह है।

अंग्रेजी भाषा में कार्य:

गंगानाथ झा ने 'शांकर वेदान्त' नामक अपने अध्ययन में आचार्य शंकर के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला है। एम० के० वेल्वेकर के सन् 1929 में प्रकाशित 'वेदान्त फिलासफी' के लेक्चर में शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। 'थ्री लैक्चर्स आन दी वेदान्त फिलासफी' नामक ग्रन्थ में पश्चिमी विद्वान मैक्समूलर ने वेदान्त दर्शन के विवेचन के साथ शंकर प्रतिपादित माया का तुलनात्मक रीति से वर्णन किया है। 'ए हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी; के लेखक डॉ० सुरेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के दशम अध्याय में स्वामी शंकराचार्य जी के दार्शनिक विचारों की विवेचना की है। उनकी अज्ञान की विवेचना स्वतन्त्र रूप से हुई है। डा० राधा कृष्णन् ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इडियन

फिलासफी' के द्वितीय भाग में आचार्य शंकर के सिद्धान्त पर आलोचनात्मक विचार किया है। 'एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन फिलासफी' के लेखक सतीश चन्द्र चटर्जी एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त हैं। प्रख्यात विद्वान् लेखकों ने अपने इस ग्रन्थ के दशम अध्याय में शंकर के वेदान्त की विवेचना की है। डॉ० चन्द्रधर शर्मा के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्डियन फिलासफी' में प्रसंगवश शंकर सिद्धान्त का भी वर्णन किया गया है। प्रो० डिरियन्ना ने अपने ग्रन्थ 'दी एडोशियल आफ इन्डियन फिलासफी' के सप्तम और अष्टम अध्यायों मे शांकर वेदान्त का तुलनात्मक ढंग से किन्तु मौलिक रूप में विवेचन किया है। नलिनी मोहन शास्त्री का 'ए स्टडी आफ शंकर' ग्रन्थ 1942 में प्रकाशित हुआ जिसमें स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्तों की आलोचनात्मक दृष्टिकोण से समीक्षा की गई है। 'आसपेक्ट्स आफ अद्वैत' एक सम्पादित ग्रन्थ है इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग—'ब्रह्म एण्ड माया' है। इसके लेखक के० सुन्दरम् अय्यर हैं। द्वितीय भाग 'अद्वैत एण्ड माडर्न थौट' में दीवान बहादुर के० एस० राधा स्वामी शास्त्री ने अद्वैत वाद की मार्मिक विवेचना की है। अय्यर महोदय ने माया का जो वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है।

जर्मन विद्वान डायसन पाल ने 'दी फिलासफी आफ वेदान्त 'नामक ग्रन्थ में वेदान्त के सन्दर्भ मे शंकराचार्य का सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। महामहोपाध्याय एस० कुप्पू स्वामी शास्त्री ने 1940 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में अद्वैत विचारधारा पर प्रवचन दिये थे। उनके इन प्रवचनों का संग्रह 'कम्प्रोमाइजिज इन दी हिस्ट्री आफ अद्वैतिक थौट' नामक ग्रन्थ में किया गया है। शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ में माया और अध्यास का विवेचन वैज्ञानिक रीति से किया है। एस० के० दास द्वारा रचित 'ए स्टडी आफ दी वेदान्त' नामक ग्रन्थ में शांकर वेदान्त पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। डंकन ग्रीस लीस की प्रसिद्ध रचना 'दी गासपल आफ अद्वैत' के द्वितीय अध्याय मे शांकर सिद्धान्त के अनुसार जगत् के दार्शनिक पक्ष की विवेचना की गई है। ग्रन्थ की भूमिका में समस्त शांकर वेदान्त की मीमांसा अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। प्रसिद्ध भारतीय दर्शनशास्त्री कृष्ण स्वामी अय्यर ने अपने ग्रन्थ 'थौट्स फ्राम दी वेदान्त' में वेदान्त की विभिन्न विचार धाराओं का सूक्ष्म वर्णन किया है। अद्वैत वेदान्त की विचार धारा की विवेचना अत्यन्त मार्मिक और हृदय स्पर्शी बन पड़ी है 'स्टडीज इन वेदान्त' के विद्वान् लेखक वासुदेव कीर्तिकर ने इस ग्रन्थ में शांकर वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों की तुलना पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ की है। इसका अध्ययन करने से अद्वैत वेदान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है। 'साकरेड बुक्स आफ दी ईस्ट' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 34 वें भाग में डॉ० थीबो ने ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद किया है। डॉ० थीबो ने इस अनुवाद की भूमिका में आचार्य शंकर के सिद्धान्तों पर अत्यन्त विद्वतापूर्वक प्रकाश डाला है।

"इन्डियन फिलासिफिकल क्वार्टरली" (अक्टूबर 1935) में टी० आर० वी०

मूर्ति का 'दर्शनौदय' लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में विद्वान लेखक ने अद्वैत दर्शन और सांख्य दर्शन का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे स्वामी शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। 'इन्डियन कल्चर' (पाँचवी जिल्द) में अशोक नाथ शास्त्री का 'शून्य एण्ड ब्रह्म' नामक लेख शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध शून्य वाद के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करता है। इसी पत्रिका की आठवीं जिल्द में भी स्वामी शंकराचार्य से सम्बन्धित लेख मिलते है। एच० जी० नरहरि का 'मीनिंग आफ ब्रह्म एण्ड आत्मन्' तथा पी० एम० मोदी का 'रिलेशन आफ ब्रह्म एण्ड जगत्' नामक लेख विशेष उल्लेखनीय है।' 'इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' पत्रिका की पाँचवीं जिल्द में के० आर० पिशरौटी महोदय का 'श्री ग्रेट फिलासफर्स आफ केरल' नाम का लेख मिलता है जिसमें स्वामी शंकराचार्य के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री दी गई है। इसी पत्रिका की छटी जिल्द में सतीन्द्र कुमार मुकर्जी का 'शंकर आन दि रिलेशन बिटविन दि वेदान्त एण्ड रीजन' नामक लेख प्राप्त है। 'एस्ट्रोलोजिकल मैंग्जीन में भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में लेखों का प्रकाशन होता रहता है। इसी पत्रिका के जुलाई 1965 के अंक में डॉ० पी० नागराज राव एम० ए०, डी-लिट् के 'विजडम आफ शंकर' नामक लेख में आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अच्छा विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार पत्रिका के दिसम्बर 1966 के अंक में डॉ० पी० नागराज राव ने 'एशेन्गियलूस आफ अद्वैत वेदान्त' फरवरी 1967 में ब्रह्मन् एण्ड दी वर्ल्ड, 'अप्रैल 1967 में 'गाड इन शंकर्स अद्वैत' मई 1967 में शंकर्स कन्सेपान्स, 'जून 1967 में शंकर्स कन्सेप्शन्स आफ मोक्ष, 'जुलाई 1967 में 'श्री शंकर एण्ड भक्ति योग,' तथा अगस्त 1967 में 'शंकर्स अद्वैत' नाम के ऐसे लेख लिखे है जिनमें आचार्य शंकर की प्रमाण मीमांसा, आचार मीमांसा तथा तत्व मीमांसा की सम्पूर्ण विवेचना उपलब्ध होती है। दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से इस लेखमाला मे शांकर सिद्धान्तों के विवेचक लेखों का अच्छा संग्रह हुआ है।

हिन्दी भाषा में कार्य :

उमा दत्त शर्मा के 'शंकराचार्य' ग्रन्थ में आचार्य शंकर के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार स्वामी परमानन्द के 'शंकराचार्य जीवन चरित्र' में स्वामी शंकराचार्य के जीवन इतिहास को मार्मिक ढंग से लिखा गया है। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने 'श्री शंकराचार्य ग्रन्थ में आचार्य शंकर के जीवन चरित्र, कार्य एवं सिद्धान्तों की सारगर्भित सूक्ष्म विवेचना की है। 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ में गंगा प्रसाद उपाध्याय ने शंकराचार्य के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है और माया एवं अविद्या का विवेचन भी इस ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक किया है। डॉ० रामानन्द तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन' में आचार्य शंकर के आचार सिद्धान्तों की गम्भीर मीमांसा की है। 1964 में डॉ० राममूर्ति

शर्मा का शोध प्रवन्ध 'शंकराचार्य' प्रकाशित हुआ जिसमें विद्वान लेखक ने शंकर के माया वाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है। प्रो० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन' और डॉ० उमेश मिश्र का 'भारतीय दर्शन' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन दोनों ग्रन्थ-रत्नों में विद्वान लेखकों ने आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना बहुत ही रोचक एवं हृदय स्पर्शी ढंग से की है। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान राजेन्द्र नाथ घोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "आचार्य शंकर ओर रामानुज" में स्वामी शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। विद्वान लेखक की विवेचना आचार्य शंकर के सिद्धान्तों को समझने में अत्यन्त सहायक है। डॉ० राम मूर्ति शर्मा का डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध 'अद्वैत वेदान्त' अद्वैतवादी सिद्धान्तों की विवेचना का महा कोष है। इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विद्वान लेखक ने आचार्य शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों की बड़ी मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

गीता प्रैस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के वेदान्तांक (अगस्त 1936) में सारे वेदान्त दर्शन का सार निहित है किन्तु ईश्वर जीव और संसार के सम्बन्ध में भगवान् श्री शंकराचार्य के विचार विषय पर तत्कालीन पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ जी का लेख, 'श्री शंकराचार्य का अनुभव विश्लेषण' नामक एस० बी० दाण्डेकर एम० ए० का लेख, डॉ० एम० एच० सय्यद का 'वेदान्त शिक्षा की कुछ बातें नामक लेख, भगवान् शंकराचार्य और द्वारिका पीठ' नामक विनयतौष भट्टाचार्य एम० ए०, पी० एच० डी० का लेख, 'प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शंकर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध' नामक महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज एम० ए० का लेख तथा 'व्यवहार क्षेत्र में अद्वैत ज्ञान की उपयोगिता' नामक पं० श्री प्रेमनाथ जी तर्क भूषण का लेख ऐसी श्रेणी में आते है। जिनसे आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिलती है। 'कल्याण' का ही 'उपनिषद्' अंक (जनवरी 1949) इस दृष्टि से पठनीय है। इसके अन्तर्गत पं० श्री राम गोविन्द जी त्रिवेदी का 'उपनिषद् और अद्वैतवाद', स्वामी करपात्री जी महाराज का 'उपनिषद् तात्पर्य', के० एस० राम स्वामी शास्त्री का ब्रह्म और ईश्वर सम्बन्धी औपनिषदिक विचार तथा पं० हरि कृष्ण जी झा का 'जीवात्मा और परमात्मा की एकता' आदि ऐसे लेखों का प्रकाशन हुआ जो शांकर अद्वैतवाद की दृष्टि से पठनीय है। 'गीताधर्म' के शकं-राकं (काशी, 1936 मई) मे स्वामी शंकराचार्य के जीवन चरित्र तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पठनीय सामग्री का संग्रह हुआ है। 'विश्व-ज्योति' के उपनिषद् अंक (जून-जुलाई 1976) में डॉ० विश्व बन्धु का 'ब्रह्मात्मवाद की सामाजिक मीमांसा; डॉ० राजेन्द्र कुमार गर्ग का 'उपनिषद्-तत्व दर्शन' तथा 'उपनिषद् प्रतिपादित परा और अपरा विद्याएँ' आदि लेखों को पढ़ने से आचार्य शंकर के सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिलती है। "सौभाग्य" पत्रिका के शंकराचार्यकं (1973) में आचार्य शंकर का विस्तार से जीवन चरित्र, उनका अद्वैत-

वाद तथा उनकी चारों मठों की व्यवस्था आदि विषयों पर अत्यन्त सारगर्भित लेख मिलते हैं।

स्वामी शंकराचार्य से सम्बन्धित उपर्युक्त अध्ययन सामग्री पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कार्य आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्त, जीवन चरित्र, आचार-मीमांसा अथवा तत्व मीमांसा आदि से सम्बधित हुआ है किन्तु जगद्गुरुशंकराचार्य केवलमात्र दार्शनिक विचारक अथवा धर्माचार्य ही नहीं वरन् वह एक उच्चकोटि के शिक्षा-दार्शनिक भी है। अतः उनके शिक्षा-दर्शन का विधिवत् अध्ययन न होना खेदजनक है। आधुनिक युग में शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में अनेक अनुसन्धान हुए हैं। किन्तु उन सबका सम्बन्ध अधिकतर महात्मा गाँधी, अरविन्द, टैगोर तथा स्वामी विवेकानन्द आदि से रहा है। "अनुसन्धान के क्षेत्र में सबसे अधिक लोकप्रिय विषय महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन रहा है। भली-भाँति विस्तारपूर्वक अध्ययन किये जाने वाले अन्य शिक्षा विचारक हैं—टैगोर, राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द तथा एनी बेसेन्ट। अन्य उल्लेखनीय अध्ययन गीता, उपनिषद् तथा शाह वलीउल्लाह के शैक्षिक विचारों पर हैं।"

शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में आधुनिक शोध कर्त्ताओं ने भी आचार्य शंकर के शैक्षिक अध्ययन की सर्वथा उपेक्षा की है। इस सम्बन्ध में थोड़ा प्रयास आर० के० मुकर्जी का एनशिएंट इन्डिया एजूकेशन में दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक युग में इस दिशा में लघु किन्तु प्रेरणादायी तथा सशक्त प्रयास डा० रामशुकल पाण्डेय रीडर (एजूकेशन) मेरठ विश्वविद्यालय का स्तुत्य है। डा० साहब ने अपने ग्रन्थ शिक्षा के मूल सिद्धान्त में जगद्गुरु शंकराचार्य के शिक्षा दर्शन पर एक पूर्ण अध्याय (इक्कीसवाँ) लिखकर इस सम्बन्ध में शोध कार्य की आधारभूमि का निर्माण करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इतना होने पर भी ये दोनों प्रयास विषय की गम्भीरता एवं गहनता तथा महत्ता को देखते हुए प्रारम्भिक स्तर के ही कहे जा सकते हैं। इस प्रकार शोध कर्त्ता के ज्ञान में ऐसा कोई स्तरीय अध्ययन नहीं है जिसमें शंकर शिक्षा-दर्शन की पूर्ण विवेचना की गई हो। अतः स्वामी शंकराचार्य के शिक्षा दर्शन पर विस्तृत एवं समीक्षात्मक रूप में अध्ययन करने की प्रेरणा शोध कर्त्ता को मिली।

अध्ययन के उद्देश्य

मानव जीवन में सोद्देश्यता की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है उद्देश्य को दृष्टिगत करके मनुष्य अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न करता है। उद्देश्यों के अभाव में मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये व्यक्ति प्रयत्नशील होकर शिक्षा ग्रहण करता है। इस प्रकार शिक्षा मानव जीवन में अनवरत चलने वाली एक सोद्देश्य प्रक्रिया है। शिक्षा ही क्यों, कोई भी कार्य मानव जीवन में निरुद्देश्य नहीं होता है। वस्तुतः उद्देश्यों से व्यक्ति को अपने गन्तव्य का पता चलता है। किसी ग्रन्थ रचना के उद्देश्यों से उसके लेखक के जीव-

नोद्देश्यो का बोध होता है। अतः आचार्य शंकर "शास्त्र को परम्परा से विशिष्ट सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनवाला मानते हैं।[1]" अपने प्रत्येक भाष्य ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने भाष्य के अन्तर्गत समस्त ग्रन्थ के प्रयोजन (उद्देश्य) की मीमांसा की है। इस प्रकार हम जीवन में सर्वत्र सौद्देश्यता के दर्शन करते हैं। वस्तुतः निरुद्देश्यता जीवन की सार्थकता के विपरीत है। जीवन की गतिशीलता, उन्नयनता एवं अग्रसरता का स्रोत उसके उद्देश्यों में निहित रहता है। अतः कोई भी शोध प्रबन्ध निरुद्देश्य होकर उक्त सिद्धान्त का अपलाप नहीं करता है। शोध कर्त्ता की प्रवृति उद्देश्यों के बिना शोध-प्रबन्ध रचना में नहीं हो सकती है। वह कतिपय उद्देश्यों के आधार पर ही अपनी शोध प्रबन्ध रचना में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार हर शोध प्रबन्ध के अपने उद्देश्य होते है। अतः प्रस्तावित शोध- प्रबन्ध के उद्देश्यों की प्रस्थापना निम्नलिखित प्रकार से की गई है—

(1) शंकराचार्य-प्रणीत मूल ग्रन्थो तथा भाष्य ग्रन्थों एवं स्तोत्र रचनाओं के आधार पर उनके दार्शनिक विचारों का अध्ययन करना।

(2) आचार्य शंकर के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में उनके शिक्षा दर्शन का पता लगाना।

(3) शांकर ग्रन्थों के आधार पर शिक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करना।

(4) आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित जीवनोद्देश्यों की दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना।

(5) शांकर दर्शन में प्रतिपादित जीवनोद्देश्यों की पृष्ठभूमि मे विकसित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु शिक्षा पद्धतियों की मीमासा करना।

(6) आचार्य शंकर द्वारा अपने ग्रन्थों मे प्रतिपादित शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वरूप की विवेचना करना।

(7) शांकर दर्शन में प्रतिपादित आध्यत्मिक शिक्षा की संकल्पना की विवेचना करना।

(8) आचार्य शंकर के धार्मिक विचारों के आधार पर विकसित धार्मिक शिक्षा पर विचार करना।

(9) शंकराचार्य के दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शैक्षिक विचारों की पृष्ठभूमि मे पाठ्यक्रम पर विचार करना।

(10) प्रचलित भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा-दर्शनों के सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन करना।

---

1. माण्डूक्योपनिषद् (शां० सम्बन्ध भाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर सं० 2030, पृ० 21।

अध्ययन में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों का परिभाषिकरण :

प्राय: यह देखने में आता है कि दार्शनिक विचारक और विद्वान लेखक कतिपय शब्दों का प्रयोग प्रचलित अर्थों से भिन्न करते हैं। उनका यह प्रयोग विशिष्ट अर्थों में हुआ करता है। इस प्रकार के विशिष्ट अर्थ-सम्पन्न शब्दों के अर्थ जन सामान्य के ज्ञान की सीमा से बाहर होते हैं। इस प्रकार के शब्दों को तकनीकी शब्द कहते हैं। आचार्य शंकर ने अपने दार्शनिक विवेचन में अनेक प्रकार के तकनीकी शब्दों का प्रयोग किया है। इन तकनीकी शब्दों की व्याख्या इस दृष्टि से अपेक्षित है कि आगामी पृष्ठों में की गई विवेचना को पाठकवृन्द सहज रूप में ग्रहण करने में सक्षम हो सकें। अत: निम्नांकित तकनीकी शब्दों का संग्रह शांकर दर्शन से करके उन्हीं ग्रन्थों में की गई व्याख्या को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

ब्रह्म:—शांकर वेदान्त का मूल तत्व ब्रह्म है। वह जगत् की उत्पति. स्थिति तथा लय का कारण है। पारमार्थिक रूप में वह निर्गुण है किन्तु व्यावहारिक रूप में वही सगुण है। निर्गुण ब्रह्म को परब्रह्म और सगुण ब्रह्म को अपर ब्रह्म अथवा ईश्वर भी कहा जाता है। ब्रह्म के ये दोनों भेद वास्तविक नहीं हैं। केवल मात्र दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो शंकर दर्शन में निर्गुणब्रह्म अथवा परब्रह्म ही मूल सत्ता है किन्तु व्यवहार के लिये, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है यही ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्व है।[1]

आत्मा:—भगवान् शंकराचार्य के अनुसार प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि, 'मैं नहीं हूँ"। यदि आत्मा न होता तो सब किसी को अपने न होने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता ही नही। अत: आत्मा की स्वत: सिद्धि माननी ही पड़ती[2] है। वह आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, कारण रहित, अर्न्तवाह्य शून्य, परिपूर्ण आकाश के समान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल निर्गुण, निष्कल और निष्क्रिय है।[3] इसलिये शंकर के अनुसार आत्मा इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एकमात्र अखण्ड सत्ता है। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।[4] जिस प्रकार मायावछिन्न ब्रह्म 'सगुण ब्रह्म' अथवा 'ईश्वर' कहलाता है, उसी प्रकार

---

1. डा० राममूर्ति शर्मा—अद्वैतवेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज दिल्ली–6, पृ० 146।
2. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1) गोविन्दमठ टेडीनीम वाराणसी पृ० 30)
3. "माण्डूक्योपनिषद् शांकर भाष्य गीता-प्रेस गोरखपुर पृ० 119-20।
4. वही

आत्मा का वह चैतन्य जो अन्त: करण के द्वारा अवच्छिन्न होता है, 'जीव कहलाता है। इस प्रकार दोनों में ऐक्य होने से यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है।

जगत्—ब्रह्म पारमार्थिक (निरपेक्ष) रूप से सत्य है किन्तु जगत् व्यावहारिक (सापेक्ष) रूप से। जब तक हम जगत् में रहकर उसके कार्यों में ही लीन रहते हैं और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त में समर्थ नहीं होते तब तक इस जगत की सत्ता हमारे लिये बनी ही रहेगी परन्तु जैसे ही परम तत्व का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है वैसे ही जगत् की सत्ता मिट जाती है अत: शांकर दर्शन में ब्रह्म कारण है और जगत उसका कार्य। इस प्रकार ब्रह्म-जगत् में कारण-कार्य का सम्बन्ध है किन्तु शंकराचार्य कार्य-कारण की अभिन्नता[1] को स्वीकार करने से एकमात्र कारणरूप ब्रह्म का ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्य पदार्थ के रूप में प्रतिपादन करते है। इसीलिये उनके अनुसार इस जगत की एक कारण पूर्वकता है। जिस एक कारण से यह उत्पन्न हुआ वही एक तत्व परमार्थत: ब्रह्म है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शंकर व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य मानते हैं किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।[3]

अध्यास—शारीरक भाष्य के उपोद्घात में आचार्य शंकर ने अध्यास स्वरूप का निर्णय बड़ी सरल सुबोध भाषा में किया है। आचार्य के शब्दो में तत्पदार्थ में अतद् (तद्‌भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना अध्यास[4] कहलाता है। अर्थात किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के धर्मों (गुणों) आरोप करना अध्यास है। जैसे पुत्र या स्त्री से सत्कृत या तिरस्कृत होने पर जब मनुष्य अपने को सत्कृत या तिरस्कृत समझता है तब वह अपने में वाह्य धर्मों का आरोप कर रहा है। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मो के कारण जब कोई व्यक्ति अपने को अन्धा, लंगड़ा. चलने वाला तथा खड़ा होने वाला समझ लेता है तब वह अपने अभ्गंतर धर्मों का आरोप करता है। आचार्य शंकर के अनुसार यह अध्यास अनादि है, अनन्त है, नैसर्गिक है, मिथ्याज्ञान रूप है "कर्तृव्य और भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सब के लिये प्रत्यक्ष है।[5] यह अध्यास ही अज्ञान है। इस अध्यास का निराकरण करने का एकमात्र उपाय

---

1. ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य (2-2-6-15)
2. वृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2-5-1) गीता प्रेस गोरखपुर पृष्ठ 619
3. (छांदोयोपनिषद शाँ० भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 619
4. "(ब्रह्मसूत्र, शा० भा० (उपोद्‌घात), टेढ़ीनीम वाराणसी पृ० 17)
5. "(ब्रह्मसूत्र शां० भा० (उपोद्‌धात) पृ० 18)

आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है।[1] वर्तमान मनोविज्ञान (Psychology) की भाषा में इसे एक तरह का वहिरारोप (Projection) कहेंगे।

विवर्त—शांकर वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण रूप ब्रह्म ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्यदार्थ है। उससे उत्पन्न होने वाला यह जो जगत है, मिथ्या है, कल्पना मूलक है। अतः कारण (ब्रह्म) ही एक मात्र सत्य है। कार्य (जगत्) मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। वेदान्त सार में दोनों के भेद पर प्रकाश डालते हुये कहा है "तात्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहते है"[2] दही, दूध का विकार है परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है।

अनिर्वचनीय (मिथ्या)—जगत् के लिये शांकर दर्शन मे 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रचलन है। इस शब्द का अर्थ है जिसका निर्वचन-लक्षण ठीक ढंग से न किया जा सके, जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि दीपक के लाने और रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान बाधित हो जाता है किन्तु उसे असत् भी नही कहा जा सकता, क्योंकि उस रज्जु के भय के कारण कम्प आदि की उत्पत्ति होती है। रस्सी को सांप समझकर ही आदमी डर के मारे भाग खड़ा होता है। अतः यह सर्प का ज्ञान सद् (वास्तविक) और असद् (अवास्तविक) उभय विलक्षण होने से अनिवर्चनीय या मिथ्या कहलाता है। इस प्रकार शांकर वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ असत् नहीं है। प्रस्तुत अनिर्वचनीय है।

माया (आवरण और विक्षेप)—शांकर वेदान्त में भ्रम, अज्ञान अथवा अविद्या का नाम माया है। माया के दो कार्य है—आवरण और विक्षेप। आवरण का अर्थ है यथार्थ स्वरूप को ढ़क देना। विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। इस प्रकार माया जगत् के आधार ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देती है ओर उस पर संसार का आरोपण कर ब्रह्म को जगत् के रूप में अवभासित करती है। सृष्टि की माया की व्याख्या आचार्य शंकर ने दो प्रकार से की है। ईश्वर के लिये वह केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर उस माया से स्वयं प्रभावित नही होता है। सामान्य व्यक्ति जो अज्ञानी हैं उसे देखकर भ्रम मे पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म में नाना प्रकार की वस्तुओं के दर्शन करने लगते है। इस प्रकार माया सामान्य व्यक्तियों के लिये भ्रम का कारण होने से अज्ञान अथवा अविद्या कहलाती है।

---

1. (ब्रह्मसूत्र शां० भा० पृ०12)
2. श्री सदानन्द-वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1964, पृ०47

सत्य—'सत्' वह है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित (विरुद्ध) न हो और 'असत्' वह है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो। घनघोर अन्धाकारयुक्त रात में मार्ग में पड़ी रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी को देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यहाँ पहले का सर्प-ज्ञान अब रज्जु-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अत: रज्जु में सर्प-ज्ञान बाधित होने से मिथ्या है परन्तु यदि मेंढकों कीं आवाज सुनकर हमें उनमें खाने वाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजली चमकने से घास में भागने वाला सांप दिखाई पड़े तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित (अविरुद्ध) होने से सत्य है। अत: वेदान्त में सत्य को 'त्रिकालाबाध्य' माना जाता है अर्थात् जो सभी कालों—भूत, भविष्यत् और वर्तमान में विद्यमान हो, किसी भी काल में जिसका बाध न हो एवं जो सर्वत्र अवस्थित हो, वह त्रिकालाबाधित सर्वानुगत सत्य है। जैसे 5+5=10 ही होता है, किसी भी समय में एवं किसी भी देश (स्थान) विशेष में 5+5 न तो 9 होता है, न 11, वैसे वह सर्वात्मा परमार्थ सत्य ब्रह्म भी भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों काल में जगत् के आदि मध्य एवं अन्त में तथा सभी प्रदेशों में, समस्त पदार्थों में अखण्ड—एक रस अविकृत रूप से अवस्थित है। यदि उस परमार्थ सत्य को कोई भी व्यक्ति छोड़ना चाहे या उससे पृथक् या विमुख होना चाहे, तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसका सभी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

सत्तात्रयी—जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करने में आचार्य शंकर ने तीन प्रकार की सत्तायें (अस्तित्व) स्वीकार की है—(1) प्रातिभासिक, (2) व्यावहारिक और (3) पारमार्थिक।

(1) **प्रातिभासिक सत्ता**—यह सत्ता वह है जो प्रतीती काल में सत्य प्रतिभासित हो, परन्तु पीछे बाधित हो जाये, जैसे रज्जु में सर्प और सीपी मे चाँदी। रज्जु में होने वाला सर्प ज्ञान पूर्वकालीन है और रज्जु-ज्ञान उत्तरकालीन है। जब तक रज्जु-ज्ञान नहीं होता तब तक सर्प-ज्ञान बना ही रहता है। इसी प्रकार समस्त प्रतीतियो मे उत्पन्न ज्ञान अपने उत्तर कालीन ज्ञान से समाप्त होकर यथार्थज्ञान का द्वार खोलता है। यही प्रतिभासिक सत्ता कहलाती है।

(2) **व्यवहारिक सत्ता**—यह वह सत्ता है जो इस जगत के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थो में रहती है। पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते है—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म में है और अन्तिम दो जगत् में। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई नाम और कोई न कोई रूप है। वस्तुओं की सत्ता मानना व्यवहार के लिये नितान्त आवश्यक है, परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है, अत: जगत् एकान्त सत्य नहीं है।

व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है। इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है, जो शाश्वत सत्य होने से व्यावहारिक सत्ता से ऊपर होता है। वही ब्रह्म है।

(3) **पारमार्थिक सत्ता**—यह वास्तविक सत्ता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की सत्ताओं से विलक्षण एक अन्य सत्ता है जो तीनों कालों में अबाधित होने से शाश्वत सत्य है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में एक रूप रहने वाला है। वही ब्रह्म है। अतः ब्रह्म की ही सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते हैं।

अध्ययन का परिसीमन :

श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार, "आचार्य शंकर उच्चकोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले सन्यासी थे। लोक के निर्वाह के लिये नितान्त व्यवहार कुशल पण्डित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द-स्त्रोत बहाने वाले भावुक कवि थे। भगवती ललिता के परम उपासक सिद्धजन थे। वह युगान्तरकारी सिद्ध पुरुष थे। उन्हें साक्षात भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। वह भगवान् की सतत् दीप्तिमान् दिव्य विभूति हैं। इसीलिए उनकी आभा शताब्दियों के बीतने पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो रही है।"[1] इस उक्ति में आचार्य शंकर के बहुमुखी प्रतिभावान् व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उनके महान् कृत्तित्व में उनका विराट व्यक्तित्व झांकता है। जीवन की सर्वांगीण व्याख्या उनके दार्शनिक विचारों में निहित है। उन्होंने अपने अमर सिद्धान्त—'अद्वैतवाद' की मीमांसा अपने जीवन-कार्यों के रूप में प्रस्तुत की है। अतः डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी।—····· वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नहीं थे, वरन् एक कर्मवीर कल्पनाविहारी व्यक्ति थे। दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर पुरुष थे, जिसे हम विस्तृत अर्थों में एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते है।"[2] इस प्रकार आचार्य शंकर का व्यक्तित्व सागर जैसा गम्भीर तथा हिमालय जैसा ऊँचा है। उसमे नाना प्रकार के रत्न, बहु-मूल्य पदार्थ एवं सारभूत वस्तु के रूप में

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 336.
2. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग 2, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृष्ठ संख्या 660.

चिन्तन-मनन तथा विचार की उपलब्धि होती है। जीवन का हर पक्ष अपनी व्याख्या उनके सिद्धान्त में प्राप्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उनके शैक्षिक विचारों तक सीमित किया गया है। अपने युग में वह एक महान् शिक्षक तथा शिक्षाशास्त्री के रूप में कार्यरत रहे हैं। उनके महान् व्यक्तित्व के इसी पक्ष को प्रस्तुत करने का मुख्य लक्ष्य प्रस्तुत अध्ययन का है।

जगद्गुरु शंकराचार्य ऐतिहासिक महापुरुषों में शिरोमणि हैं। अत: उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियों का प्रचलित होना स्वाभाविक है। उनके सम्बन्ध में कहीं-कही उनके अनुयायियों में भी एकमतता नही दृष्टिगोचर होती है। आचार्य शंकर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद इतिहासज्ञों में प्रचलित है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में उपर्युक्त विवादों, मतभेदों तथा मतवैभिन्य के निराकरण के लिए प्रयास नहीं किया गया है। उनके सम्बन्ध मे बहु-प्रचलित मतों को आधार मानकर शोध-प्रबन्ध में यथास्थान उन्हें रखने का प्रयास किया गया है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है—शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन की समीक्षा करना। इसीलिए शोधकर्त्ता ने शंकराचार्य के ऐतिहासिक परीक्षण को अनावश्यक एवं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की विषयवस्तु से भिन्न तथा अनुपयोगी मानते हुए अपनी विवेचना को उपर्युक्त विवादों के निराकरण से मुक्त रखा है।

आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य की शिष्य परम्परा आजतक प्रचलित है। उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों के अध्यक्ष आज भी 'शंकराचार्य' से नाम से अभिहित होते है। अत: आदि शंकराचार्य—प्रणीत ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार "यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने (आचार्य शंकर) कितने तथा किन-किन ग्रन्थों की रचना की थी। शंकराचार्य की कृति के रूप में दो सौं से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते है।"[1] इस कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विवेचना को शंकर-प्रणीत बहुमान्य ग्रन्थों तक सीमित रखा गया है। अधिकांश विद्वान् जिन ग्रन्थों को असन्दिग्ध रूप से आचार्य शंकर की कृति के रूप में स्वीकार करते हैं उन्ही के आधार पर शोधकर्त्ता ने अपनी मीमांसा का विकास किया है। ग्रन्थों की प्रामाणिकता का परीक्षण करने का प्रयास नहीं किया गया है, केवलमात्र बहुमान्य ग्रन्थों को आधारभूत मानकर आचार्य शंकर के शैक्षिक विचारों की विवेचना करना शोध-प्रबन्धकार को अभीष्ट रहा है। अत: प्रस्तावित अध्ययन को शंकर-प्रणीत बहुमान्य ग्रन्थों तक ही सीमित रखा गया है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद, 1963, पृष्ठ सं० 149.

आचार्य शंकर भारतवर्ष के आध्यात्मतत्वविद् मनीषियों, धर्माचार्यों तथा शिक्षाविदों में अग्रगण्य है। वह अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक होने के साथ-साथ वैदिक धर्म में नवीन प्राण नूतनस्फूर्ति एवं अभिनव प्रेरणा प्रदान करने वाले महान् आचार्य है। उनके प्रकार व्यक्तित्व तथा प्रेरणादायी कृतित्व का प्रभाव देश की धार्मिक, शैक्षिक तथा सामाजिक संस्थाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। अतः आचार्य बलदेव उपाध्याय के वे शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें आचार्य शंकर की मंगलमयी अवतारणा के फलस्वरूप होने वाले प्रभावों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है, "वैदिक धर्म का शंखनाद ऊँचे स्वर से सर्वत्र होने लगा। उपनिषदों की दिव्य-वाणी देशभर में गूँजने लगी, गीता का ज्ञान अपने विशुद्ध रूप में जनता के सामने आया लोगों को ज्ञान की गरिमा का परिचय मिला, धार्मिक आलस्य का युग बीता, धार्मिक उत्साह से देश का वायुमण्डल व्याप्त हो गया, धर्म के इतिहास में नवीन युग का आरम्भ हुआ।"[1]

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि आचार्य शंकर ने अपने व्यक्तित्व की दिव्य आभा से राष्ट्र के विविध क्षेत्रों को आलोकित किया था। अतः धर्म, संस्कृति एवं शिक्षा को उन्होंने अवश्य प्रभावित किया होगा। वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु देश की चारों दिशाओं में उनके द्वारा स्थापित पीठ इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। इन चारों पीठों की देख-रेख में अनेक शिक्षा संस्थाओं का प्रचलन हुआ होगा जैसा कि आज भी श्रृंगेरी पीठ के अधीन चलने वाले संस्कृत विद्या मन्दिर है। इसी प्रकार समस्त देशों में फैली हुई संस्कृत की शिक्षा-संस्थाएँ किसी सीमा तक आचार्य शंकर की शैक्षिक मान्यताओं से अवश्य प्रभावित हुई परिलक्षित होती है। प्राचीन-काल से ही देश में अनेक प्रकार के साधु-समाज तथा संन्यासियों के संगठन राष्ट्रोत्थान-हेतु धर्म के प्रचार-प्रसार में कार्यरत रहे हैं, जैसा कि आज भी शंकर-दर्शन के उद्‌भट विद्वान् तथा शंकर सम्प्रदाय के संन्यासियों में शिरोमणि स्वामी करपात्री जी महाराज की संस्था 'धर्मसंघ' है। इस प्रकार की अनेक धार्मिक, शैक्षिक एवं समाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं पर आचार्य शंकर की दार्शनिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

भगवान् शंकराचार्य के 'शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करते समय उपर्युक्त संस्थाओं पर पड़ने वाले उनके प्रभाव की समीक्षा करना वांछनीय हो जाता है किन्तु प्रस्तावित अध्ययन को इस प्रकार की विवेचना से मुक्त रक्खा गया है। शोध-प्रबन्ध को शंकर शिक्षा-दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित रक्खा गया है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहबाद, 1963 पृष्ठ सं० 4.

उसके व्यावहारिक पक्ष की विवेचना को शोध प्रबन्ध की सीमा से बाहर रक्खा गया है।

जगद्गुरु आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने क्रमश: अपने नए मतों— विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की थी। इन वैष्णव आचार्यों की स्थापना का आधार भगवान् शंकराचार्य की भक्ति औपनिषद् दर्शन रहा है। इस प्रकार शंकराचार्य सहित उपर्युक्त रामानुजाचार्य आदि सभी आचार्य अपने युग के महान् शिक्षक तथा उच्चकोटि के शिक्षाविद् रहे हैं। अत: आचार्य शंकर तथा अन्य रामानुजाचार्य आदि के शैक्षिक दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इस क्षेत्र में शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी हो सकता है, किन्तु शोध-प्रबन्ध के कलेवर की अनावश्यक वृद्धि के निराकरण के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध को इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से मुक्त रक्खा जाये।

आधुनिक युग में भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों में ऐसे बहुत से मनीषी है जिनके साथ आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में शोध-कार्य हेतु नए आयामों की सृजना की जा सकती है। भारतवर्ष के आधुनिक युग के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा महात्मा गाँधी आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि इन सभी शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों को वेदान्त के शिक्षा-दर्शन ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अत: आचार्य शंकर की इनके साथ तुलना करने से शिक्षा के शोध-क्षेत्र मे नई स्थापनाओ की सम्भावना बढ जाती है। इसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक विचारों के साथ शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करना अपना महत्त्व रखता है किन्तु प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध को उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से मुक्त रखकर आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन को विवेचना मात्र तक ही सीमित रखा गया है।

शोधविधि का विहङ्गम प्रस्तावीकरण :

वर्तमान अध्ययन मूलरूप से शंकराचार्य के ग्रन्थो के आधार पर उनके शिक्षा-दर्शन को सुव्यवस्थित करने और उनके दर्शन के प्रयोगात्मक आधार पर शिक्षा का स्वरूप, उद्देश्य तथा मूल्य और शिक्षा पद्धतियाँ आदि की मीमांसा प्रस्तुत करने हेतु सुनियोजित किया गया है। उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु ऐतिहासिक अनुसन्धान विधि को अपनाया गया है। वास्तव मे इस विधि का चयन विषय के ऐतिहासिक तत्वों के कारण किया गया है। शंकराचार्य का शिक्षा-दर्शन अतीत में उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थो, उनके जीवन-दर्शन पर आधारित अन्य लेखकों के ग्रन्थों,

वांच्छित शोध एवं धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षा-दर्शन की पुस्तकों में दृष्टिगोचर होता है। अतः इस दर्शन का शैक्षिक सन्दर्भ में सांगोपांग अध्ययन करने के लिए इन ग्रन्थों का अवलोकन-आलोडन-विलोडन आवश्यक समझा गया है। ये सभी ग्रन्थ ऐतिहासिक स्रोतों से सम्बन्धित हैं और इन्हीं ग्रन्थों के विवेचन के आधार पर जगद्गुरु शंकराचार्य की न केवल दार्शनिक विचारधारा ही सुव्यवस्थित रूप में उभरकर सामने आती है, अपितु शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, निर्माण, शिक्षा-पद्धतियों तथा शिक्षक-शिक्षार्थियों इत्यादि के सम्बन्ध मे उनका मौलिक चिन्तन भी उभरकर सामने आता है।

शंकराचार्य प्रणीत ग्रन्थों उनसे सम्बन्धित पुस्तकों, शोध पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षा सम्बन्धी साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया गया है। प्रत्येक पुस्तक को पढ़ते समय यह ज्ञात करने का सतत् प्रयास रहा है कि जगद्गुरु शंकराचार्य जी की जीवन के सम्बन्ध में मूल धाराणाएँ क्या थीं, उनकी दार्शनिक विचारधारा के मूलतत्व क्या थे, उनके शिक्षा-दर्शन की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं और शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में उनके दार्शनिक चिन्तन के क्या निहितार्थ (इम्पलीकेशंस) थे। इसी सन्दर्भ मे यह भी स्थिर करने का प्रयास किया गया है कि आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा का स्वरूप, उद्देश्य एवं मूल्य, पद्धतियाँ तथा शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्ध आदि क्या होने चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी शोध का विषय रहा है कि उनकी आध्यात्मिक तथा धार्मिक शिक्षा और वर्तमान युग के राजनीतिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर उनके अनुसार पाठ्यक्रम की रूप-रेखा कैसी होनी चाहिए। अन्त में विभिन्न ग्रन्थों के आलोचनात्मक अध्ययन के द्वारा भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा-दर्शनों के सन्दर्भ में जगद्गुरु शंकराचार्य की शिक्षा-पद्धति का मूल्यांकन करने का भी प्रयास किया गया है।

शोधकर्त्ता ने विषय की जटिलता और गम्भीरता को दृष्टि मे रखते हुए, उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठों के वर्तमान शंकराचार्यों से सम्पर्क स्थापित कर उनका वैयक्तिक रूप से साक्षात्कार लेने का भरसक प्रयास किया है जिनमें सम्प्रति ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती[1] से अमूल्य एवं महत्वपूर्ण विचार विमर्श ने अनेक शंकाओं का समाधान कर कुशल मार्ग दर्शन किया है। शंकर-सिद्धान्त-मर्मज्ञ, मूर्धन्य, सुविज्ञ, सुविख्यात विद्वान मनीषी, धर्मसम्राट एवं युग केसरी स्वामी करपात्री जी महाराज[1] के वैयक्तिक साक्षात्कार एवं उनकी सहज, सरल, सुबोध, सौहार्दपूर्ण कृपा-दृष्टि से विषय की अनेक जटिल एवं गम्भीर समस्याओं का निराकरण हुआ है और

---

1. साक्षात्कार की रिपोर्ट के लिए परिशिष्ट—2 देखिये।
2. साक्षात्कार की रिपोर्ट के लिए परिशिष्ट—1 देखिये।

अनेक तथ्यों का प्रकटीकरण करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है। काशी-स्थित सुमेरु पीठ के सम्प्रति जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी शंकरानन्द जी महाराज से अल्प-कालीन भेटवार्ता ने शोधकर्त्ता को विनय-वस्तु के स्पष्टीकरण मे महत्वपूर्ण योग दिया है। डा० रामनाथ शर्मा, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मेरठ कालिज के साथ समय समय पर शंकर-दर्शन पर विचारविमर्श ने अनेक जटिल समस्याओं का निराकरण कराने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उपर्युक्त मनीषियों एव विद्वानो से साक्षात्कार एवं भेटवार्ता से पूर्व ही शोकर्त्ता ने कठिन-जटिल और विवादास्पद विषय से सम्बधित तथ्यों को प्रश्नावली के रूप मे क्रम से तैयार कर लिया था ताकि शोध-प्रबन्ध के विषय से सम्वधित तथ्यों का स्पष्टीकरण सही रूप में प्रस्तुत हो सके।

शंकर-प्रणीत ग्रन्थों के अध्ययन तथा विद्वानों के वैयक्तिक साक्षात्कार एव भेटवार्ताओं के अतिरिक्त वैदिक दर्शन एव शंकर-सिद्धान्त के मर्मज्ञ, चिन्तन-मनन-आलोडन-विलोडन कर विषय को सुग्राह्य एवं बोधगम्य करके प्रस्तुत करने में अहर्निशरत उच्चकोटि के दार्शनिक विचारको से पत्र व्यवहार करने की तीसरी प्रविधि को भी अपनाया गया है ताकि इन कतिपय विद्वानो के मौलिक एवं सारगर्भित विचारों को लिखित रूप मे प्राप्तकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यथोचित स्थान पर प्रस्तुत किया जा सके। इस पत्र व्यवहार की प्रणाली के अन्तर्गत सम्प्रति पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निरञ्जनदेवतीर्थ जी महाराज से प्राप्त महत्वपूर्ण विषय-सामग्री का यहाँ उल्लेख करना समीचीन है।[1]

उपर्युक्त सभी स्रोतो एवं प्रविधियो से प्राप्त विषय-सामग्री को विधिवत् व्यवस्थित करने मे यह प्रयास किया गया है कि जगद्गुरु शकराचार्य के दर्शन-सम्बन्धी मूल (सस्कृत) उद्धरणों को निम्न पदो मे विभाजित कर लिया जाय—

1. दार्शनिक विचार।
2. शैक्षिक दर्शन की विशेषताएँ।
3. शिक्षा का स्वरूप।
4. शिक्षा के उद्देश्य तथा मूल्य।
5. शिक्षा पद्धतियाँ।
6. शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्ध।
7. पाठ्यक्रम।

उपर्युक्त व्यवस्थित विषय-सामग्री को वैज्ञानिक, शिक्षा-शास्त्रीय, दार्शनिक एवं शैक्षिक अनुसन्धान के सन्दर्भों में मूल्यांकित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास के फलस्वरूप विषय-सामग्री को नौ अध्यायों मे विभाजित किया गया है।

---

1. देखिये परिशिष्ट—3 व 4।

प्रथम अध्याय में अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व, सम्बन्धित पूर्व अध्ययन, उद्देश्य तथा लक्ष्य का परिसीमन तथा अध्ययन-विधि का संकेत किया गया है। द्वितीय अध्याय में शंकर-शिक्षा-दर्शन की ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृति एव सामाजिक पृष्ट-भूमियाँ विवेचित की गई हैं। तीसरे अध्याय में शंकराचार्य जी की दार्शनिक विचारधारा के प्रमुख तत्वों—ब्रह्म-विचार, आत्मा का विचार, जगत् का विचार तथा मोक्षविचार की व्याख्या की गई है। चतुर्थ अध्याय में शिक्षा का स्वरूप और पाँचवें अध्याय मे शिक्षा के उद्देश्य तथा मूल्यांकन स्थिर किये गये है। छटा अध्याय शंकराचार्य की दार्शनिक विचारधारा के सन्दर्भ में जहाँ शिक्षा पद्धतियों का विवेचन करता है, वहाँ सातवें अध्याय में उनके शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्धी विचारों की मीमाँस करने का प्रयास किया गया है। आठवें अध्याय मे उनकी इस विचारधारा के सन्दर्भ में पाठ्यक्रम सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अन्तिम नवें अध्याय में शंकर-शिक्षा दर्शन के मूल निष्कर्षो को प्रस्तुत किया गया है।

शांकर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठभूमियाँ

शङ्करः शङ्कराचार्यः सद्गुरुः शर्वसन्निभः ।
सर्वेषां शङ्कराः सन्तु सच्चिदानन्दरुपिणः ।।[1]
श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ।।
शङ्करं शङ्कराचार्य केशवं वादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ।।[2]

शंङ्कराचार्य का जीवन-परिचय :

आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य का जीवन-चरित्र भारतवासियों के लिए सदैव से प्रेरणास्रोत रहा है। उनके जीवन का अनुसरण करके अद्यतन अगणित विद्वान् मनीषी अपने जीवन को कृतार्थ कर चुके है। प्रत्येक विद्वान्, महापुरुष एवं विचारक के जीवन चरित्र मे ऐसे बहुमूल्य गुण-रत्नो का गुम्फन होता है जिनसे उनके आदर्शों, मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का पता चलता है। आचार्य शंकर की जीवन-लीला के अध्ययन की आधुनिक युग में कितनी उपादेयता है? इस प्रश्न का उत्तर पं० बलदेव उपाध्याय ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस प्रकार दिया है—"राजनीतिक आन्दोलन के इस युग में हम अपने धर्म संरक्षक तथा प्रतिष्ठापकों को एक प्रकार से भूलते चले जा रहे हैं परन्तु शंकराचार्य का पावन चरित्र भुलाने की वस्तु नहीं है, वह निरन्तर मनन करने की चीज है। आचार्य का हमारे ऊपर इतना अधिक उपकार है कि उनकी जयन्ती हमारे लिए राष्ट्रीय पर्व है, उनका चरित्र परमार्थ के मार्ग पर चलने वालों के लिए एक बहुमूल्य सम्बल है।[3]"

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 29 कल्याणसदृश सद्गुरु शंकराचार्य शंकर है। सच्चिदानन्द स्वरूप शंकर सबके लिये कल्याणकारी हों।

2. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) के आचार्य स्तवन से उद्धृत श्रुति-स्मृति पुराणों के स्थानभूत, करुणागार, विश्व के लिये कल्याणकारी भगबान् शंकराचार्य को मै प्रणाम करता हूँ। शंकर रूप मे शंकराचार्य जी, विष्णु रूप व्यास जी इन दोनों ब्रह्मसूत्र के प्रणेता और भाष्यकार भगवान् की मै बारम्बार बन्दना करता हूँ।

3. पं० बलदेव उपाध्याय के 'चार शब्द"—श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) श्री श्रवण नाथ ज्ञानमन्दिर हरिद्वार, पृ० सं० ।

अतः विषय विस्तार को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य शंकर के प्रकाशमय एवं प्रेरणामय जीवन-चरित्र का अध्ययन शिक्षा-जगत् की बहुमूल्य निधि होने से विचारणीय है।

आचार्य शंकर का जन्म-स्थान—आचार्य शंकर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे प्रायः सभी विद्वानों में मतैक्य है कि उनका जन्म शस्य श्यामला भारत-वसुन्धरा की दक्षिण दिशा में स्थित केरल प्रदेश के कालटी नामक ग्राम में हुआ था। कालटी को ही कालडी अथवा कालादि नामों से भी उच्चारित किया जाता है। एलिस के अनुसार इस ग्राम का नाम कालडी है।[1] यह स्थान अपनी पवित्रता, सुन्दरता, और जलवायु स्वच्छ होने से स्वास्थ्यकर वातावरण के लिए भी प्रसिद्ध है। कालटी ग्राम कोचीन-शोरानूर रेलवे लाइन पर स्थित 'आलबाई' अथवा 'आलुवा' रेलवे स्टेशन से लगभग 6 मील की दूरी पर दक्षिण की ओर स्थित है। 'पेरियार' नदी की सुरम्यता से इस स्थान की रमणीकता और भी बढ़ गई है। आनन्दगिरि ने अपने ग्रन्थ 'शंकर विजय' में आचार्य शंकर के जन्म-स्थान को चिदम्बरम् माना है किन्तु डा० राधाकृष्णन् के अनुसार "इस मत को अधिक समर्थन प्राप्त नही है।[2]"

आचार्य शंकर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे एक और कहानी प्रचलित है जिसमें साम्प्रदायिक पक्षपात अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। त्रिविक्रम भट्ट ने अपने 'मणि मञ्जरी' ग्रन्थ में लिखा है कि सात्विक परिवार की एक विधवा ब्राह्मणी कालटी ग्राम में वैराग्यमूलक जीवन व्यतीत करती हुई रहती थी। वह अपने वैराग्य जीवन में पथभ्रष्ट हो गई और उसने गर्भ धारण करके जिस बालक को जन्म दिया, वह आचार्य शंकर थे किन्तु डा० राधाकृष्णन् के अनुसार "इनमे दिये गये कई तथ्य किवदन्ती रूप में हैं और उनके ऐतिहासिक होने में सन्देह है।[3]"

इस प्रकार आद्य शंकराचार्य के जन्म-स्थान और जन्म के सम्बन्ध मे अनेक कहानियाँ और किवदन्तियाँ एवं मत मिलते है किन्तु निम्नलिखित आधारों पर उनका जन्म-स्थान कालटी ही अधिक संगत प्रतीत होता है—

1. सारे केरल प्रदेश की यह मान्यता है कि शंकराचार्य नम्बूदरी ब्राह्मण थे। यह कुल सदा से त्रिचुर के पास निवास कर रहा है। यह कुटुम्ब केरल प्रान्त का ही निवासी है। अतः आचार्य शंकर का केरल वासी होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

2. आचार्य शंकर ने जिस स्थान पर अपनी माता का दाह-संस्कार किया था, वह स्थान भी कालटी ग्राम में ही है। इस स्थान की पवित्रता को अक्षुण बनाये रखने के लिये शृंगेरी मठ की ओर से उपाय किये गये हैं।

---

1. *Indian Antiquary* VII Page 282, oct. 1933.
2. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 पृष्ठ सं० 441, पाद टिप्पणी-2
3. वही, पाद टिप्पणी—1

3. उत्तराखण्ड में स्थित वर्तमान श्री बद्रीनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी। इस मंदिर की पूजा-व्यवस्था के लिये उन्होंने प्रधान पुजारी के रूप में नम्बूदरी ब्राह्मण की नियुक्ति की थी जिससे कि मंदिर का अर्चना-कार्य वैदिक विधि पूर्वक चलता रहे। तब से लेकर आज तक नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार के प्रधान पुजारी ही इस मंदिर का संचालन करते आ रहे है। इससे भी आचार्य शंकर का केरल में अवतरण होना सिद्ध होता है।

4. माध्वमतानुयायी मणिमञ्जरीकार त्रिविक्रम भट्ट ने भी शंकराचार्य का जन्म-स्थान कालटी ही बतलाया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर केरल-प्रदेशान्तर्गत कालटी ग्राम का नम्बूदरी परिवार ही शंकर जन्म-भूमि सिद्ध होता है। अतः आनन्द गिरि के मत को अधिकतर विद्वान् अमान्य करते हैं। इसी प्रकार त्रिविक्रम भट्ट (मणि मञ्जरीकार) की शंकराचार्य की माता के पथ भ्रष्ट होने की मनगढ़न्त कहानी भी नितान्त असङ्गत एवं साम्प्रदायिक द्वेष जन्य होने से विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है। भगवान् शंकराचार्य का पावन चरित्र एवं अपनी माता के प्रति उनका पवित्र स्नेह ही उक्त आरोप का निराकरण कर देता है।[1]

अतः उपर्युक्त तर्कों की साङ्गोपाङ्ग मीमाँसा से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य शंकर का जन्म-स्थान केरल प्रान्त का कालटी ग्राम ही है।

शंकराचार्य का आविर्भावकाल :

भगवान् शंकराचार्य की अवतारणा से यह भारत भूमि कब सुशोभित हुई ? इस सम्बन्ध मे आज तक विद्वानों में मतभेद है। इसका प्रधान कारण यह है कि आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी समय का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुयायी विद्वान शिष्यों ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया है। अतः आचार्य शंकर के आविर्भावकाल के निर्धारण करने में अनेक मतों का उदय होना स्वाभाविक था। यहाँ प्रमुख मतों के आधार पर उनके स्थितिकाल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है।

प्रथम मत—'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थ के अनुसार आचार्य शंकर का आविर्भाव 400 ई० है।[2] इस मत में आचार्य की आयु 32 वर्ष न मानकर 38 वर्ष मानी गई है।

द्वितीय मत—द्वारिका मठ और काँची के कामकोटि पीठ की गुरु परम्परा के अनुसार आचार्य का आविर्भाव ईस्वी पूर्व पंचम शतक प्रतीत होता है। ज्योतिष्पीठ

---

1. डॉ० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृष्ठ सं० 9

2. *Indian Antiquary* VII–A Summary of the History of the Prosperous Sankaracharya, Page, 282 Oct. 1933.

की गुरु परम्परा से भी यही मत अभीष्ट है। आधुनिक युग में प्रसिद्ध भारतीय इतिहास के विद्वान प्रो० पी० एन० ओक इसी मत की पुष्टि विभिन्न तर्कों के आधार पर करते हैं।[1]

तृतीय मत—तेलंग का तर्क यह कि पूर्णवर्मन, जिसका उल्लेख ब्रह्मसूत्र पर किये गये शांकर भाष्य में आता है, मगध का एक बौद्ध धर्मावलम्बी राजा था तथा जो शंकर के समकालीन था। अतः इस विद्वान की दृष्टि में आचार्य का स्थिति-काल छटी शताब्दी का मध्य या अन्तिम भाग है।[2]

चतुर्थ मत—सर आर० जी० भण्डारकार की मान्यता है कि आचार्य का जन्म 680 ईस्वी में हुआ। वह इससे कुछ वर्ष पूर्व भी यह काल मानने को उद्यत हैं।[3]

पंचम मत—बर्नेल तथा सिवेल के अनुसार भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव सातवीं शताब्दी में हुआ।[4]

षष्ठ मत—वर्तमान समय में श्रीयुत राजेन्द्र नाथ घोष महाशय ने विभिन्न प्रकार के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शंकराचार्य 608 शकाब्द अथवा 686 ईस्वीं में आविर्भूत हुये थे। उनके अनुसार आचार्य का तिरोभाव 34 वर्ष की आयु में हुआ था।[5]

सप्तम मत—शंकर अष्टम शताब्दी में थे, यह भी एक मत है। अध्यापक वेबर ने प्राचीन काल मे इस मत का समर्थन किया था। लेविस राइस ने शृंगेरी मठ के गुरु परम्परा काल को एक-एक करके जोड़कर अनुमान किया था कि शंकर 740 से लेकर 767 के बीच जीवित थे।[6]

अष्टम मत—मैक्समूलर और प्रो० मैक्डोनल का अनुमान है कि आचार्य का जन्म-काल 788 शताब्दी, मृत्यु काल 820 शताब्दी है।[7] कीथ भी आचार्य का जन्म-काल 788 ईस्वी ही स्वीकार करते है किन्तु आचार्य के मृत्युकाल 820 शताब्दी के सम्बन्ध में वह कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होते हैं। कीथ अपनी अनुमानपरक शैली के द्वारा 820 शताब्दी को आचार्य की मृत्यु अथवा संन्यास ग्रहण करने का काल स्वीकार

---

1. पुरूषोत्तम नागेश ओक—'भारतीय इतिहास की भयकर भूले; कौशल पाकेट बुक्स, दिल्ली–7, पृ० 190-207।
2. डॉ० राधकृष्णन् भारतीय दर्शन भाग 2, पृ०440, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली–6।
3. Report on the search for Sanskrit Mss, Page, 15.
4. बर्नेल—"South Indian Paleography; Page 37–111.
   सिवेल—"List of Antiquities in Madras", Page 177.
5. तथा 6—कल्याण (वेदान्त अंक) गीता प्रैस गोरखपुर, सं० 1939, पृ० 641
7. डॉ० राधा-कृष्णन् वही, पृ० 440।

करते हैं।[1] डॉ० दास गुप्ता[2] तथा अन्य अधिकांश विद्वान भी इसी मत को मानते है।[3]

नवम मत—वेंक्टेश्वर के अनुसार आचार्य 805 से 897 ई० तक इस भूतल पर 92 वर्ष पर्यन्त जीवित रहे।[4]

उपर्युक्त मतों के अन्त: तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर आचार्य शंकर का स्थितिकाल .88-820 ई० मानना ही संङ्गत प्रतीत होता है।[5] डॉ० के० वी० पाठक[6] तथा आधुनिक युग के अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान[7] इसी मत के समर्थक है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर यही निश्चित होता है कि भगवान् शंकराचार्य का अवतरण 788 ई० तथा उनका तिरोभाव 820 ई० में हुआ था। किन्तु भविष्य पुराण आदि ग्रन्थों तथा मठों की परम्परा के आधार पर उनका आविर्भाव आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

शंकराचार्य का संक्षिप्त जीवन-वृत्त :

शंकराचार्य के कुछ शिष्यो[8] ने उनके जीवन-वृत्त सम्बन्धी घटनाओं का संग्रह किया है जिनमे डॉ० राधा-कृष्णन्[9] के अनुसार माधवकृत 'शंकर दिग्विजय' तथा आनन्द गिरि कृत 'शंकर विजय' की मुख्यता है। अत: आचार्य शंकर सम्बन्धी जीवन चरित्रों के वर्णन का आधार मुख्यत: ये दो ग्रन्थ ही रहे है। शंकर नम्बूदरी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों का परिवार वैदिक धर्मानुयायी लब्ध प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का था। इनके पितामह विद्याधिराज[10] अथवा विद्याधिप थे और पिता का नाम शिव गुरु था। इनकी माता

---

1. Keith A.B. *A History of Sanskrit Literature,* Oxford Unity. Press, London, Page 476.
2 Dass Gupta, S.N. *Indian Philosophy* Vol. I. Page 418, Comb-Ridge. Unity Press, 1951,
3. कल्याण (वेदान्त अंक) गीता प्रैस गोरखपुर, सं 1991, पृ० 641
4. Journal of the Royal Asiatic Society, 1916, Page 151–162.
5. डा० राममूर्ति शर्मा-शंकराचार्य, साहित्य भन्डार सुभाष बाजार मेरठ,पृ० 11
6. *Dharmkirti and Sanakachrarya,* Bombay Branch Royal Asiatic Society XVIII, Page 88-96.
7. कल्याण (वेदान्त अंक) गीता प्रेस गोरखपुर पृ० 641।
8. शंकर दिग्विजय (माधवकृत) श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० 8-9 पर डा० औफ्रेक्ट की शंकर विजयग्रन्थों की सूची दृष्टव्य।
9. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग-2, पृ० 440-41 राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, 1969।
10. Aiyar C.N. & Tattva Bhushan *Three Great Acharyas*, p. 9 (S. Nateson madras)

के कई नामों का उल्लेख विभिन्न दिग्विजयों में सुभद्रा, सती, विशिष्टा और आर्याम्बा मिलता है किन्तु माधवकृत 'शंकर दिग्विजय' में उल्लिखित 'सती'[1] नाम ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। आनन्दगिरि के अनुसार उनकी माता का नाम विशिष्टा है।[2] पर्याप्त समय तक निःसन्तान रहने से इनके पिता शिवगुरु तथा माता सती के द्वारा उग्र तप से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकर ने शिवगुरु को एक रात्रि में ब्राह्मण वेश मे दर्शन देकर पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया। शिव के वरदान स्वरूप पुत्र प्राप्त होने के कारण ही इनका नामकरण शंकर हुआ।

आचार्य का शैशव :

कुशाग्रबुद्धि बालक शकर जब पैरों चलने लगे तभी उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम सीख ली[3] और दूसरे ही वर्ष में उन्हें अक्षर ज्ञान हो गया।[4] उन्होंने अपने पिताजी तथा माता द्वारा जो काव्य और पुराण सुने, उनको हृदयङ्गम करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई।[5] गुरु के यहाँ शिक्षा ग्रहण करते समय बालक शंकर ने अपने गुरु को भी कभी कष्ट नहीं दिया।[6] उनके तीन वर्ष का होने पर उनके पिता का निधन हो गया। पाँच वर्ष की आयु में माता ने उनका उपनयन संस्कार कराकर उन्हे विधिवत् अध्ययन के लिये गुरुकुल भेजा। दो वर्ष के अन्दर ही उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर समस्त वेद-शास्त्र, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास पुराण आदि ग्रन्थों का गहनतम अध्ययन करके अपनी आयु के सातवे वर्ष मे सर्वशास्त्रपारङ्गतता प्राप्त की।[7] तदुपरान्त बालक शंकर अपने घर लौटकर माता की सेवा में लग गये।

जब शंकर की विद्वता तथा अध्ययन-अध्यापन-कुशलता का जन श्रुति से ज्ञान तत्कालीन केरल नरेश राजशेखर को हुआ तो वह स्ववं उनके पास आये और इसी प्रकार समय-समय पर अन्यान्य ज्ञानोपार्जन के जिज्ञासु विद्यार्थी गण विद्वान शंकर के अध्यापन से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके।[8] इससे आचार्य शंकर के जन्म-जात शिक्षक होने का स्पष्ट आभास होता है।

---

1. माधवाचार्य, शंकर दिग्विजय (2–71)
2. (निर्णय सागर प्रेस आनन्दगिरि शंकर विजय पृ० 9)
3. (श्री शंकरदिग्विजय-माधवकृत) 4-1 पृष्ठ सं० 91, श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरिद्वार ।

4, 5. वही 4-2, पृष्ठ 92,
6. वही—4-3 पृ० 92
7. वही 5-1 पृष्ठ 130
8. वही 5-32 पृष्ठ 137।

शंकर को अपनी माता से अनन्य स्नेह था। वह उनकी प्रसन्नता के लिये सदैव प्रत्यन्नशील रहते थे। माता ने जब उनके पाणि-ग्रहण की इच्छा प्रकट की तो शंकर ने अपने संन्यास ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय प्रकट कर दिया किन्तु ममतामयी माँ भला ऐसा कैसे स्वीकार कर सकती थी? विधाता के विधान को कौन बदल सकता है? शंकर की अवतारणा लोक-कल्याणार्थ हुई थी।[1] अतः उनका सन्यासी होना निश्चित ही था। एक दिन अपनी माता के साथ स्नान करते समय एक ऐसी घटना घटी कि माता को अपने एक मात्र स्नेह भाजन पुत्र को संन्यास की अनुमति देनी पड़ी। मकर के द्वारा शंकर का पैर पकड़ लिये जाने पर उनकी प्राण रक्षा के लिये, माता ने लोभवश शंकर को सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। फलतः आठ वर्ष की अवस्था में बालक शंकर मानसिक रूप से सन्यासी होकर घर लौटा किन्तु अपने कुटुम्बी जनों में अपनी सम्पत्ति बाँटकर तथा अपनी माता के अन्तिम सस्कार की प्रतिज्ञा करके विधिवत् संन्यास ग्रहण करने के लिये घर से दूर चला गया।

संन्यास की दीक्षार्थ गुरु की खोज :

शंकर को अपने अध्ययन काल में पता चला था कि कहाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के अवतार गोविन्द भगवत्वाद इस भूतल पर तपश्चर्या मे लीन है। उन्होंने महर्षि शुकदेव के शिष्य भगवान् गौडपादाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। इस प्रकार के उच्चकोटि के विद्वान गुरु गोविन्दाचार्य से विधिवत् संन्यास ग्रहण कर आचार्य शंकर की प्रसन्नता असीम हो उठी। उन्हीं के सान्निध्य में लगभग तीन वर्ष तक रहकर शंकर ने उपनिषद् ब्रह्म सूत्र तथा अन्य वेद शास्त्र आदि का विधिवत् अध्ययन किया। गुरु ने शिष्य की विलक्षण प्रतिभा से प्रवावित होकर उन्हें काशी जाकर अद्वैत वेदान्त का प्रचार-प्रसार करने की आज्ञा दी।

काशी में शंकराचार्य का प्रवास :

काशी-स्थित मणिकर्णिकाघाट पर अद्वैत तत्व का उपदेश गुरु की आज्ञानुसार आचार्य शंकर ने करना आरम्भ कर दिया। काशीवास में ही प्रथम शिष्य के रूप में सनन्दन को दीक्षा दी। एक दिन स्नानार्थ गगातट पर जाते समय एक चार कुत्ते वाले चाण्डाल को देखकर उसे मार्ग से हट जाने के लिए कहने पर उसने कहा कि अद्वैत आत्मा मे भेद की कल्पना करने वाला व्यक्ति वैदिक धर्म की रक्षा तथा अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किस प्रकार कर सकता है। अतः तुम्हारा संन्यास तथा ज्ञान अपूर्ण एवं निष्फल है। चाण्डाल के इन शब्दों को सुनकर आचार्य

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) 1-4-1, श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० सं० 13-14.

आश्चर्यान्वित होकर शीघ्र अपनी त्रुटि को अनुभव करते हुए उससे क्षमा माँगकर कहने लगे, "जिस दृढ़ बुद्धिपुरुष के लिए यह सम्पूर्ण विश्व सदा आत्मा रूप से प्रकाशित होता है, वह चाहे ब्राह्मण हो, चाहे श्वपच (चाण्डाल), वह वन्दनीय है। यह मेरी दृढ निष्ठा है।"[1] इतना कहते ही शंकर को चाण्डाल के स्थान पर भगवान् विश्वनाथ दृष्टिगोचर हुए। आचार्य शंकर को ब्रह्मसूत्र पर भाष्य-प्रणयन एव समस्त अवैदिक मतों के खण्डन की आज्ञा देकर भगवान् शंकर अदृश्य हो गये और आचार्य विश्वनाथ भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य करके बदरिकाश्रम की ओर चल पड़े।

भाष्य-प्रणयन :

बदरिकाश्रम के उत्तर में स्थित व्यासगुहा में चार वर्षो तक वेदान्त के विद्वान् महर्षियों के साथ गम्भीर विचार-विमर्श के उपरान्त ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा सनत्सुजातीय पर प्रामाणिक एवं विद्वतापूर्ण भाष्य ग्रन्थो की रचना आचार्य ने की।[2] यही रहते हुए यह अपने शिष्यों को भाष्य ग्रन्थो का अध्यापन करते थे। एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण से ब्रह्मसूत्र (3–3–1) के भाष्य पर प्रबल शास्त्रार्थ होने पर उस वृद्ध ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया। आचार्य शंकर के सम्मुख अब साक्षात् महर्षि वेदव्यास भगवान् उपस्थित थे जोकि उन्हें और 16 वर्ष की आयु प्रदान कर कुमारिल भट्ट तथा मण्डनमिश्र आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ करने की आज्ञा देकर अन्तर्ध्यान हो गये। अतः आचार्य कुमारिल भट्ट से मिलने के लिए उत्तरकाशी से प्रयाग की ओर चल दिये।

कुमारिल भट्ट से आचार्य शंकर का मिलन :

आचार्य शंकर और मीमांसा दर्शन के प्रख्यात विद्वान् कुमारिल भट्ट का मिलन भारतीय इतिहास की अद्वितीय एवं अद्भुत घटना है। यह इतिहास की एक विडम्बना ही कही जायेगी कि जब भगवान् शंकराचार्य कुमारिल भट्ट के समीप पहुँचे तो वे त्रिवेणी के तट पर तुषानल में अपने शरीर को दग्ध कर रहे थे। उनके शरीर का अधोभाग दग्ध हो चुका था। आचार्य शंकर का दर्शनकर कुमारिल भट्ट प्रसन्न हुए किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के कारण उन्हें स्वयं को जलाना पड़ रहा था। कुमारिल को अपने बौद्ध गुरु का अपमान करने तथा ईश्वरवाद का खण्डन करने पर अतीवग्लानि थी। अतः वह अग्निदाह द्वारा अपनी जीवनलीला को समाप्त कर रहे थे। शंकराचार्य से विनम्र भाव से उन्होंने क्षमा माँगते हुए

---

1. श्री शंकरदिग्विजय–(माधवकृत) 6–36, श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ० 191.
2. वही 6–60, पृ० 200।

उन्हें माहिष्मतीपुरी के निवासी उद्भट विद्वान् शिष्य मण्डनमिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपना सहयोगी बनाने को कहा।

शंकराचार्य का मण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ :

इन्दौर रियासत में नर्मदा नदी के किनारे पर स्थित माहिष्मती नामक नगरी में मीमांसा दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित मण्डनमिश्र रहते थे उनकी परम विदुषी पत्नी अम्बा अथवा उम्बा थी जो अपने वैदुष्य के कारण समाज में भारती, उभय भारती, शारदा के नाम से प्रसिद्ध थी। मण्डनमिश्र द्वार बन्द कर श्राद्ध कर रहे थे। अतः आचार्य योगबल से आकाश मार्ग का अवलम्बन कर गृह मे प्रविष्ट होकर कहने लगे कि वेदान्त के सिद्धान्त का प्रचार करना ही मेरे जीवन का प्रधान लक्ष्य है, इसे छोडकर मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इस वेदान्त की महिमा अलौकिक है। यह संसार के सन्ताप को दूर करने के लिए चन्द्रमा के समान शीतल है, परन्तु मुझे इस बात का खेद है कि कर्ममार्ग में निरत होकर आपने इसकी अवहेलना की है।[1] एक नवयुवक संन्यासी की यह गर्वोक्ति सुनकर मण्डनमिश्र क्रोध में व्याकुल हो उठे और उन्होंने आचार्य की चुनौती स्वीकार कर शास्त्रार्थ के लिए अपनी सहमती प्रकट कर दी। दोनों विद्वानों का शास्त्रार्थ मिश्र जी की पत्नी भारती की मध्यस्थता में प्रारम्भ हुआ। भारती ने दोनों के गले में पुष्पमालाएँ पहनाकर कहा कि जिसकी माला मलिन हो जायेगी, वही पराजित समझा जायेगा। शंकराचार्य अद्वैत सिद्धान्त का मण्डन तथा मण्डनमिश्र के कर्मवाद का खण्डन कर रहे थे और मण्डनमिश्र कर्मवाद का मण्डन तथा अद्वैतवाद का खण्डन। शास्त्रार्थ चलते-चलते कई दिन व्यतीत हो गये। अन्ततोगत्वा मण्डनमिश्र की कण्ठमाला मलिन हो गई और उन्होंने आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की।

अपने पति मण्डनमिश्र को पराजित हुआ देखकर भारती ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में उसे परास्त कर ही विजयश्री का वरण करने को कहा। अतः आचार्य शंकर को भारती से शास्त्रार्थ करना पड़ा। भारती द्वारा कामशास्त्र के प्रश्न पूछने पर आचार्य शंकर ने निरुत्तर होकर उसके लिए एक मास की अवधि माँगी। शंकराचार्य ने तुरन्त अमरुक राजा के मृतक शरीर में योगबल से प्रवेश कर काम सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर अपने शरीर में प्रवेश करके भारती को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार अमरुक के मृत शरीर में शंकर के प्रवेश की कहानी यह प्रकट करती है कि आचार्य शकर योग-सम्बन्धी क्रियाओं

---

1. श्री शंकरदिग्विजय (माधवकृत) 8–37, श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ० 263–64.

में निपुण थे।[1] अब मण्डनमिश्र को गृहस्थ त्यागकर आचार्य का शिष्य बनकर संन्यासी-धर्म की दीक्षा ग्रहण करनी पड़ी। ये ही मण्डनमिश्र आगे चलकर सुरेश्वराचार्य के नाम से शृंगेरी पीठ के प्रधान आचार्य बने।

आचार्य शंकर की दक्षिण यात्रा तथा मठस्थापन एवं दिग्विजय :

मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ में विजयी होने के उपरान्त आचार्य शंकर की ख्याति दूर तक फैल गई। सुरेश्वराचार्य के साथ महाराष्ट्र जाकर श्रीपर्वत पर स्थित शैवकापालिकों के अड्डों को उन्होंने समाप्त किया। गौकर्ण क्षेत्र की यात्रा के बाद हरिशंकरतीर्थ क्षेत्र मे जाकर फिर आचार्य की श्रीबलि नामक अग्रहार में एक ऐसे ब्राह्मण बालक से भेंट हुई जिसकी प्रतिभा नितान्त सुप्तावस्था मे होने से वह बालक पागल सा दृष्टिगोचर होता था। आचार्य के सम्मुख आते ही उसकी प्रतिभा मुखरित हो उठी और वह हस्तामलकस्तोत्र में अपना परिचय देने लगा। शंकर ने उसे अपना शिष्य बनाकर उसका नाम हस्तामलक रख दिया। गोवर्धनपीठ (पुरी) के वर्तमान शंकराचार्य स्वामी निरन्जनदेव तीर्थ के अनुसार उक्त घटना से यह प्रकट होता है कि आचार्य शंकर जैसा शिक्षाशास्त्री आज भी कोई नहीं है जो मूक बालक को बोलना सिखा दे।[2] फिर आचार्य शंकर ने मैसूर प्रान्त मे तुंगभद्रा नदी के किनारे पर शृंगेरी पीठ की स्थापना कर सुरेश्वराचार्य को उस पीठ का प्रधान आचार्य नियुक्त किया।

शृंगेरीपीठ में अपनी माता की रुग्णावस्था का समाचार पाकर आचार्य शंकर अपने जन्म-स्थान कालटी गए और वहाँ अपनी माता की भलि-भांति सेवा-सुश्रूषा की। उनका देहान्त होने पर अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार स्वयं उनकी अन्त्येष्टि की। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में "एक करुणाजनक घटना, जिसके विषय मे परम्परा में सब एक मत हैं, यह दर्शाती है कि शंकर का हृदय किस प्रकार मानवीय करुणा तथा माता-पिता की भक्ति से भरा हुआ था। संन्यासाश्रम की व्यवस्था के नियमों को प्रकट रूप में भंग करके शंकर ने अपनी माता की अन्त्येष्टि क्रिया मे पूर्णरूप से भाग लिया और इस प्रकार अपने समुदाय के विकट विरोध का सामना किया।[3] तदुपरान्त आचार्य शंकर ने जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ स्थापित कर पद्मपादाचार्य

---

1. डा० राधाकृष्णन्–भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृ० सं० 441.
2. परिशिष्ट–3 दृष्टव्य ।
3. डा० राधाकृष्णन्–भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृ० 441–42.

को उसका प्रधान आचार्य नियुक्त किया। दक्षिण भारत से उत्तर की ओर जाते हुए आचार्य ने उज्जैन में भीषण भैरव साधना बन्द कराई। फिर गुजरात प्रवास में द्वारिका-स्थित पाँचरात्रों के गढ़ को ध्वस्त किया। यहाँ शारदापीठ की स्थापना कर हस्तामलकाचार्य को इस मठ का अधिपति बनाया। पूर्व भारत की यात्रा में बंगाल और आसाम में तान्त्रिक साधना के प्रमुख क्षेत्रों में जाकर अवैदिक मतों का निराकरण किया। आसाम में प्रसिद्ध शाक्त अभिनवगुप्त को शास्त्रार्थ में पराजित किया और बदरिकाश्रम के लिये प्रस्थान किया। यहाँ पर ज्योतिष्पीठ की स्थापना करके अपने शिष्य तोटकाचार्य को इसका प्रधान आचार्य नियुक्त किया। अभिनव-गुप्त ने अपनी पराजय से दुःखी होकर शंकर पर भयानक अभिचार का प्रयोग किया जिसके फलस्वरूप आचार्य शंकर अस्वस्थ होकर शृंगेरीपीठ में लौट आए। स्वस्थ होने पर आचार्य ने कश्मीर जाकर वहाँ के शारदा मन्दिर मे प्रवेश करके वहाँ विद्यमान विद्वानों के सम्मुख सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण करके अपनी सर्वज्ञता, पवित्रता एवं साधना की श्रेष्ठता का परिचय दिया।

आचार्य शंकर का परमधाम गमन :

आचार्य शंकर का अन्तिम जीवन कहाँ व्यतीत हुआ ? इस विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। माधवकृत शंकर दिग्विजय के अनुसार काश्मीर के सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण के पश्चात् आचार्य बदरीनाथ चले गये। कुछ दिनों पश्चात् दत्तात्रेय के आश्रम में रहकर कैलाश में स्थित केदारनाथ में ही इस भौतिक जगत् को छोड़कर आचार्य शंकर सदैव के लिए अमर हो गये। यह मान्यता शृंगेरी पीठानुसार है और अधिकांश विद्वान् संन्यासी इसे ही प्रामाणिक मानते है। डा० राधाकृष्णन् ने भी केदारनाथ मे ही उनकी महासमाधि लेने के मत का अनुमोदन किया है।[1]

केरल तथा कामकोटि पीठ की परम्परा इससे भिन्न है। केरलचरित पृष्ठ सं० 585 में शंकर को अपना पार्थिव शरीर केरल देश में परित्याग करने वाला लिखा है। कामकोटि पीठ की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार एवं धर्म-रक्षण के कार्य को पूरा कर कांची में अपना अन्तिम जीवन व्यतीत करने के लिए चले आये थे। यहीं उन्होंने भौतिक जगत् छोड़कर परमधाम गमन किया था। इस प्रकार पर्याप्त मतभेद होने पर भी इतना बहुमत से निश्चित है कि आचार्य शंकर 32 वर्ष की अल्पायु में भारत भूमि पर वैदिक धर्म की रक्षा

---

1. डा० राधाकृष्णन्–भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृष्ठ सं० 442.

कर तथा इसके लिये सुन्दर व्यवस्था कर इस धराधाम से मुक्त होकर ब्रह्मलीन हुए।[1]

शांकर साहित्य :

शंकराचार्य के नाम से प्रचलित लगभग 280 ग्रन्थ है। इनमें आदि शंकराचार्य की कृतियों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। इसके प्रधानतया दो कारण है। एक तो आचार्य द्वारा स्थापित पीठो के अध्यक्षों के ग्रन्थ भी शंकराचार्य के नाम से लिखे गए हैं। दूसरे बाद के मठाधिपति शंकराचार्यो ने भी स्वयं को भगवत्पाद गोविन्दाचार्य का शिष्य अपने ग्रन्थों के अन्त मे लिखा है। अतः आदि जगद्गुरु शंकराचार्य तथा परवर्ती शंकराचार्यो की कृतियो में भेद स्थापित करना एक कठिन समस्या बन गई है। फिर भी शांकर साहित्य की अन्तरंग परीक्षा करके विद्वानों ने आदि जगद्गुरु शंकराचार्य की रचनाओ का पता लगाया है। आचार्य की रचना शैली नितान्त प्रौढ एव अत्यन्त सुबोध है। वे सरल प्रसादमयी रीति के उपासक है जिसमे स्वाभाविकता ही परमभूषण है।[2] इसी आधार पर आचार्य के ग्रन्थो का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

आदि शंकर की साहित्यिक कृतियों को निम्न चार प्रकार की श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[3]—

1. भाष्य ग्रन्थ, 2. स्तोत्र ग्रन्थ, 3. प्रकरण ग्रन्थ, 4. तन्त्र ग्रन्थ।

1. भाष्य ग्रन्थ :—उनके भाष्य ग्रन्थ दो प्रकार के है—

(क) प्रस्थानत्रयी—ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के भाष्य ग्रन्थ और
(ख) इतर ग्रन्थों के भाष्य (विष्णु सहस्रनाम आदि)

(क) प्रस्थानत्रयी के भाष्यग्रन्थ—

1. ब्रह्मसूत्र भाष्य—आचार्य शंकर की सर्वोत्कृष्ट तथा सुन्दर एवं प्रौढ रचना के रूप में इस भाष्य ग्रन्थ की प्रसिद्धि है। वाचस्पतिमिश्र जैसे प्रौढ़ दार्शनिक तथा शांकर भाष्य के प्रसिद्ध व्याख्याकार ने तो शांकर भाष्य के सम्बध में अपने उद्गारो में यहाँ तक कह दिया है कि यह केवल प्रसन्न, गम्भीर ही नही है वरन् गगाजल के समान पवित्र है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जिस प्रकार गलियों का जल

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ० 336.
2. वही, पृष्ठ सं० 149.
3. डा० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1964, पृष्ठ संख्या 17.

गंगाजल में मिलकर पवित्र हो जाता है उसी प्रकार हमारी व्याख्या (भामती) भी इस भाष्य के संसर्ग से पवित्र हो जायेगी ।[1]

2. **गीता भाष्य :**—विश्वविख्यात ग्रन्थ रत्न 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' पर आचार्य शंकर का भाष्य उनकी अनूठी विद्वत्ता का परिचायक है। आचार्य के अनुसार गीता अद्‌वैतमूलक ज्ञानपरक ग्रन्थ है। केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। उनके अनुसार गीता में ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष-प्राप्ति का निषेध सिद्ध है।[2]

3. **उपनिषद् भाष्य:**—आचार्य के अद्‌वैत सिद्धान्त का प्रमुख आधार उपनिषद्-दर्शन है। उन्होंने प्रमुख 12 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है[3]—(1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुण्डक (6) माण्डूक्य (7) तैत्तिरीय (8) ऐतरेय (9) छान्दोग्य (10) बृहदारण्यक (11) श्वेताश्वतर (12) नृसिंहतापिनी।

इन उपनिषद् भाष्यों में केनोपनिषद् का वाक्य भाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद् का भाष्य, माण्डूक्योपनिषद् का भाष्य तथा नृसिंहतापनीयोपनिषद् का भाष्य आचार्य-शंकरकृत होने में अनेकश: विद्वानों को आपत्ति है। शेष भाष्यों को शंकरप्रणीत मानने में प्राय: सभी विद्वान एकमत हैं किन्तु डॉ० राधाकृष्णन् ने उपर्युक्त 12 उपनिषद् भाष्यों को आचार्यकृत स्वीकार करते हुए अथर्वशिखा तथा अथर्वशिरस के शांकर भाष्यों की भी चर्चा की है।[4]

(ख) इतर ग्रन्थों पर शांकर भाष्य :—

प्रस्थानत्रयी के भाष्य-ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो पर भी आचार्य शंकर-प्रणीत भाष्य उपलब्ध है किन्तु निम्नलिखित भाष्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भाष्यों को आद्य शंकराचार्य की रचना स्वीकार नही किया जाता है।[5]

(1) **विष्णुसहस्रनाम भाष्य :**—सुप्रसिद्ध विष्णुसहस्रनाम ग्रन्थ के प्रत्येक नाम की युक्तियुक्त व्याख्या आचार्य ने की है।

(2) **सनत्सुजातीय भाष्य :**—धृतराष्ट्र के मोह के निवारण-हेतु सनत्सुजात

---

1. वाचस्पति मिश्र—भामती (मंगल श्लोक 6–7) निर्णय सागर, प्रेस बम्बई।
2. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता शांकर भाष्य (उपोद्‌घात) गीता प्रेस गोरखपुर।
3. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 152।
4. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृष्ठ स 444 पर पादटिप्पणी।
5. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सख्या 155–56।

ऋषि द्वारा प्रदत्त उपदेश का वर्णन महाभारत[1] में उपलब्ध होता है। अतः इसकी आध्यात्मिक महत्ता के कारण आचार्य का इस पर भाष्य मिलता है।

(3) **ललिता त्रिशती भाष्य**—इस ग्रन्थ में ललिता देवी के तीन सौ नामों का उल्लेख मिलता है। ललितोपासक आचार्य शंकर ने इन नामों की व्याख्या उपनिषद् तथा तन्त्र ग्रन्थों के आधार पर की है।

(4) **माण्डूक्यकारिका भाष्य**:—भगवान् शंकराचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् के ऊपर कारिकाओं का प्रणयन किया था। इन्ही कारिकाओ के ऊपर आचार्य ने अपनी भाष्य रचना की है।

निम्नलिखित भाष्य ग्रन्थों को आचार्यकृत मानने मे विद्वानों को सन्देह बना हुआ है[2]—

1. कौषीतकि-उपनिषद् भाष्य, 2. मैत्रायणीय उपनिषद् भाष्य, 3. कैवल्य उपनिषद् भाष्य, 4. महानारायणोपनिषद् भाष्य, 5 हस्तामलकस्तोत्र भाष्य,[3] 6. अध्यात्मपटल भाष्य,[4] 7. गायत्री भाष्य, 8. सन्ध्या भाष्य।

निम्नलिखित कतिपय टीकाओं को शंकराचार्य-प्रणीत माना जाता है किन्तु उनकी रचना शैली तथा विषय प्रतिपादन को देखकर यह मत खंडित हो जाता है[5]—1. [illegible] 2. अमरुशतक टीका 3. आनन्द लहरी टीका 4. आत्मबोध टीका 5. उत्तरगीता टीका 6. उपदेश साहस्री वृत्ति 7. एक श्लोक व्याख्या 8. गोपाल-तापनीय भाष्य 9. दक्षिणामूर्ति अष्टक टीका 10. पन्चदीपप्रकरणी टीका 11. पन्चीकरण प्रक्रिया व्याख्या 12. परमहंस उपनिषद् हृदय 13. पातन्जलयोग सूत्र भाष्य-विवरण 14. ब्रह्मगीता-टीका 15. भट्टि काव्य-टीका 16. राजयोग-भाष्य 17. लघु-वाक्यवृत्ति-टीका 18. ललितासहस्रनाम भाष्य 19. विजृम्भित योगसूत्र भाष्य 20. शतश्लोकी व्याख्या 21. शाकटायन उपनिषद् भाष्य 22. शिवगीता भाष्य 23. षट्पदी टीका 24. संक्षेप शारीरिक भाष्य 25. सूत सँहिता भाष्य 26. सांख्य-कारिका टीका।[6]

---

1. महाभारत उद्योग पर्व–(42–46)
2. डा० राममूर्ति शर्मा–शंकराचार्य, साहित्य भण्डार सुभाषबाजार, मेरठ, पृ० 21
3. आचार्य ग्रन्थावली (श्रीरङ्गम्) 16 वाँ खण्ड, पृ० 163–183।
4. अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित।
5. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य–हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 156–157।
6. द्रष्टव्य-महामहोपाध्याय–गोपिनाथ कविराज, जयमंगला की भूमिका, पृ० 8–9 (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित)

(2) स्तोत्र ग्रन्थ :—

आचार्य शंकर यद्यपि अद्वय निर्गुण ब्रह्म के समर्थक थे तथापि सगुण ब्रह्मोपासना को व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति तथा कृष्ण आदि देवताओं की उपासना में सुन्दर स्तोत्रों का प्रणयन किया था। आचार्य-प्रणीत इन स्तोत्रों की साहित्यिक एवं दार्शनिक दोनों दृष्टियों से ही महत्ता है। नीचे शंकराचार्य के नाम से विख्यात स्तोत्रों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है[1]—

1. गणेश स्तोत्र :—(1) गणेश पन्चरत्न (2) गणेश भुजङ्ग प्रयात (3) गणेशाष्टक (4) वरद गणेशस्तोत्र।

2. शिवस्तोत्र :—(1) शिवभुजङ्ग (2) शिवानन्द लहरी (3) शिवपादादि केशान्तस्तोत्र (4) वेदसार शिवस्तोत्र (5) शिवकेशादि पादान्त स्तोत्र (6) शिवापराध-क्षमायणस्तोत्र (7) सुवर्णमालास्तुति (8) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (9) दक्षिणामूर्ति अष्टक (10) मृत्युन्जय मानसिक पूजा (11) शिवनामावल्यष्टक (12) शिवपंचाक्षर (13) उमामहेश्वर (14) दक्षिणामूर्ति स्तोत्र (15) काल-भैरवाष्टक (16) शिव-पंचाक्षर नक्षत्रमाला (17) द्वादशलिंगस्तोत्र (18) दशश्लोकी स्तुति।

3. देवीस्तोत्र :—(1) सौन्दर्य लहरी (2) देवीभुजङ्ग स्तोत्र (3) आनन्द लहरी (4) त्रिपुर सुन्दरी-वेदपाद (5) त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा (6) देवी चतुःषष्ठ्युपचार पूजा (7) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक (8) ललित पंचरत्न (9) कल्याणवृष्टिस्तव (10) नवरत्न मालिका (11) मन्त्रमात्रिका पुष्पमाला (12) गौरीदशक (13) भवानी भुजङ्ग (14) कनक धारा (15) अन्नपूर्णाष्टक (16) मीनाक्षी पचरत्न (17) मीनाक्षी-स्तोत्र (18) भ्रमराम्बाष्टकम् (19) शारदा भुजङ्गप्रयाताष्टक।

4 विष्णुस्तोत्र :—(1) कामभुजङ्ग प्रयात (2) विष्णु भुजङ्ग प्रयात (3) विष्णुपादादि केशान्त (4) पाण्डुरगाष्टक (5) अच्युताष्टक (6) कृष्णाष्टक (7) हरि-मीडेस्तोत्र (8) गोविन्दाष्टक (9) भगवन्-मानस-पूजा (10) जगन्नाथाष्टक।

5. युगल देवता स्तोत्र :—(1) अर्धनारीश्वर स्तोत्र (2) उमामहेश्वर स्तोत्र (3) लक्ष्मीनृसिंह पन्चरत्न (4) लक्ष्मी नृसिंह करुणारसस्तोत्र।

6. नदी-तीर्थ-स्तुति-परक-स्तोत्र :—(1) नर्मदाष्टक (2) गंगाष्टक (3) यमुनाष्टक (4) मणिकर्णिकाष्टक (5) काशीपन्चक।

7. साधारण स्तोत्र :—(1) हनुमत् पंचरत्न (2) सुब्रह्मण्य भुजङ्ग (3) प्रातः स्मरण स्तोत्र (4) गुर्वष्टक।

---

1. डा० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार शहर, 1964, पृष्ठ सं० २२।

शंकराचार्य के नाम से विख्यात उपर्युक्त 64 स्तोत्र आचार्य शंकर की प्रकाशित रचनाओं में स्वीकार किये जाते है।[1] परन्तु शंकर के नाम से प्रचलित कम से कम 240 स्तोत्र छपे या हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध होते है। इन स्तोत्रों की शैली तथा प्रतिपाद्य विषय के अनुशीलन से ये सब आदि शंकर की रचनाएँ प्रतीत नहीं होती हैं।[2] उपर्युक्त स्तोत्रों में निम्नलिखित रचनाओं को आचार्य की प्रख्यात एवं प्रामाणिक कृतियाँ माना जाता है[3] :—

(1) चर्पट पंजरिका या मोहमुद्गर (2) द्वादश पंजरिका (3) पट्पदी या विष्णुषट्पदी (4) मनीषा पंचक (5) सौपान पंचक या उपदेश पंचक[4] (6) आनन्द-लहरी (7) गोविन्दाष्टक[5] (8) [illegible] (9) दशश्लोकी या चिदानन्द दशश्लोकी या चिदानन्द स्तवराज (10) हरिहरमीडेस्तोत्र (11) शिवभुजङ्ग प्रयात (12) सौन्दर्य लहरी।

3. प्रकरण-ग्रन्थ :—

जन साधारण तक अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को पहुँचाने के लिये आचार्य ने छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें वेदान्त विषय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है। वेदान्त तत्व-प्रतिपादक होने से ये 'प्रकरण-ग्रन्थ' कहलाते है, जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि सम्पत्ति का तथा अद्वैत के मूल सिद्धान्तों का बडा ही विशद विवेचन है।[6] ऐसे प्रकरण-ग्रन्थो की संख्या बहुत अधिक है किन्तु सभी को आचार्य की रचना स्वीकार नही किया जाता है। नीचे उन प्रकरण-ग्रन्थों की सूची दी जा रही है जिनको अधिकतर विद्वान् आचार्य-प्रणीत मानते हैं :[7]

1. **अपरोक्षानुभूति :**—इस ग्रन्थ में 144 श्लोको मे अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन है।

2. **आत्मबोध :**—68 श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवेचन है।

---

1. शंकर ग्रन्थावली—वाणी विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित।
2. डा० राममूर्ति शर्मा—श्री शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृ० 231।
3. वही।
4. शंकर ग्रन्थावली–वाणी विलास प्रेस द्वारा प्रकाशित, भाग 16, पृष्ठ सं० 127
5. वही, भाग–18, पृ० 56–58।
6. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 162।
7. वही, पृष्ठ स० 163 से 169 द्रष्टव्य।

3. **उपदेश साहस्री** :—इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—(1) गद्य-प्रबंध (2) पद्य-प्रबध जिसमें 19 प्रकरण है।

4. **पंचीकरण प्रकरण** :—इसमे पन्चीकरण का गद्य में वर्णन किया गया है।

5. **प्रबोध सुधाकर** :—इसमे 257 आर्याछन्द मे वेदान्त तत्व का सुन्दर निरूपण किया गया है।

6. **लघुवाक्यवृत्ति** :—18 अनुष्टुप् छन्दों वाले श्लोको में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

7. **वाक्यवृत्ति** :—'तत्वमसि' पद के तत्-त्वं के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का निरूपण 5 श्लोकों मे किया गया है।

8. **शतश्लोकी** :—इस ग्रन्थ में 100 श्लोको में वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

9 **विवेक चूडामणि** :—इसमे 581 सुन्दर श्लोको मे अद्वैत वेदान्त का बढा सुन्दर विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त 9 प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त नीचे ऐसे प्रकरण ग्रन्थों को लिखा जा रहा है जिनका आचार्य-प्रणीत होना सन्देहास्पद है[1]—

(1) अद्वेत पन्चरत्न (2) अद्वैतानुभूति (3) अनात्म श्रीविगर्हण प्रकरण (4) उपदेश पचक (5) एक श्लोकी (6) कौपीन पंचक (7) जीवन्मुक्तानन्द लहरी (8) तत्वबोध (9) तत्वोपदेश (10) धन्याष्टक (11) निर्गुणमानसपूजा (12) निर्वाण मन्जरी (13) निर्वाण षटक् (14) परापूजा (15) प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (16) प्रौढानुभूति (17) ब्रह्मज्ञानावली माला (18) ब्रह्मानुचिन्तन (19) मणिरत्न-माला (20) मायापन्चक (21) मुमुक्षु पन्चक (22) योगतारावली (23) विज्ञान नौका (24) वैराग्य पन्चक (25) सदाचारानुसन्धान (26) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह (27) सर्वसिद्धान्त सार संग्रह (28) स्वात्मनिरूपण (29) स्वात्म प्रकाशिका।

उपर्युक्त प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त 43 श्लोकों में निबद्ध 'वाक्यसुधा'[2] को विद्वान् आचार्य प्रणीत नही मानते है। इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य के नाम से प्रचलित 39 प्रकरण-ग्रन्थों में उपर्युक्त 9 ग्रन्थो को ही निःसन्दिग्ध रूप से आचार्य की कृतियों के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

(4) **तन्त्र-ग्रन्थ** . . . शंकर ने अपने युग के सिद्धतान्त्रिकों में अग्रगण्य

---

1 श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 163–69।

2. श्री बलदेव उपाध्याय–वही, पृष्ठ स० 167.

थे। उनकी निम्नलिखित दो रचनाएँ[1] तान्त्रिक साहित्य की अमूल्यनिधि के रूप में स्वीकार की जाती हैं—

(1) **सौन्दर्य लहरी**—संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में ऐसा अनुपम ग्रन्थ मिलना कठिन है।[2] अतः कतिपय विद्वानों ने इसकी गणना आचार्य-प्रणीत स्तोत्र-साहित्य में की है।[3] आचार्य ने तन्त्र के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन बडी सुन्दरता से इस ग्रन्थ में किया है।

(2) **प्रपन्चसार**—प्राचीन परम्परा तथा ऐतिहासिक अनुशीलन से यह आचार्य की तान्त्रिक कृति स्वीकार की जाती है।

उपर्युक्त प्रकार के सभी ग्रन्थों के अतिरिक्त मठों की व्यवस्था हेतु आचार्य शंकर ने 'मठाम्नाय'[4] ग्रन्थ की भी रचना की थी जिसमें चारों पीठों की पूर्णव्यवस्था तथा पीठों के अध्यक्षों के लिए 'महानुशासन' का विधान लिखा हुआ है।

शंकराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन :

आचार्य शंकर के जीवन-चरित्र के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एवं मनन करने पर उनका महान् व्यक्तित्व, प्रतिभापूर्ण पान्डित्य, उदात्त चरित्र तथा अप्रतिम काव्य प्रतिभा का भव्यरूप अद्वितीय एवं असामान्य तथा असाधारण रूप में आलोचकों के समक्ष स्पष्ट रूप में प्रकट होता है। आचार्य का मानव-जीवन आदर्श सम्पन्न था। गुरु तथा माता की उत्कट भक्ति, शिष्यों पर अनुपम प्रेम, भक्तों के प्रति असीम दयाभाव, शत्रुओं के प्रति अहैतुकी क्षमा-भावना और अप्रतिशोध का दृष्टिकोण आदि अनेक सद्गुणों का परस्पर सामञ्जस्य उनके चरित्र में सर्वत्र पाया जाता है। उनकी मानसिक शक्ति अपूर्व थी। मानव मस्तिष्क तथा हृदय का अपूर्व मिश्रण उनमें मिलता है। वस्तुतः आचार्य शंकर का बौद्धिक विकास चरमसीमा पर होते हुए भी उसमें मृदुल हृदय का सामञ्जस्य पदे-पदे परिलक्षित होता है। जितना विकास मस्तिष्क का मिलता है, उतनी ही हृदय की अभिव्यक्ति भी मिलती है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी—एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 169 द्रष्टव्य।
2. वही, पृष्ठ सं० 169.
3. डा० राममूर्ति [illegible], साहित्य भण्डार, सुभाप बाजार, मेरठ शहर, पृष्ठ सं० 23 दृष्टव्य।
4. सौभाग्य विशेषांक—शंकराचार्य, मानव कल्याण आश्रम, कनखल, हरिद्वार, पृष्ठ सं० 6 दृष्टव्य।

उनके विषय में पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्द, "वह मस्तिष्क तथा बुद्धि एवं तर्क के धनी थे।"[1] उपर्युक्त विवेचना की पुष्टि करते है।

शंकराचार्य केवल दार्शनिको के ही शिरोमणि नही है प्रत्युत उनकी गणना संसार के उन विचारकों में की जाती है जिन्होंने अपने विचारों से मानव चिन्तन में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। वह वस्तुत: दर्शन-जगत् के सूर्य हैं। उनकी दार्शनिकता, विद्वत्ता तथा पांडित्य का पता उनके ग्रन्थों से चलता है। अत: उनके सम्बन्ध मे माधवाचार्य (14वी शताब्दी) के ये शब्द उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य जैसे महान् दार्शनिक के महत्वांकन में वह उसी प्रकार हास्य के पात्र बन जाते हैं जिस प्रकार कि बालक अपने हाथों से चन्द्रमा के पकड़ने का उद्योगकर उपहासास्पद बनता है।[2] उन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) जैसे कठिन तथा दुरुह अध्यात्म ग्रन्थों का अभिप्राय: अपने भाष्य ग्रन्थों में इतनी सरलता तथा सुगमता से समझाया है कि इसका पता विज्ञपाठकों को पदे-पदे शिक्षा एवं प्रेरणाप्रद प्रतीत होता है। उनकी इस प्रतिभा से प्रभावित होकर अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती (16वी शताब्दी) ने यहाँ तक कहा है कि मैं उन व्यास की स्तुति नहीं करता जो सूत्रों के द्वारा भी वेदान्त के समग्र तात्पर्य को ग्रथित नहीं कर सके। इसलिए सूत्रों के बिना ही जिन्होंने वेदान्त के सफल तात्पर्य को (अपने भाष्य ग्रन्थो मे) ग्रथित कर दिया, ऐसे शंकराचार्य और सुरेश्वर को मैं नमस्कार करता हूं।[3]

उनके भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ एवं प्रान्जल है। शैली प्रसन्न-गम्भीर है। इन कठिन गम्भीर ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गई है कि पाठक को पता ही नहीं चलता है कि वह किसी दुरुह विषय का अध्ययन-विवेचन कर रहा है। वङ्गीय विद्वान् स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती ने उनके महत्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "शांकर भाष्य प्रसन्न-गम्भीर है। शंकराचार्य का भाष्य अचल सिन्धु के समान गम्भीर, अटल पर्वत के समान अधृश्य, सूर्य के समान प्रोज्वल और चन्द्रमा के समान सुशीतल है।······विचार-तीक्ष्णता मे शंकर साक्षात् सरस्वती है। शंकर दार्शनिक क्षेत्र मे सार्वभौम सम्राट् है। वह

---

1. *Glimpses of World History*—Nehru J. L., Guilford Place London, W. C. I., page 128.
2. शंकर दिग्विजय 1–12 श्रवणनाथ मन्दिर हरिद्वार।
3. मधुसूदन सरस्वती, सिद्धान्त बिन्दु–अच्युतग्रंथमाला काशी—पृष्ठ सं० 247.

चिन्ताराज्य के चक्रवर्ती और मनीषा में [illegible] है।"[1]

उनका ज्ञान बड़ा ही व्यापक था। वह केवल वैदिक धर्म के मूल ग्रंथों तक ही सीमित न था, प्रत्युत् उसकी परिधि पर्याप्त विस्तृत थी। जिन मतों, सिद्धान्तों तथा सम्प्रदायों का निराकरण उन्होंने किया है, उनकी जानकारी उन्हें विशेष रूप से थी। बौद्ध, जैन, पाँचरात्र तथा पाशुपत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा आदि शास्त्रों में उनके निष्णात ज्ञान की अबाध गति की प्रतीति होती है। उनके सिद्धान्त अद्वैतवाद में अपूर्व समन्वय के दर्शन होते है। वस्तुतः शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैत-वादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों—किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।[2]

शंकराचार्य भारतीय दार्शनिकों के मुकुटमणि हैं। जिस प्रकार कोई धनुषधारी अपना तीर चलाकर लक्ष्य को विद्ध कर देता है, उसी प्रकार आचार्य ने अपने तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूलसिद्धान्त के निराकरण करने मे उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। उस सिद्धान्त के खंडित होते ही उनका प्रतिपादित मत सुग्राह्य तथा मान्य हो जाता है। अतः अनेक आधुनिक भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने शांकर दर्शन एवं उनके व्यक्तित्व का गुणगान विभिन्न रूप मे किया है। डा० घाटे ने शांकर अद्वैतवाद को सर्वोच्च कहा है। उनके अनुसार शंकर जैसी मानवीय विचारों की उन्नतता अन्यत्र अलभ्य है।[3] डा० दास गुप्ता के कथनानुसार शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित एवं उनके अनुयायियों द्वारा विकसित दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि जब कभी हम वेदान्त दर्शन का नाम लेते है तो उससे शांकर-दर्शन का ही तात्पर्य होता है।[4] डा० राधाकृष्णन् शांकर दार्शनिक सिद्धान्त को आध्यात्मिक गाम्भीर्य एवं तार्किक शक्ति मे अद्वितीय मानते है।[5] इसी प्रकार पश्चिमी विद्वान सर चार्ल्स इलियट के अनुसार शांकर

---

1. वेदान्त दर्शनेर इतिहास, राजेन्द्रनाथ घोष सम्पादित, श्री शंकरमठ वरिशाल प्रकाशन–प्रथम भाग, पृ० 83.
2 *Indian Historical*, Quarterly, 1920 page 692.
3. Ghate, V. S.—*The Vedanta*, page 54. (Bhandarkar Oriantal Institute, Poona).
4. Das Gupta, S. N.—*Indian Philosophy*, Vol. I, Third Edition, 1951, page 429. (Cambridge University Londo.n)
5. Dr. Radhakrishnan—*Indian Philosophy*, II, pagc 657, London, Allen & Unwin.

अद्वैतवाद स्थिरता, पूर्णता एवं गम्भीरता की दृष्टि से भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रथमकोटि का है।[1] ई० वी० एफ० टौमलिन ने शंकराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि वह उन सब दार्शनिकों में महान् हैं जिन्हें आज पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी। इसी स्थल पर आगे टौमलिन का कथन है कि शांकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल मे आकर जर्मन दार्शनिक कान्ट ने अपनाया।[2] ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य के अनुवादक डा० थीबो का कहना है कि शंकराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना विचारों की निर्भीकता, गम्भीरता और सूक्ष्मता के क्षेत्र मे न किसी शांकर सिद्धान्त के विरोधी वेदान्त सिद्धान्त से की जा सकती है और न किसी अवेदान्तिक सिद्धान्त से।[3]

शंकराचार्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व के बल पर इन समस्त अवैदिक अथवा अर्धवैदिक और नास्तिक सिद्धान्तों को जन सामान्य में अलोकप्रिय बना दिया। उनकी निःसारता प्रमाणित कर दी तथा वेद-प्रतिपाद्य अद्वैतमत का विपुल उहापोहकर वैदिक धर्म को निरापद बना दिया। यही कारण है कि उन्हें साक्षात् शिव का अवतार माना गया है।[4] अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा के द्वारा शंकराचार्य ने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है जो न एकदम भौतिकवाद है, न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद।······उनका अद्वैतवाद भक्ति. कर्म और ज्ञान, स्थूल और सूक्ष्म का समन्वयभूत सिद्धान्त है।[5]

वैदिक ग्रंथ दुरुह तथा क्लिष्ट-संस्कृत प्रधान होने के कारण जनसामान्य के लिए उपेक्षित बने हुए थे। आचार्य शंकर ने श्रुति के मूर्धस्थानीय उपनिषदों की विशदव्याख्या कर जिस साहित्य की सृजना की वह भारतीय चिरन्तन संस्कृति की अमूल्यनिधि है। ब्रह्मसूत्र और गीता पर उन्होंने अपने सुबोध भाष्यों का प्रणयन किया। वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में भाष्य-प्रणयन का उनका प्रयास सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम है। आज जिन रामानुज प्रभुति आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना

---

1. *Hinduism & Budhism*–II, II nd Edition, page 208, Broad Way London
2. Tomlin, E V F.—*The Great philosophers* (the eastern world) page 218, Shefington London, Ist Edition
3. Thibout *Introduction* (S. B E. Vol. XXXIV P. XIV) Oxford Clarendan.
4. मधुसूदन सरस्वती सिद्धान्त बिन्दु, पृ० 3, अच्युत ग्रन्थमाला काशी,
5. डा० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य–साहित्य भण्डार, सुभाप बाजार, मेरठ, पृष्ठ सं० 6.

शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों से की जाती है उनको भी भाष्य रचना की प्रेरणा आचार्य शंकर से प्राप्त हुई है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में भाष्य-प्रणयन-परम्परा के मूल प्रवर्तक हैं। साधारण लोगों के लिए उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना कर अपने सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में सरल, सरस श्लोको के द्वारा अभिव्यक्त किया है। इतना ही नहीं, वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्तों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से उन्होने अपने भाष्य ग्रन्थों पर वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में उनकी प्रेरणा प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उन लोगों ने आचार्य से प्रेरणा ग्रहण कर जिस विपुल ग्रन्थ राशि का अद्वैत-प्रतिपादन के लिए प्रणयन किया है, उसकी रचना की प्रेरणा का मूलस्रोत आचार्य के ग्रन्थों में प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकार अद्वैतसाहित्य को जन्म देकर शंकर ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझे और कोई भी अद्वैत तत्त्व के उपदेश से वन्चित न रह जाय। अत: न केवल वह (शंकराचार्य) ब्राह्मण जाति के महान् नेता है वरन् वह जन भावनाओं को अधिगृहीत करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

धर्म-संस्थापन कार्य को स्थायी बनाने के लिए शंकर ने संन्यासियों को संघबद्ध करने का श्लाघनीय उद्योग किया। अपनी शिक्षा-दीक्षा, उपासना तथा निवृत्ति के कारण संन्यासी समाज का भलीभाँति उपदेशक हो सकता। आचार्य ने इसीलिए उसे संघबद्ध करने का सफल प्रयास किया। वस्तुत: विरक्त पुरुष ही धर्म का सच्चा उपदेश दे सकता है तथा अपना जीवन वैदिक धर्म के अभ्युदय एवं विकास में लगा सकता है। शंकर ने इस विरक्त संन्यासी वर्ग को एकत्र कर एक संघ के रूप में संगठित कर वैदिक धर्म के भविष्यगत कल्याण के लिए महान् कार्य किया। संन्यासी संघ की स्थापना राष्ट्र एवं धर्म के हित में शंकर का अत्यन्त गौरवशाली कार्य है[2]।

समस्त राष्ट्र की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक एकता को अक्षुण बनाये रखने के लिये शंकर ने देश की चारों दिशाओं में-उत्तर में ज्योतिष्पीठ, दक्षिण में शृंगेरी पीठ, पूर्व में गोवर्धनपीठ तथा पश्चिम में शारदापीठ ये चार पीठ स्थापित किये। समस्त देश को धार्मिक दृष्टि से विभाजित कर उन्हें इन्हीं पीठों के अध्यक्षों के अधीन कर दिया था जिससे समस्त भारतीय जनता में सदैव धार्मिक जागृति समान रूप से बनी रहे। पीठ

---

1. Nehru J. L. *Glimpses of World History*, Guilford Place, London, W. C. I. p. 128.
2. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ सं० 328.

के प्रधान आचार्य अद्यपर्यन्त शंकराचार्य ही कहलाते हैं और जो कि घूम घूमकर लोगों में धार्मिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं। इस प्रकार उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों की भूमिका धर्म संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करने वाले विश्वविद्यालय के समान रही है। वास्तव में आचार्य शंकर का यह पीठ-स्थापन-कार्य जनशिक्षा की दृष्टि से विश्व-शिक्षा के इतिहास में अद्वितीय एवं अन्यत्र अलभ्य उदाहरण है।

शकराचार्य में पाण्डित्य के साथ-साथ कवित्व का अनुपम सम्मेलन था। उनकी रचनाओं और काव्यों को पढ़कर विश्वास नहीं होता कि ये किसी तर्क-निष्णात परम विद्वान की रचना है। उनकी कविता रस-भाव-स्निग्धा है, वह आनन्द का अजस्र स्रोत है, यह उज्जवल अर्थरत्नों की मनोरम मन्जूषा है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उसमें एक विचित्र मोहकता है, अनुपम भावुकता है जिसे पढ़ते-पढ़ते ही मस्ती छा जाती है। पाठक को परलोक के आनन्द का आभास होने लगता है। काव्य में शब्द सौन्दर्य इतना प्रभावशाली है कि शब्द-माधुर्य का पानकर चित्त अन्य विषयों से हटकर इस मनोरम काव्य प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है। उनके द्वारा रचित शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि के स्तोत्रों में उनके अद्भुत काव्य सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

आचार्य शंकर के रूप में हमें एक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। यह सब शंकराचार्य की ही प्रतिभा का फल है कि आज अद्वैत सिद्धान्त भारतीय जनता का व्यावहारिक धर्म बन गया है यह उनके व्यक्तित्व का साफल्य ही है कि दार्शनिक क्षेत्र में शांकर वेदान्त को मानवीय मस्तिष्क की महत्तम उप्ल-ब्धियों में स्वीकार किया जाता है।[1] अल्पायु में ऐसा व्यापाक कार्य उनके द्वारा सम्पन्न करते देखकर किसको आश्चर्य नहीं होगा? अष्टम वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, द्वादशवर्ष में समग्र रूप से समस्त शास्त्रों का ज्ञान, सोलहवें वर्ष में भाष्य रचना और बत्तीस वर्ष में ब्रह्मलीनता को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा?

आचार्य शंकर उच्चकोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले सन्यासी थे, लोक के निर्वाह के लिए नितान्त व्यवहारकुशल पंडित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द-स्रोत बहाने वाले भावुक कवि थे, भगवती ललिता के परम उपासक-सिद्ध जन थे वह युगान्तरकारी सिद्ध पुरुष थे। उन्हें साक्षात् भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। वह भगवान् की एक सतत् दीप्तिमान् दिव्य विभूति है। इसीलिये उनकी आभा शताब्दियों के बीतने पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो

---

1. Verma, M. *The Philosophy of Indian Education*, Minakshi Prakashan, Meerut, Indian Idealisam, P. 45.

रही है। अतः डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में यह कहना समीचीन है, "हम शंकर के रूप में एक निःसङ्ग तपस्वी विचारक की कल्पना कर सकते है, जो गम्भीर ध्यान मे मग्न होने की क्षमता रखता था और साथ ही क्रियात्मक जीवन में गम्भीर था।[1]

शांकर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठभूमियाँ :

अपने युग के महान् दार्शनिक, गम्भीर विचारक उच्चकोटि के धर्मतत्ववेत्ता तथा युगान्तकारी शिक्षा-शास्त्री आद्य शंकराचार्य की अवतारणा विश्व इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है जिसकी पृष्ठभूमि का विकास भारतीय इतिहास के गौरवमय स्वर्ण पृष्ठों से जुड़ा हुआ है। उन्होंने जहाँ एक ओर दर्शन, धर्म एवं चिन्तन को नई दिशा प्रदान की है, वहाँ एक अत्यन्त उच्चकोटि के शिक्षा-दर्शन का विकास कर शिक्षा-जगत् को अमूल्य निधि से परिपूर्ण कर दिया है। यह सब उनके द्वारा अकस्मात् नहीं हुआ है, वरन् इसके विकास में उन्हें एक सबल एवं प्रभावशाली पृष्ठभूमि का सहयोग प्राप्त होता रहा है। अतः डा० राधाकृष्णन् के शंकर के सम्बंध में ये उद्गार उल्लेखनीय हैं—"एक प्रथम श्रेणी के रचनात्मक विचारक के रूप में शंकर ने अपने समय के दार्शनिक उत्तराधिकार मे प्रवेश किया और अपने समय की विशेष आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उसकी नये सिरे से व्याख्या की।[2]"

किसी युग के कलाकार, धार्मिक तत्ववेता, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ अपने अतीत की पृष्ठभूमि में पुष्पित-पल्लवित होकर अवतीर्ण होते है। अतः भगवान श्रीकृष्ण की अवतारणा की पृष्ठभूमि में अधर्मवृद्धि का चित्रण गीता मे किया गया है।[3] इस प्रकार डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में यह कहना समीचीन ही है—"महान् विचारक सब महत्वपूर्ण युगों में प्रकट होते हैं और जहाँ वे अपने युगों की उपज है वहाँ वे उन युगों के निर्माणकर्ता भी हैं। उनकी प्रतिभा अपने युग के अवसर को पकड़ लेने की शक्ति तथा ऐसी मूक आकाँक्षाओं को जो एक दीर्घकाल से मानव-जाति के हृदयों में बाह्यरूप में प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही होती है, वाणी प्रदान करने में निहित रहती है।[4]" "आचार्य शंकर ने वेदान्त दर्शन एवं वैदिक के धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जिस शिक्षा-दर्शन की सृजना की थी उसका विकास विशिष्ट प्रकार की पृष्ठभूमियों में हुआ था। अतः यहाँ उन पृष्ठभूमियों की विवेचना करना समीचीन होगा। ये पृष्ठभूमियाँ अग्रलिखित है—

---

1. डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—6 1969, पृ० सं० 440.
2. डा० राधाकृष्णन्—वही, पृष्ठ सं० 460।
3. श्रीमद्भगवद्गीता (4-8) गीता प्रैस, गोरखपुर
4. डॉ० राधाकृष्णन्–वही।

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2. धार्मिक पृष्ठभूमि
3. दार्शनिक पृष्ठभूमि
4. सास्कृतिक पृष्ठभूमि
5. सामाजिक पृष्ठभूमि

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—वैदिक धर्म का बौद्ध धर्म मे तथा जैन धर्म से सदा संघर्ष होता रहा। जैन धर्म की उत्पत्ति यद्यपि बौद्ध धर्म से पूर्व हुई थी तथापि प्रभावशालिता एवं व्यापकता को दृष्टि से वह बौद्ध मत से पिछड़ गया था। अतः वैदिक धर्म का मुख्य संघर्ष बौद्ध धर्म के साथ रहा। वैदिक धर्म के विरोध में बौद्ध धर्म ने श्रुति (वेद) को अप्रमाणिक घोषित कर आत्मवाद का (ज्ञानकाण्ड) खण्डन तथा यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड का तिरस्कार किया। फलतः जनता में वेदों के प्रति घोर अनास्था एवं अविश्वास की भावना उत्पन्न कर बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म के लिए ऐसी चुनौती उपस्थित कर दी थी कि जिसका निराकरण आवश्यक हो गया था। विक्रम पूर्व चतुर्थ शतक में मौर्य शासन-काल में बौद्धों को राज्याश्रय प्राप्त हो जाने पर उनके लिये अपने मत का प्रचार करना सहज हो गया था। मौर्यवंश के प्रसिद्ध सम्राट अशोक ने अपनी विपुल राजशक्ति द्वारा इस धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार मौर्ययुग में वैदिक धर्म को पददलित करने का उद्योग किया गया। फलतः धार्मिक संघर्ष के युग का सूत्रपात हुआ। मौर्योत्तर काल की प्रधान विशेषता इतिहासवेत्ताओं के कथनानुसार भारत मे बौद्धधर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने बौद्ध धर्म के आधार पर 'धम्म विजय' की जिस नीति का अवलम्बन किया था वह कालान्तर मे देश के लिए अभिशाप सिद्ध हुई। अशोक के शासन का आधार अहिसामूलक होने पर भी उसकी सैन्यशक्ति के सबल होने से राज्यकार्य निर्विघ्न चलता रहा किन्तु उसके उत्तराधिकारियों के काल में इसी इसी बौद्ध नीति के कारण सैन्यबल के क्षीण होने पर यवनों के आक्रमणों ने अशोक के 'अहिसा परमोधर्मः' वाले सिद्धान्त को विफल बना दिया था।

मौर्य शासन के पतनोपरान्त ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र ने शुंगवंश की द्वितीय शतक में स्थापना की थी। इस युग तक बौद्धों मे नाना प्रकार के अनाचार, असदाचार एवं व्यभिचार घर कर गये थे। अब बौद्ध मठ पवित्रता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता के केन्द्र न रहकर ऐश्वर्यपूर्ण विलासी जीवन-यापन करने के स्थान बन गये थे। इसी कारण बौद्ध भिक्षुओं के प्रति सामान्य जनता की श्रद्धा का अन्त हो गया था। पुनः जनता वैदिक धर्म की ओर शरणापन्न भाव से आकृष्ट होने लगी थी। पुष्यमित्र ने वैदिक धर्म के अतीत के गौरव की पुनः स्थापना हेतु अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। कालिदास[1] की रचना 'मालविकाग्निमित्र' का नायक इसी पुष्यमित्र का

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 26।

ज्येष्ठ पुत्र महाराज अग्निमित्र है। पुष्यमित्र का अपने शासनकाल में दो बार अश्वमेध यज्ञ कराना इतिहास सिद्ध तथ्य है यह अश्वमेध यज्ञ उस युग में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रतीक था। इस प्रकार हम देखते हैं किसी युग में न केवल सामान्य जनता की आस्था वैदिक धर्मोन्मुख हो रही थी वरन् तत्कालीन शासकवर्ग भी वैदिक धर्म के पुनर्जागरण में प्राण-पण से जुटा हुआ था।

शुंगों से कुछ शताब्दियों उपरान्त कुषाण युग आता है। कुषाणवंशीय राजा कनिष्क बौद्ध धर्म का असाधारण पक्षपाती तथा उदार प्रचारक था। उसने विश्वबौद्ध सम्मेलन का आयोजन कर इस धर्म का विपुल प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया गुप्तकालीन सम्राटों में लक्षित होती है। गुप्त सम्राटों मे कुछ शैव, कुछ वैष्णव और कुछ बौद्ध थे। यह युग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है। अतः कला, दर्शन, धर्म एव तत्वज्ञान के इतिहास में इस युग का विशिष्ट स्थान है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन-तत्वज्ञानियों के संघर्ष से अनेक प्रकार के सिद्धान्त, मत तथा सम्प्रदायों का आविर्भाव इस युग की ऐतिहासिक विशिष्टता है। बौद्धों में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे पंडित, वैदिकों मे वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद आदि दिग्गज विद्वान् और जैन मतावलम्बियों में समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर सदृश महान् विचारकों की रचनाओं द्वारा इस युग (सप्तम शताब्दी) में बौद्ध धर्म एवं जैन तथा वैदिक धर्म के अनुयायियों में शास्त्रार्थ की परम्परा का भी आविर्भाव हुआ।[1]

जैन-बौद्धों द्वारा वैदिक क्रिया कलापों एवं सिद्धान्तों के प्रति उठाई गई शंकाओं के समाधान के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वैदिक सिद्धान्तों की यथार्थता जनता को भली भाँति समझायी जाय। इसी प्रकार श्रुति (वेद) के कर्म-काण्ड में आपाततः जो विरोध दृष्टिगोचर होता था, उसका निराकरण किया जाय तथा यज्ञ-याग की उपयोगिता की तार्किक विवेचना की जाय जिससे ऐश्वर्योपभोगी बौद्धों से भ्रष्ट आस्था वाली जनता का उचित पथ-प्रदर्शन किया जा सके। इस आव-श्यकता की पूर्ति करने का श्रेय दो वैदिक विद्वान् आचार्य कुमारिल तथा जगद्गुरु शंकराचार्य को है। भट्टाचार्य कुमारिल ने वेद के प्रामाण्य को सबल युक्तियों पर स्थापित कर श्रुतिसमस्त कर्मकाण्ड की उपादेयता स्पष्ट की। आचार्य कुमारिल के प्रयास से अवशिष्ट वैदिक ज्ञानकाण्ड के प्रमाण्य, गौरव तथा लाभकारित्व को शकरा-चार्य ने जनमानस में स्थापित किया। इस प्रकार इतिहासविदों की दृष्टि में कुमारिल और शंकर इसी युग की देन हैं।[2]

---

1. डा० राम मूर्ति शर्मा—शंकराचार्य—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृष्ठ सं० 62।
2. मजमुदार आर० सी०—एनशियेन्ट इन्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस पृष्ठ सं० 457।

उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में समस्त अवैदिक दर्शनों, सिद्धान्तों तथा सम्प्रदायों के उन्मूलन का कार्य आचार्य शंकर के सम्मुख गम्भीर चुनौती के रूप में था। उन्होंने एतदर्थ समस्त भारत की दिग्विजय कर तत्कालीन प्रचलित अवैदिक मतों का खण्डन किया और जन सामान्य को पुनः वैदिक धर्म में दीक्षित करने का बीड़ा उठाया। इसी प्रयास के अन्तर्गत उन्होंने वैदिक-शिक्षा को चिरस्थायी बनाने के लिये चारपीठों की स्थापना की। यद्यपि बौद्ध विहारों तथा मठों की परम्परा अत्यन्त पुरानी थी तथापि शंकराचाय द्वारा स्थापित मठों के प्रति जनता मे अधिक आस्था होने लगी थी क्योंकि उस युग में बौद्ध मठों में विलासी जीवन-यापन करने वाले बौद्ध भिक्षुकों की अपेक्षा मठों में रहने वाले त्यागी-तपस्वी एवं विद्वान संन्यासियों ने अपने आत्मबल तथा स्फूर्तिपूर्ण कार्यों से जन सामान्य की श्रद्धा-भावना को अधिक रूप में अर्जित कर लिया था। इस प्रकार आचार्य शंकर को अपने धार्मिक, दार्शनिक तथा शैक्षिक विचारों के विकास में उपयुक्त ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ था।

2. धार्मिक पृष्ठ भूमि—भगवान् शंकराचार्य का अविर्भाव वैदिक धर्म की रक्षार्थ तथा अवैदिक मतों के निराकरण-हेतु इस भारत भूमि पर हुआ था। परम्परागत रूप में उन्हें श्री शंकर का अवतार माना जाता है जिसकी अवतारणा हिन्दू धर्म की सुदृढ़ता के लिये हुई थी।[1] अतः भारतीय समाज में उन्हें एक उच्चकोटि के धर्माचार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक क्षेत्र में उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं, आदर्शों एवं सिद्धान्तों के मान्य होने के कारण आज भी उनके चारों पीठों के अधिपति शंकराचार्य भारतीय समाज मे पूजनीय एवं वन्दनीय हैं। वे एक ऐसे देव दूत की तरह थे जो मनुष्य-समाज को धर्म के मार्ग का पथ-प्रदर्शन करने के लिये अवतरित हुआ था।[2] उस धार्मिक पृष्ठ-भूमि का, जिसमे अ चार्य शकर का आविर्भाव हुआ, माधव कृत 'शंकर दिग्विजय' मे बड़ा रोचक वर्णन मिलता है शाक्य (बौद्ध) पाशुपत, जैन, कापालिक, वैष्णव तथा अन्य दुष्ट तार्किकों से जब वैदिक मार्ग उच्छिन्न किया जा रहा था तब इस मार्ग की रक्षा करने के लिये संसार रूपी घोर कानन में विचरण करने वाले पुरुषों के कल्याण के लिये भगवान् शकर ने इस पृथ्वीतल पर अवतार धारण किया तथा अपनी लीला का विस्तार किया।"[3]

1. Majmudar, R.C The age of Imperial Kanauj Bhartiya Vidya Bhawan, P. 303.
2. डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग-2 राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6 पृ० 442।
3. माधवाचार्य—श्री शंकर दिग्विजय, श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ० सं० 89।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य से पूर्व भारत नाना प्रकार के अवैदिक मतमतान्तरों एवं सम्प्रदायों की पंक मे निमग्न हो गया था। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष विक्रम पूर्व चतुर्थशतक में मौर्यकाल में बौद्धों का राजाश्रय प्राप्त होने से उग्रता की ओर अग्रसर होने लगा था। फलस्वरूप मौर्यों के पतनोपरान्त ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र ने शुंगवंश की स्थापना कर वैदिक धर्म के उन्नयन के लिये अथक प्रयास किया। शुंगों से कुछ शताब्दी पश्चात् कुषाण युग आता है। इस काल मे पुन: बौद्ध धर्म विकसित होना प्रारम्भ हुआ जिसकी प्रतिक्रिया गुप्तकालीन वैष्णव नरेशो के क्रियाकलापो मे दृष्टिगोचर होती है किन्तु अभी तक बौद्ध धर्म का उन्मूलन नहीं हो पाया था। बौद्ध भिक्षुक और प्रचारक राजाओं पर अपने धर्म का प्रभाव स्थापित करने मे संलग्न थे। इस प्रकार अभी तक बौद्ध धर्म परास्त नहीं हो पाया था।

इस युग में नागार्जुन, वसु-बन्धु,दिङ्नाग तथा धर्म कीर्ति जैसे बौद्ध नैयायिक विद्वान भी हुये और इसी प्रकार ब्राह्मण नैयायिकों में वात्सायन, उद्योतकर तथा प्रस्तपाद-के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैन मतावलम्बी समन्तभद्र तथा सिद्ध सैन दिवाकर श्रुति (वेद) का अप्रामाण्य सिद्ध करने में जुटे हुये थे। यह बौद्धों तथा जैन मतावलम्बियोंकी ओरसे वैदिक धर्मके विरुद्धयुद्ध जैसा प्रयास था। अत: वेदप्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म एवं यज्ञ आदि कर्म की निन्दा करना और वैदिक सिद्धान्तो का उपहास करना उस युग की एक सामान्य प्रवृत्ति हो गयी थी।[1] इस प्रकार की पृष्ठ-भूमि में ऐसा प्रयास होना स्वाभाविक ही था जिससे समस्त अवैदिक मतों का निराकरण होकर पुन: वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हो सके। आचार्य कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य की अवतारणा ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की।

शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास अवैदिक मतो के उच्छेद तथा वैदिक धर्म के स्थापन के प्रयास का फल है। एक ओर उन्हें वेदोपनिषद, प्रतिपादित धर्म की रक्षा करनी थी और दूसरी ओर उस समय प्रचलित समस्त वेद विरोधी धर्मो का खण्डन कर जन सामान्य का उद्धार करना था।[2] बाण भट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हर्ष चरित्र' में सप्तम शताब्दी के प्रचलित धर्मो का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ के अनुसार उस काल में भागवत, कपिल, जैन, लोकायतिक (चार्वाक), काणाद, पौराणिक. ऐश्वरकारणिक, कारन्धमिन (धातुवादी), सप्तान्तव (मीमासक), वैयाकरण बौद्ध, पान्चरात्र (वैष्णव) और औपनिषद् धर्म का प्रचार था।

उपर्युक्त धर्मों में औपनिषद् धर्म ही पूर्णत: वैदिक था अन्यथा सभी मत थोड़े

1. व 2. माधवाचार्य श्री शंकर दिग्विजय (श्लोक 32-33-34-35-36-37-38-39-40-41-42) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर' हरिद्वार, पृ० सं०11-12-13-14 द्रष्टव्य।

बहुत रूप में अवैदिक थे। इस प्रकार अवैदिक मतों का उस समय देश में बाहुल्य था। एक अन्य धार्मिक विचारधारा उस समय तन्त्र के रूप में प्रचलित थी । शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव तथा बौद्ध आदि सभी प्रकार के तान्त्रिक समुदाय उस समय प्रचलित थे। वैष्णव तन्त्र के अनुसार परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा संसार इन पाँचों तत्वों को स्वीकार किया जाता है। रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद का आधार यही वैष्णव तन्त्र का सिद्धान्त है। नकुलीश द्वारा स्थापित पाशुपत मत का भी इस युग में प्रचार था। उग्र शैव तान्त्रिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत कापालिक मत का प्रचलन शंकराचार्य से पूर्व था जिसका खण्डन करने में उन्होंने पर्याप्त कठिनाइयों को सहन किया था। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तृतीय अंक और 'कर्पूर मजंरी' नाटिका में भैरवानन्द कापालिक के रूप में इस मत की उग्रता का परिचय मिलता है।[1] शाक्त सम्प्रदाय का विशेष प्रचार शंकर-पूर्व भारत की एक विशिष्टता थी। शाक्त-सम्प्रदाय मे शक्ति (देवी) की पूजा होती है किन्तु कालान्तर में इस उपासना में सात्विकता तिरोहित हो गई और तामसरूप का प्रावल्य हो गया। भगवान् शंकराचार्य ने शाक्त उपासना के तामस रूप का खण्डन किया और उसके सात्विक रूप की पुनः स्थापना का कार्य किया।

शाक्त सम्प्रदाय की भाँति गाणपत्य सम्प्रदाय मे उपासना पद्धति दूषित हो चुकी थी। लोलुपभक्तों ने उपासना में मद्य मांस का प्रयोग प्राम्भ कर दिया था । शंकराचार्य के समय दक्षिण की वक्रतुण्डपुरी गाणपत्य उपासना का केन्द्र थी।

इस प्रकार शंकराचार्य के आविर्भाव की पृष्ठ-भूमि में नाना मतो, सम्प्रदायों तथा पंथों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन नाना मत-मन्तव्यों की दलदल मे निमग्न जन सामान्य मूल वैदिक धर्म से हटकर कभी तो शून्यवाद की ओर भटकता था. कभी अनेकान्तवाद की ओर और कभी मद्य मास-बहुल तान्त्रिक उपासना के गर्त में पतित होता था। अतः वैदिक धर्म की यह संकटापन्न स्थिति उस युग के महान धार्मिक संकट की प्रतीक थी और वैदिक धर्म किसी धर्मोद्धारक की अपलक प्रतीक्षा मे था। ऐसे वातावरण में आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ।[2] उन्होंने अपने युग के सभी अवैदिक मतों का खण्डन करके वैदिक धर्म और तदनुकूल अद्वैत सिद्धान्त की प्रस्थापना की यहाँ डा० राधाकृष्णन् के ये उद्‌गार उल्लेखनीय हैं।[3] "प्रचलित धर्म में फिर से जीवन डालने के अतिरिक्त उन्होने धर्म का सुधार भी किया।"

3. दार्शनिक पृष्ठ-भूमि—शंकराचार्य के महान् दार्शनिक स्वरूप का विकास एक सबल एवं पुष्ट दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का परिचय देता है। उनका दर्शन संगति,

---

1. कर्पूरमन्जरी—प्रथम यवनिकान्तर, श्लोक 22।
2. बलदेव उपाध्याय–श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, पृ० 34।
3. डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन (ii) राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली 6 पृ० सं० 443.

पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है ।[1] भारतीय परम्परा में शंकर को इतनी ऊँची मान्यता प्राप्त होना, इतिहास में उनका स्थायी स्थान बनाना इसी तथ्य की ओर इंगित करते है कि उन्होंने वेदान्त-दर्शन के लिये असाधारण स्थान का निर्माण किया था ।[2] भारतीय इतिहास का मध्य युग दार्शनिक विचारधाराओं के विकास का युग है । इस युग मे वैदिक, बौद्ध तथा जैन तीनों प्रकार की दार्शनिक विचारधाराएँ पुष्पित-पल्लवित हुई थीं । चतुर्थ शताब्दी में बौद्ध विद्वान असंग ने महायानोत्तरोत्तर तन्त्र एवं सूत्रालंकार आदि ग्रंथों में क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया था । पाँचवी शताब्दी मे दिङ्नाग ने प्रमाण समुच्चय नामक ग्रंथ मे बौद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । धर्म कीर्ति और शान्तरक्षित ने अपने ग्रथों में बौद्ध दर्शन का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया था । धर्म कीर्ति (सातवीं शताब्दी) के प्रमाण वार्तिक और प्रमाण विनिश्चय बौद्ध दर्शन मे महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं । इसके पश्चात् शान्तरक्षित कमलशील और ज्ञानश्री आदि बौद्ध दार्शनिक हुये जिनके प्रयासों के फलस्वरूप कालान्तर में बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय विकसित हो गये—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ।

बौद्ध दार्शनिकों की भांति जैन विचारकों ने भारतीय दर्शन को एक विशिष्ट दिशा प्रदान की । जैन दर्शन के विकास क्रम में उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य के नाम प्रारम्भ में आते है । इनके अतिरिक्त सिहसैन दिवाकर (पाँचवी शताब्दी) तथा समन्तभद्र (सातवीं शताब्दी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने जैन दर्शन के आधार-भूत सिद्धान्त 'स्यादवाद' तथा '[illegible]' को लोकप्रिय बनाने का अथक प्रयास किया । जैन दर्शन का अनन्तवाद भी इसी युग में विकसित हुआ ।

बौद्ध तथा दार्शनिक विचारक वैदिक मान्यताओं, आदर्शों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध प्राण-पण से जुटे हुये थे । इस हेतु वैदिक दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव को उन्होंने अवरुद्ध करने का भरसक प्रयास किया था । अत: बौद्ध एवं जैन दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-हेतु तथा वैदिक दार्शनिक विचारों के मण्डन-हेतु मध्य युग में आस्तिक दर्शन के साहित्य-प्रणयन की प्रवृत्ति का प्राधान्य था । यद्यपि वैदिक दर्शन का मूलोद्गम वेदोपनिषद है तथापि उसका विकास षड्दर्शन में हुआ है । महर्षि जैमिनी का मीमांसा सूत्र तथा शबर स्वामी आदि विद्वानों की इन सूत्रों पर वृत्तियां इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है । आठवीं शताब्दी वैदिक धर्मकाण्ड के प्रमाण्य की सिद्धि-हेतु तथा बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डनार्थ आचार्य कुमारिल ने मीमांसा सूत्रों पर अपना वार्तिक लिखा था ।

---

1. वही, पाद टिप्पणी–1, पृ० सं० 439
2. Majumdar R. C. *The Age of Imperial Kanauj* Bhartiya Vidya Bhawan Bombay, Page359.

वैदिक दर्शन में सबसे महत्वपूर्ण स्थान महर्षि बादरायण-प्रणीत ब्रह्मसूत्रों का है। इन सूत्रों में समस्त अवैदिक दार्शनिक सिद्धान्तों का निराकरण कर एकमात्र परब्रह्म की सत्ता पर आग्रह किया गया है। वेदान्त दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ यही ब्रह्मसूत्र है जिसकी पृष्ठभूमि में शांकरदर्शन का विकास हुआ है। आचार्य शंकर के दार्शनिक स्वरूप के निर्माण में ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता की महत्वपूर्ण भूमिका है। ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् इन तीनों को भारतीय दर्शन में प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इस प्रस्थानत्रयी के भाष्य-प्रणयन द्वारा आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद की प्रस्थापना की थी। यहां पर यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि शांकर दर्शन के विकास में उनके पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद का दार्शनिक चिन्तन महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आचार्य गौडपाद शंकर के गुरु गोविन्द भगवत्पाद के गुरु थे। उन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकाओं का निर्माण कर आचार्य शंकर को अपने दार्शनिक सिद्धान्त-अद्वैतवाद के विकास में सबल एवं प्रेरक पृष्ठभूमि प्रदान की थी।

4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :—आचार्य शंकर के आविर्भाव से पूर्व भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण तत्व नष्ट प्राय: हो गये थे। बौद्धों ने वैदिक परम्परा को नष्ट करके नई मान्यतायें स्थापित कर दी थी। समस्त देश में वेदानुकूल आचार धर्म तथा विचार दर्शन का लोप हो गया था। बौद्धों ने वर्णाश्रम धर्म तथा वेद की प्रमाणिकता का अनुचित उपहास प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक यज्ञादि क्रियाओं के प्रति मनुष्यों में उदासीनता घर कर गई थी। शैव-वैष्णव मतावलम्बी वैदिक मार्ग त्यागकर धर्मविरुद्ध क्रियाकलापों में निमग्न हो गये थे।[1]

वैदिक संस्कृति का बौद्ध तथा जैन संस्कृति से संघर्ष एक ऐतिहासिक तथ्य है। बौद्ध और जैन विद्वानों के पर्याप्त प्रयास करने पर भी वैदिक संस्कृति का अक्षुण्ण रहना यह उसकी उच्चता का द्योतक है। वैदिक संस्कृति के रक्षणार्थ अपने जीवन को समर्पित करने वालों में अग्रगण्य आचार्य शंकर के सम्बन्ध में जवाहरलाल नेहरु के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"मैंने इन पत्र में कतिपय राजाओं तथा भाग्य विधायकों के नामों का उल्लेख किया है जिन्हें संक्षिप्त यशस्वी जीवन मिला और फिर वे लुप्त हो गये तथा भुला दिये गये। किन्तु एक अत्यधिक विलक्षण व्यक्ति का उदय दक्षिण में हुआ। सभी राजाओं तथा सम्राटों की अपेक्षा उसने भारतीय जीवन में अधिक शक्तिशाली कार्य किया। यह युवा व्यक्ति ही शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है।[2]" आचार्य शंकर के महत्वांकन में उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को विस्मृत नहीं किया जा

---

1. माधवाचार्य—शंकर दिग्विजय, श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, श्लोक 32, 33, 34, 35 द्रष्टव्य।
2. Nehru, J. L.—*Glimpses of word History*, L.D. Limited, 2-Guilford place, London, UCI. 1941, Page 128.

सकता है। यह भारतीय संस्कृति की वह प्रेरक पृष्ठभूमि थी जिसने शंकर को उस उच्च शिखर पर स्थापित किया जहां से उनका आलोक आज भी सर्वत्र फैला हुआ है।

भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्व उसका धर्म तथा अध्यात्म है। शंकर से पूर्व धर्म के नाम पर पाखण्ड और अध्यात्म के स्थान पर शून्यता स्थापित हो चुकी थी। वेद-प्रतिपादित लोकहितकारी वर्णाश्रम को लोग भूलते जा रहे थे। सत्य सनातन वैदिक धर्म के स्थान पर नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की कल्पना से भारतीय जन-मानस भ्रमित हो रहा था। विद्वानों की स्थिति दयनीय हो चली थी। माधवाचार्य ने अपने 'शंकर दिग्विजय' में अवैदिक मतों से उच्छिन्न वैदिक धर्म का बड़ा मनोरम चित्र खींचा है—"शाक्त, पशुपत, क्षपणक (शैव), कापालिक, वैष्णव—इनके समान अन्य दुष्ट मतों के प्रचारक दार्शनिकों से वैदिक मार्ग को सब तरह से उच्छिन्न कर दिया था। इस वैदिक धर्म की रक्षा के लिये ही आचार्य ने उग्रद्वैतवादियों को परास्त किया। धर्म की रक्षा ही इसका प्रधान कारण था। अपने सम्मान के लिए उन्होंने यह कार्य नहीं किया। उनके ऊपर सम्मानरूपी भूत कभी अपना मायाजाल नहीं फैंक सकता था।[1]" भारतीय संस्कृति के मूलाधार वैदिक धर्म की रक्षा की भावना आचार्य की प्रेरक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के रूप में उदित हुई थी।

भारतीय संस्कृति का द्वितीय मुख्य तत्व है—उसका सत्साहित्य। साहित्य मानवमात्र की हित साधना को लेकर प्रवृत्त होता है। किसी समाज की प्रगति तभी सम्भव है जब मानव का हृदय विकसित हो और उसकी बुद्धि परिष्कृत हो। इसके लिए साहित्य अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है। धर्म की भाँति वैदिक साहित्य को भी दूषित कर दिया गया था। श्रुति (वेद) मन्त्रों के मिथ्या अर्थों की कल्पना कर ली गई थी। शास्त्रों के मन्तव्यों में परस्पर विरोध बिछाकर तिरस्कार योग्य बना दिया गया था। वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा उच्छिन्न हो गई थी।

उपर्युक्त सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मे शकर की अवतारणा हुई और उन्होंने वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार किया। साहित्य के क्षेत्र में आज जहां कहीं किसी भी रूप मे जो वैदिक संस्कृति की रूपरेखा दिखाई दे रही है, वह एकमात्र शंकराचार्य की ही देन है[2]। शंकराचार्य ने आठ वर्ष की आयु मे चारों वेदों का अध्ययन कर बारहवे वर्ष में सब शास्त्रों की अभिज्ञता प्राप्त कर ली थी। सोलहवे वर्ष मे उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्रादि वेदान्त ग्रन्थों पर भाष्य-रचना कर वेद-प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त की

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) श्लोक 164, श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० सं० 535।
2. "सौभाग्य विशेषांक"—सम्पादक महावीर प्रसाद मिश्र, श्री मानव कल्याण आश्रम, कनखल, हरिद्वार, पृष्ठ सं० 128।

स्थापना की। इसके अतिरिक्त विवेक चूडामणि, अपरोक्षानुभूति, उपदेश साहस्री तथा चर्पट मन्जरी आदि विविध रचनाओं के माध्यम से उन्होंने वैदिक संस्कृति की संकटापन्न स्थिति का निराकरण किया। आचार्य शंकर ने अपनी इन कृतियों से भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में पुष्पित-पल्लवित [illegible] एवं लोक-कल्याणकारी मंत्रों का संरक्षण किया।

सामाजिक संगठन एवं राष्ट्रीय ऐक्य का कार्य भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है। इस दृष्टि से शंकरपूर्व भारत जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त हो चुका था। नाना प्रकार के मतमतान्तरों से परस्पर द्वेष-ईर्ष्या तथा प्रतिस्पर्धा का विकास जनमानस में हो चुका था। देश में सामञ्जस्य, परस्पर स्नेह एवं सहानुभूति का अभाव हो चला था। जनता बौद्धों की धर्मनीति से ऊब गई थी। ऐसे समय शंकराचार्य ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया। देश की चारों दिशाओं में उनके द्वारा स्थापित चारपीठ सांस्कृतिक ऐक्य तथा सामाजिक संगठन का परिचय देते हैं। सांस्कृतिक एकता में हिमवान् से कुमारिका तथा अटक से कटक तक एक विचार, एक भाव, एक जीवन-दर्शन तथा लोकहितकारी भाव से समग्र राष्ट्र को एक सूत्र में बद्ध करना उनका महनीय कार्य है। इस सन्दर्भ में पंडित जवाहरलाल नेहरु का यह कथन प्रस्तुत करना उपयुक्त ही है—"अपने मठों अथवा संन्यासी-संघों में प्रधान केन्द्रों के लिए भारत के चारों कोनों का चयन यह प्रदर्शित करता है कि वह (शंकराचार्य) भारत को किस प्रकार एक सांस्कृतिक ईकाई मानते थे और यह महान् सफलता जो कि बहुत थोड़े समय में उन्हें सम्पूर्ण देश की यात्रा में मिली, यह दिखाती है कि किस प्रकार बौद्धिक तथा सांस्कृतिक धाराएँ शीघ्रतापूर्वक देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयीं।[1]" इस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्ध संस्कृति से संत्रस्त वैदिक संस्कृति के रक्षणार्थ जो भी कार्य किये, उनकी सबल पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण धार्मिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक एवं साहित्यिक घटनाक्रम में निहित थी।

5. सामाजिक पृष्ठभूमि—मध्ययुग में बौद्धधर्म के पतनोन्मुख होने पर तथा वैदिक धर्म के अभ्युत्थान के कारण देश में सामाजिक अव्यवस्था फैल रही थी। समाज एक ओर बौद्ध धर्म से ऊब गया और दूसरी ओर वैदिक धर्म भी समाज पर अपना आकर्षण विकीर्ण करने में सफल होता जा रहा था। सामाजिक दुरुहता तथा धार्मिक संघर्ष की इस कठिन परिस्थिति में एक ऐसे समाज-हितैषी सूत्रधार की आवश्यकता थी जो भ्रमित जनता का समुचित मार्गदर्शन कर सके। शकराचार्य ने इसी परिस्थिति से प्रभावित होकर भारतवर्ष संन्यासी संघों का निर्माण बौद्धों का उन्मूलन करने के लिए किया। भारतीय जनता को धर्म, अध्यात्म एवं वेदान्त की सतत् शिक्षा प्राप्त होती

---

1. Nehru, J. L.—*Glimpses of World History*, L.D. Ltd.,

रहे—इस भावना को साकार करने हेतु देश की चारों दिशाओं में चारपीठ स्थापित किए। ये पीठ आज भी ज्योतिष्पीठ, शृंगेरीपीठ, गोवर्धन पीठ और शारदापीठ के नाम से प्रसिद्ध हैं और शंकराचार्य की भावनानुसार जनशिक्षा का कार्य कर रहे हैं। जवाहरलाल नेहरु[1] के अनुसार बौद्धधर्म को बौद्धिक तथा तार्किक ढंग से परास्त करने के लिए तथा वैदिक धर्म एवं अद्वैतवाद के प्रचारक संन्यासियों को सघबद्ध करने के लिए उपर्युक्त चारों पीठों की स्थापना आचार्य शंकर ने की। इन पीठों के अध्यक्ष दण्डी संन्यासी होते हैं। उनका जितेन्द्रिय, वेद-वेदाङ्गादि में पारंगत, सकल शास्त्र-वित् तथा योगी होना आवश्यक होता है।[2] अतः ये संन्यासी अपने त्यागमय जीवन से समस्त समाज को सद्धर्म की ओर प्रेरित करते थे। पी०वी० काणे[3] के अनुसार, इन संन्यासियों को बौद्ध भिक्षुओं की तरह विलासिता एवं सुख-साधनों से स्नेह न था। इस प्रकार शांकर सम्प्रदाय में दीक्षित संन्यासी त्याग-वैराग्य की साक्षात्मूर्ति होने से समय-समय पर राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करते रहे हैं। मठों के आचार्य केवल मोक्ष-साधना में निरत न रहकर राष्ट्र-आराधना में भी तत्पर रहते थे। अतः कतिपय आलोचकों ने आचार्य शंकर पर पलायनवादी होने का जो आरोप लगाया है, उनकी यह धारणा भ्रान्त ही है कि शांकर पलायनवादी हैं।

शंकराचार्य ने हिन्दू समाज का पुनर्गठन तथा उसको धर्म पर आधारित करने का जितना भारी उद्योग किया है, वह भारतीय इतिहास में उन्हें असाधारण स्थान प्रदान करता है। अतः डा० राधाकृष्णन् का उनके सम्बन्ध में यह कथन समीचीन ही है—"उन्होंने बौद्ध संघ से यह सीखा कि अनुशासन, मिथ्या विश्वास से मुक्ति और धार्मिक संघटन धार्मिक विश्वास को स्वच्छ तथा बलशाली बनाये रखने में सहायता करते हैं और उन्होंने स्वयं दस धार्मिक संघों की स्थापना की, जिनमें से चार ने आज तक अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर बनाये रक्खा है।[4]" इस प्रकार शांकर सम्प्रदाय के संन्यासी धर्म-रक्षा-हेतु सदैव प्राण पण से लगे रहते थे। डा० फर्कुहर का

2—Guilford place London, W.C.I. Page 129.

1. Nehru J.L.—*Glimpses of World History*, L. D. Limited, 2—Guilford place London, W.C.I., 1949. Page–128.
2. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) पृ० 238 पर उल्लिखित आद्य शंकराचार्य के [illegible] (श्लोक 10) से उद्धृत।
3. Kane, P.V.—*History of Dharmshastra*, Vol. 2nd, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, Page—975.
4. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स-कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृ० 444.

कथन है कि अकबर के काल में मुसलमान फकीरों का हिन्दू साधुओं पर अत्याचार और बलात् हत्या करने का प्रयास होता रहा तब उस युग के महान् विद्वान् स्वामी मधुसूदन सरस्वती ने अकबर के पास जाकर विरोध प्रकट किया था। इतना ही नहीं, स्वामी मधुसूदन जी ने संन्यासियों को यवन फकीरों के विरुद्ध शस्त्र उठाने की प्रेरणा दी थी[1]। इस प्रकार अद्य पर्यन्त दण्डी संन्यासी धर्मरक्षण तथा समाज सेवा के व्रत में संलग्न होकर आचार्य शंकर के आदर्श पर चलते आ रहे हैं। इसीलिए आज भी वर्तमान शंकराचार्य तथा देश के प्रसिद्ध संन्यासियों में शिरोमणि स्वामी करपात्री जी सदृश अनेक दण्डी संन्यासी धर्मसेवा तथा समाज-सुधार के कार्य में संलग्न हैं।

शांकर दर्शन के विकास में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-प्रथा की प्रेरक सामाजिक पृष्ठभूमि का अत्यन्त महत्त्व था। वस्तुतः वर्णाश्रम धर्म[2] का रक्षण भगवान् शंकराचार्य के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था। उनका दर्शन वेद-सम्मत वर्णाश्रम धर्म से अत्यधिक प्रभावित है।

मध्य युग तक आते-आते वर्णव्यवस्था पर्याप्त रूप में शिथिल तथा विकृत हो चुकी थी। इस वर्णव्यवस्था की विकृति जाति प्रथा के रूप में प्रकट होने लगी थी। हिन्दुओं में इस कारण संकीर्ण मनोवृत्ति का विकास होने लगा था। अलबेरुनी[2] के कथनानुसार तत्कालीन हिन्दूसमाज बड़ी संकुचित वृत्ति वाला हो गया था। इसी प्रकार बौद्धों के प्रभाव से आश्रम व्यवस्था क्षीण प्रायः हो चली थी। लोग प्रथम तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम के महत्त्व को भूल गये थे। केवल मात्र चतुर्थ आश्रम-संन्यास (भिक्षुक) का अवलम्बन रह गया था। इस देश में चारों ओर भिक्षुओं के समूह दृष्टिगोचर होते थे। राष्ट्र की असलित का ह्रास हो चुका था। ऐसी निगम सामाजिक परिस्थितियों में वर्णाश्रम व्यवस्था को सुस्थिर करना समयानुकूल नितान्त आवश्यक था। इस आवश्यकता को आचार्य शकर ने अनुभव किया और उन्होने एक बार पुनः भारतीयों को वर्णाश्रम धर्म की ओर लौटने को कहा[3]। समस्त भारतीय समाज को वर्णाश्रम व्यवस्था में स्थिर करके बौद्धकालीन सामाजिक दोषों से मुक्त करना आचार्य शंकर को अभीष्ट था। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का चिन्तन कर भगवान् शंकर ने अपने दार्शनिक, धार्मिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक विचारों के प्रचार की व्यवस्था की थी।

---

1. *Juurnal of Royal Asiatic Society*, 1925, Page 479–86.
2. आद्य शंकराचार्य—महानुशासन (श्लोक 5)
   श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य–हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 238.
3. एनशियेन्ट इन्डिया में आर० सी० मजमूदार द्वारा उद्धृत अलबेरुनी का मत पृ० 500
4. आद्य शंकराचार्य—अपरोक्षानुभूति (श्लोक 3) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०6।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शंकर के दार्शनिक, शैक्षिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों का विकास सहसा नहीं हुआ वरन् ठोस एवं सबल पृष्ठभूमि मे ही उनके प्राञ्जत तथा उदात्त चिन्तन का विकास सम्भव हुआ। यहाँ श्री बलदेव उपध्याय के ये शब्द उधरणीय हैं—"बेचारे विशुद्ध वैदिक धर्म के लिए यह महान् संकट का युग था। वैदिक धर्म किसी उद्धारक की ओर टकटकी लगाये हुए था। ऐसे वातावरण में आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। ये भगवान् की दिव्य विभूति थे, जिसकी प्रभा आज भी भारतवर्ष को उद्भासित कर रही है।"[1]

———

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 34.

शंकराचार्य की दार्शनिक विचारधारा

न बभूव पुरातनेषु तत्सदृशो नाद्यतनेषु दृश्यते ।
भविता किमनागतेषु वा न सुमेरोः सदृशो यथागिरिः ॥[1]

न स्तोमितं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध ।
विनापि तैः संग्रथिताखिलार्थं तं शंकरं नौमि सुरेश्वरं च ॥[2]

"He......in consistency, thoroughness and profundity holds the first place in Indian Philosophy."[3]

जगद्गुरु शकराचार्य दार्शनिक क्षेत्र के सम्राट् तथा विचार-जगत् के शिरोमणि है। उनके दार्शनिक चिन्तन को देखकर न केवल भारतीय विद्वान् वरन पाश्चात्य मनीषी भी आश्चर्यान्वित हो जाते है। उनके दार्शनिक सिद्धान्त को अद्वैतवाद अथवा अभेदवाद के नाम से पुकारा जाता है। अद्वैत का तात्पर्य है—दो नहीं, अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा अथवा परमात्मा और जगत् अथवा परमात्मा-

---

1. श्री शकर दिग्विजय (माधवकृत 4–71) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, "पुराने विद्वानों में शंकर के समान कोई विद्वान् नहीं हुआ और आजकल भी कोई विद्वान् दिखलाई नही पड़ रहा है तथा भविष्य के विद्वानों में क्या ऐसा कोई होगा ? जिस तरह सुमेरु के समान पहाड़ त्रिकाल में नहीं है। उसी तरह शंकर के समान त्रिकाल में कोई विद्वान् नहीं है।"
2. मधुसूदन सरस्वती-सिद्धान्त बिन्दु, अच्युतग्रन्थमाला काशी, पृ० 247—"मै उन व्यास की स्तुति नही करता जो सूत्रों के द्वारा भी वेदान्त के समग्र तात्पर्य को ग्रथित नहीं कर सके, इसलिये सूत्रों के बिना ही जिन्होंने वेदान्त के सकल तात्पर्य को ग्रथित कर दिया ऐसे शंकराचार्य और सुरेश्वर को मै नमस्कार करता हूँ।"
3. Illiot, Sir Charles, *Hinduism & Budhism*, Vol. II London, P. 208.
"शांकर दर्शन संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है।"

जीवात्मा-जगत् परस्पर भिन्न न होकर अभिन्न है। सर्वत्र परब्रह्म की एकमात्र सत्ता होने से किसी प्रकार का वैभिन्य अथवा भेद विद्यमान नहीं है, जितनी मात्र विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह सब माया के कारण है। अत: उनके सिद्धान्त को मायावाद की संज्ञा भी दी जाती है किन्तु जीवन शंकर याज्ञिक[1] के अनुसार भगवान् शकराचार्य को 'मायावादी' कहना न्याय-संगत नहीं है—उन्होंने माया का प्रतिपादन नहीं किया। जब विपक्षी दृश्यमान् परन्तु मिथ्या जगत् का कारण आग्रहपूर्वक पूछता है तो माया को, जो स्वयं मिथ्या है, बता दिया जाता है। शंकर का अद्वैतवाद, एक महान् कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है।[2] डा० घाटे के अनुसार शंकराचार्य का अद्वैतवाद सर्वोच्च है ओर उन जैसी मानवीय विचारों की उन्नतता अन्यत्र अलभ्य है।[3] डा० दासगुप्ता की मान्यता है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित एवं उनके अनुयायियों द्वारा विकसित दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि जब कभी हम वेदान्त दर्शन का नाम लेते है तो शांकर दर्शन का ही तात्पर्य होता है।[4] ई० बी० एफ० टौमलिन शंकराचार्य की अद्वितीय प्रतिभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शंकर उन सब दार्शनिकों में महान् हैं, जिन्हें आज पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिकतर प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी। शांकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल में आकर जर्मन दार्शनिक कान्ट ने अपनाया।[5] ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य के प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् अनुवादक डा० थीबो का विचार है कि शंकराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना विचारों की निर्भीकता, गम्भीरता और सूक्ष्मता के क्षेत्र मे न किसी शांकर सिद्धान्त के विरोधी वेदान्त सिद्धान्त से की जा सकती है और न किसी अवैदान्तिक सिद्धान्त से।[6]

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता (शांकर भाष्य) गीता प्रेस गोरखपुर, भूमिका पृ० 7 दृष्टव्य।
2. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली–6, पृष्ठ सं० 438.
3. Ghate, V. S.—*The Vedanta,* Bhandarkar Oriantal Institute–Poona, Page 54.
4. Das Gupta, S. N.—*Indian Philosophy,* Cambridge, Univsrsity press London Third Edition, Vol. I, page 429.
5. *The Great Philosophers* (The Eastern world) Sheffington London, First Edition, Page 218.
6. Thibout, *Introduction* (S.B.E. Vol. XXXIV Page XIV) Oxford—Clarendan Press.

इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य जैसी उदीयमान प्रतिभा एवं उदात्त व्यक्तित्व वाला अन्य आचार्य अथवा विद्वान् दृष्टिगोचर नहीं होता है ।[1] अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा के द्वारा शंकराचार्य ने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है कि जो न एकदम भौतिकवाद है, न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद। आचार्य का यह सिद्धान्त वैदिक धर्म एवं दर्शन पर आधारित अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद कर्म और ज्ञान, स्थूल और सूक्ष्म का समन्वयभूत सिद्धान्त है ।[2]

पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों ने शंकराचार्य की जिस विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा का गुणगान उपर्युक्त प्रकार से किया है। उसका प्रतिफलन उनके लोकप्रिय सिद्धान्त—अद्वैतवाद में हुआ है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर अपने भाष्य ग्रन्थ लिखकर आचार्य ने अद्वैतवाद को सुग्राह्य तथा जनप्रिय बना दिया है इसी अद्वैतवाद को एक प्राचीन श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

> श्लोकार्द्धेण प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभि भिः ।
> ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।[3]

अर्थात् ब्रह्म सत्य है। जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है। जीव ब्रह्म से कथमपि भिन्न नही है। यही वह सिद्धान्त है जिसे करोडों ग्रन्थों में बताया गया है। यहाँ पर इसका वर्णन केवल आधे श्लोक में ही किया गया है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद के मूलतत्व चार ही है—(1) ब्रह्म का सत्यत्व, (2) जगत् का मिथ्यात्व,, (3) जीव का ब्रह्मत्व तथा (4) जीव-ब्रह्म का ऐक्य। फलतः शंकराचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त इन चार तत्त्वो की प्रगाढ़ समालोचना पर आधारित हैं। आचार्य शंकर ने अपने दार्शनिक विवेचन मे वेदान्त की तत्त्व मीमांसा के अन्तर्गत ब्रह्म, जगत्, आत्मा तथा मोक्षादि की सांगोपांग व्याख्या की है किन्तु उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त-अद्वैतवाद के साधनमार्ग के रूप मे आचार मीमांसा का भी प्रतिपादन किया है। उनकी समग्र दार्शनिक विचारधारा की सांगोपांग विवेचना यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

ब्रह्म विचार

शांकर वेदान्त में ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्व है जिसके आधार पर समस्त

---

1. डॉ० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृ० 5।
2. वही पृ० सं० 6.
3. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृष्ठ सं० 287।

अद्वैतवाद का विकास हुआ है। अतः आचार्य शंकर एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य के रूप में स्वीकार करते है।[1] निर्विकल्प, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। आचार्य शंकर के अनुसार "ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। 'बृह्' धातु के अर्थ के अनुगम होने से व्युत्पत्ति-सिद्ध ब्रह्म शब्द से नित्यत्व, शुद्धत्व आदि अर्थ निकलते है और सबका आत्मा होने से ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है—आत्मा ब्रह्म है।[2]" अतः ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य के लिये सदा विद्यमान् है और जीवन का सार्वभौम व्यापक तथ्य है।[3] शंकर के अनुसार ब्रह्म की यथार्थ सत्ता होने से "वह पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओं से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाशस्वरूप है।[4]" इस प्रकार ब्रह्म मूल सत्ता होने से सब पदार्थो को व्यक्त करता है किन्तु स्वयं व्यक्त होने के लिए किसी की अपेक्षा नही रखता है।[5]

आचार्य शंकर ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करने मे दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—(1) स्वरूप लक्षण और (2) तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण से ब्रह्म के यथार्थ रूप का पता चलता है किन्तु तटस्थ लक्षण ब्रह्म मे कुछ देर तक रहने वाले आगन्तुक गुणों का निर्देश करता है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—सत्य, ज्ञान तथा अनन्तत्व।[6] जगत्कर्ता, जगत्पालक, जगत् संहारक आदि ब्रह्म के विशेषण (जिनका जगत् से सम्बन्ध है) उसके तटस्थ लक्षणमात्र है और वास्तविक स्वरूप के द्योतक नहीं है। जिस प्रकार[7] कोई ब्राह्मण किसी नाटक मे एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है, वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन कृत्यों का सम्पादन कर प्रजा का अनुरंजन करता है, परन्तु इस ब्राह्मण को यथार्थ मे राजा मानना क्या उचित है? राजा है वह अवश्य किन्तु कब तक? जब तक नाटक में वह अभिनयरत है। नाटक के समाप्त होते ही वह अपने विशुद्ध रूप मे आ जाता है। अतः उस व्यक्ति को क्षत्रिय राजा मानना उसका तटस्थ लक्षण हुआ और उसे ब्राह्मण कहना स्वरूप लक्षण हुआ। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति,

---

1. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (2-2-11), गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 81-82।
2. "ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1), गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी, पृ०30।
3. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृ० 529।
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-4-4) पृ० 58-59।
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-3-7-22) पृष्ठ सं० 238।
6. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1) शां०भा० गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 116-23।
7. ब्रह्मसूत्र (2-1-18) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।

स्थिति तथा लय का कारण है तो आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण हुआ और वह ब्रह्म सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्द रूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का 'स्वरूप' लक्षण है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैति० उ० 2–1–1) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह०उ० 3-9-28) के भाष्य में आचार्य ने सत्यादि शब्दों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। 'सत्य', 'ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एक विभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत होते है।। ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण है परन्तु ब्रह्म के निर्विशेष तथा एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य का कहना है कि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण मे अन्तर होता है।[1] विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म के एक होने से 'सत्यं', 'ज्ञानं' और 'अनन्तं' ब्रह्म के लक्षण हैं विशेषण नहीं। आचार्य शंकर के अनुसार सत्य का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने वाला पदार्थ। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है उस रूप से व्यभिचरित होने पर वह मिथ्या कहा जाता है। इस प्रकार विकार मिथ्या है और 'सत्यं' 'ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म को विकारमात्र से निवृत्त करता है।[2] ज्ञान का अर्थ है अवबोध। ब्रह्मज्ञान स्वरूप है। जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही अनन्त है। यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्ता माना जायेगा तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान से विभक्त होना पड़ेगा।[3] ज्ञान प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म 'ज्ञान' ही है। वह ज्ञान का कर्ता नहीं है। अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञानस्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है। वह सत् (सत्ता), चित (ज्ञान) और आनन्दरूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म अथवा ईश्वर कहलाता है।[4] जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। इस प्रकार शांकरमत में ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किये गये हैं—सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों ब्रह्म एक ही हैं, किन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण उसे इन दोनों नामों से पुकारा जाता है। नाम भेद से सत्ता-भेद नही होता है। जिस प्रकार बाह्य जगत् वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। अज्ञानवश इन दोनों में भेद-बुद्धि होती है और जीव ब्रह्म को उपास्य समझता है। ब्रह्म ईश्वर बन

---

1 तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1) शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर. पृ० 103।

2. वही, पृ० 103-104।

3 वही, पृ० 105।

4. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (3-8-12) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०783।

जाता है। ईश्वर जगत् का स्वामी तथा नियन्ता है। इसलिये जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से ही की गई है।[1]

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई गुण आरोपित नहीं किया जा सकता है। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के मत में ब्रह्म मे 'स्वगत भेद' रहता है। ब्रह्म में दो अंश होते—चित् अंश तथा अचित् अश और ये आपस मे विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म मे एक अंश दूसरे अंश से भिन्न होता है और ब्रह्म में स्वगत भेद को सिद्ध करता है किन्तु शंकर के अनुसार ब्रह्म के दो रूप होते है विश्व तथा विश्वातीत। विश्व रूप में वह गुण सम्पन्न माना जा सकता है, परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिवर्चनीय है क्योंकि उसमे किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती है। अतः शंकर ब्रह्म को सर्वदा सम, एक रस, अद्वैत, अविकारी, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभयरूप, आत्मतत्व मानकर उसका निर्गुण रूप मे प्रतिपादन करते हैं।[2]

उपनिषद् ब्रह्म को नेति-नेति' शब्दों से अभिहित करते है। इसका तात्पर्य विचारणीय है। प्रत्येक विधेय उद्देश्य के क्षेत्र को सीमित करता है। जैसे 'यह घोडा काला है'—इस वाक्य मे 'काला' यह विधेय अपने उद्देश्य (घोड़े) के क्षेत्र को वस्तुतः सीमित करता है अर्थात् 'काले' से पृथक् क्षेत्र मे 'घोड़े' का कोई भी सम्बन्ध नही माना जा सकता है। अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी विधेय का प्रयोग करने से वह सीमित हो जायेगा, किन्तु वह तो अनन्त-असीमित है। इस प्रकार उसमे कोई गुण नहीं रहता। उसमें न यह गुण है ओर न वह गुण। इस प्रकार सब गुणो के निषेध करने से जो तत्त्व बच जाता है वही ब्रह्म है।[3] इसी ब्रह्म के सम्बन्ध मे श्रुति 'नेति-नेति' शब्दों का व्यवहार करती है और इस प्रकार किसी गुण का–उपास्यता तक का ब्रह्म में आरोपण का निषेध करती है।[4] इसी कारण शकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण कहते है। पश्चिमी विद्वान् आगस्ताइन भी ईश्वर की अज्ञेयता मे विश्वास करता था।[5] हेगल

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–2–4–14) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 169।
2. वृहदरण्यकोपनिषद् (4-4-6) शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 1063।
3. ब्रह्मसूत्र–(3–2–5–14) शां० भा०, गोविन्दमठ टेढीनीम वाराणसी, पृ० 618।
4. केनोपनिषद् (1–5) का शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
5. *Trinity*. V. VII/2.

के अनुसार शुद्ध सत् तत्व असत् है ।[1]

शांकर वेदान्त में संसार को मायाजन्य माना जाता है । मायाविशिष्ट ब्रह्म को सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में स्वीकार करने से वह मायावी के समान प्रतिपादित किया गया है ।[2] वस्तुतः कर्तृत्व ब्रह्म का स्वाभाविक गुण नहीं है, यह केवल बाह्य उपाधिमात्र है जिसको हम भ्रमवश ब्रह्म में आरोपित करते हैं । अतएव ब्रह्म केवल मायोपहित होकर सगुण ब्रह्म है और मायारहित होकर निर्गुण ब्रह्म । ये दोनों एक ही है । जैसे अभिनय करने वाला व्यक्ति अभिनय के बाद दूसरा व्यक्ति नहीं हो जाता ।[3] अभिनय उस व्यक्ति की एक सामयिक उपाधिपात्र है । सगुण ब्रह्म या ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का प्रतिरूप है । संसार की अपेक्षा से ही वह ईश्वर है । निरपेक्ष रूप में वह परब्रह्म है । एक ही तत्व (ब्रह्म) अविद्या, काम और कर्म विशिष्ट देह एवं इन्द्रिय रूप उपाधिवाला आत्मा संसारी जीव कहलाता है । तथा नित्य निरतिशय ज्ञानशक्ति रूप उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है । वही उपाधिशून्य, केवल शुद्ध होने पर अपने स्वरूप से अक्षर या पर कहा जाता है तथा हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, देवता, जाति, पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं शरीर और इन्द्रिय रूप उपाधियों से विशिष्ट होकर वह उन्हीं नाम और रूपों वाला होता है ।[4] यही ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्व है ।[5]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि शंकराचार्य की अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैत ब्रह्म की निम्नलिखित परिभाषा उपयुक्त है—"नाम रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्त्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित है, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति,स्थिति एव नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है ।[6]" इस परिभाषा से ब्रह्म की विशेषताएँ—सर्वव्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध होती है । जर्मन विद्वान् डायसन का यह मत सत्य प्रतीत नही होता है कि भारत के विद्वान् सत्त्व विद्या सम्बन्धी प्रमाण के

---

1. Dr. Radhakrishanan, *Indian Philosophy* Vol. II, Page 538, S. Allen & Unwin, London.
2 ब्रह्मसूत्र—(2–1–3–9) शां० भा०, वही पृ० 354 ।
3 अभिनय के दृष्टान्त के लिए ब्रह्मसूत्र (2–1–18) का शांकर भाष्य द्रष्टव्य ।
4. बृहदारण्यकोपनिषद् (3–8–12) शां० भा० गीता प्रैम गोरखपुर, पृ० 187 ।
5. डॉ० राममूर्ति शर्मा–अद्वैत वेदान्त–नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, पृष्ठ सं० 146 ।
6. ब्रह्मसूत्र (1–1–2) शा०भा०, गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ०35-36 ।

बन्धन में नहीं फंसे ।[1] शंकराचार्य के ब्रह्म सम्बन्धी तर्कों को देखकर कोई भी उन्हें सत्त्व विद्या सम्बन्धी प्रमाणों से युक्त स्वीकार न करने का साहस नहीं कर सकेगा ।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है, उसकी सत्ता व्यावहारिक देशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है ।[2] अतः शांकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है ।[3] पश्चिमी दार्शनिक कान्ट शुद्ध वस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था ।[4] इसके विपरीत शांकर दर्शन में ब्रह्म के स्वतः सिद्ध होने से वही बोध द्वारा प्राप्तव्य है । इसलिए उनका ब्रह्म स्पिनोजा के स्वतन्त्र सत्व (Substantia) के अधिक समीप प्रतीत होता है ।[5] अतः शांकर वेदान्त मे ब्रह्म की सर्वोच्चता स्वीकार कर उसे ही प्राप्त करना मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया गया है ।

आत्मा का विचार

शंकराचार्य ने ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वीकार करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है । अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है । आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता है, निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आने वाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं । क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है ?[6] सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास होता है । ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो यह विश्वास करे कि "मै नहीं हूँ ।" यदि आत्मा न होता तो सब किसी को अपने न होने में विश्वास होता परन्तु ऐसा तो कभी नही होता है । अतः आत्मा की स्वतः सिद्धि माननी ही पड़ती है ।[7]

इस प्रकार इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से विभक्त भूत, वर्तमान

---

1. Deusse–n's *System of Vedanta*, Runes Vision Press, London, P. 123.
2. ब्रह्मसूत्र, शां० भा० (4–3–14) तथा डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2 पृ० 534 द्रष्टव्य ।
3 ब्रह्मसूत्र शा०भा० (1–1–1–1) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०29 ।
4. Paten, H.J., *Kants Metaphysics of Experience*, Vol. I. P. 64, Allen & Urwin, London.
5. Maxmuller, *Three Lectures on the Vedanta Phylosophy*, P.123, Longman's Green, London.
6. ब्रह्मसूत्र (2–3–7) शा० भा०, पृ० 487 ।
7. ब्रह्मसूत्र (1–1–1) शां० भा०, पृ० 30.

तथा भविष्यत् में होने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक् रह सके, आत्मा से भिन्न हो। सत्य तो यह है कि नाम-रूप से जगत् के पदार्थ विभिन्न भले ही प्रतीत होते हैं। परन्तु भीतर चैतन्य रूप से एक ही आत्मा झलक रहा है। अतः आत्मा एक सर्वव्यापी तत्त्व है। आत्मा का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए स्वयं आचार्य ने ऐतरेयोपनिषद् के भाष्य में लिखा है—"(व्याप्तिबोधक) 'आप्'" धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न हुआ है। यह जो नाम रूप और कर्म के भेद से विविधरूप प्रतीत होने वाला जगत् कहा गया है वह पहले यानि संसार की सृष्टि से पूर्व सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, क्षुधा-पिपासा आदि सम्पूर्ण साँसारिक धर्मों से रहित, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वय रूप आत्मा ही था।[1] अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी गुँजाईश नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सुदूर अतीत में यह घोषणा की थी कि जो सब किसी को जानने वाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं?[2] सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है? इसी प्रकार प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किस प्रमाण के बल पर सिद्ध किया जाय? अतः आत्मा की स्वयं सत्ता सिद्ध होती है।

शंकर के मत में जगत् का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो आत्मा से व्याप्त न हो। वह बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, कारणरहित, कार्यरहित, अन्तर्बाह्यशून्य, परिपूर्ण आकाश के सामान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल, निर्गुण, निष्कल और निष्क्रिय है।[3] अतः भगवान शंकराचार्य का कथन है कि इस विश्व में एक ही सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। वह अखण्ड है, उसका खण्ड नहीं किया जा सकता है। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।[4] आत्मा तथा ब्रह्म दोनों में सत् के सब लक्षण यथा चैतन्य सर्वव्यापकता और आनन्द एक समान पाये जाते है।[5] यह आत्मा उत्पत्ति-नाश-रूप धर्म से रहित चेतन है, वही नामरूप आदि औपाधिक धर्मों से युक्त भास रहा है।[6] आत्मा उपाधि रहित है।[7] सारा जगत् उसी से आत्मवान् है। वही सत्संज्ञक कारण सत्य अर्थात्

---

1. ऐतरेयोपनिषद् (1–1–1) शां० भा० गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 33।
2 बृहदारण्यकोपनिषद् (2–4–14)।
3. माण्डूक्योपनिषद् (वै० पु०–38) शा० भा०, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 119–20।
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 30।
5. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली-6, पृ० 533।
6. प्रश्नोपनिषद् (6-2) शां०भा० गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 98।
7. माण्डूक्योपनिषद् (आ०प्र०8) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 50।

परमार्थ सत् है।[1] आत्मा स्वयं प्रकाश है, यह परम आनन्दस्वरूप है, यह विद्या का विषय है, वही यह आत्मा ही परम सम्प्रसाद और सुख की पराकाष्ठा है।[2] आत्मा ही सब कुछ है। अतः आत्मा का ज्ञान हो जाने पर सभी ज्ञात हो जाता है।[3] आत्मा का संसारित्व नहीं है, क्योंकि आत्मा में संसार अविद्या के कारण अध्यस्त है।[4] इस प्रकार शांकर वेदान्त मे स्वयं आत्मा ही को ब्रह्म स्वीकार किया जाता है।[5]

आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही है। वह स्वतः प्रकाश, अनन्त चैतन्य-स्वरूप है। अनन्त आत्मा ही सीमित जीवात्मा की भाँति सीमित भासित होता है, इसका कारण है अविद्याजनित शरीर के साथ सम्बन्ध। अतः उपाधिशून्य आत्मा के अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होने के कारण उसको 'नेति-नेति' कहकर उपदिष्ट किया जाता है। अविद्या, काम और कर्मविशिष्ट देह एवं इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा संसारी जीव कहा जाता है तथा नित्य, निरतिशय ज्ञानशक्तिरूप उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है। वही निरुपाधि, केवल और शुद्ध होने पर अपने स्वरूप से अक्षर या परब्रह्म कहा जाता है।[6] इस प्रकार एक अद्वैत तत्त्व आत्मा ही मायाशक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्यौपाधि के कारण जीव संज्ञा को प्राप्त होता है।

शंकराचार्य ने जीव को मूलतः आत्मा स्वीकार किया है। उन्होंने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धिरूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।[7] मूल तत्व एकमात्र ब्रह्म अथवा आत्मा के होने से ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवो का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है।[8] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख-दुःखादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यो का कर्ता यही जीव है।[9] इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते है। आचार्य

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०573।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-3) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 1011-12।
3. बृहदारण्यकोपनिषद् (2-4-5) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 552।
4. छान्दोग्योपनिषद् (8-12-1) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०919।
5. बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०257।
6. बृहदारण्यकोनिषद् (3-8-12) शां० भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 783।
7. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-3-13/30) गोविन्दमठ, वाराणसी, पृ० 511।
8. ब्रह्मसूत्र (1-4-3) पर भामती टीका-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
9. श्वेताश्वतरोपनिषद् (5-9) तथा ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-3-45) द्रष्टव्य।

शंकर शरीर तथा इन्द्रियसमूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं।[1] अत शंकराचार्य के मत में जीव चैतन्य स्वरूप है। वैशेषिक दर्शन चैतन्य को आत्मा मे कदाचित् रहने वाला गुण मानता है किन्तु अद्वैत वेदान्त में परब्रह्म और आत्मा में नितान्त एकता है।[2] ब्रह्म ही उपाधि के सम्पर्क मे आकर जीव भाव मे विद्यमान रहता है। इस प्रकार दोनों मे एकता होने पर यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है।[3]

आत्मा के परिमाण के विषय मे आचार्य शकर का मत है कि आत्मा ब्रह्म से अभिन्न ही है तब वह ब्रह्म के समान ही विभु एव व्यापक होगा। उपनिषदो मे आत्मा को अणु कहने का तात्पर्य यही है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रिय ग्राह्य नही है। आत्मचैतन्य के प्रकट होने की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में हम संसार के नाना कार्यो मे लगे रहते है—हम बैठते है, हम उठते है, खाते है, पीते है इत्यादि। स्वप्नावस्था मे हमारी इन्द्रियाँ बाहरी जगत् से हटकर निश्चेष्ट हो जाती हैं। उस समय हम निद्राग्रस्त रहते हैं। उस समय भी चैतन्य बना रहता हैं। सुषुप्ति मे चैतन्य प्रगाढ निद्रा मे रहता है। चैतन्य इन तीनो अवस्थाओ में रहता है किन्तु शुद्ध चैतन्य इन तीनों अवस्थाओं के चैतन्य तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों कोशों में उपलब्ध चैतन्य से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा ब्रह्म के समान ही सच्चिदानन्द रूप होने से स्वय ब्रह्म है।[4] ब्रह्म जब शरीर ग्रहण कर अन्त:करण मे अवछिन्न हो जाता है तब उसे 'जीव' की सज्ञा प्राप्त होती है।

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती है—बाहर भी होती है, भीतर भी होती हैं। वे बहिर्मुखी होकर विषयों का तथा अन्तर्मुखी होकर अहंकर्ता का प्रकाशन करती हैं। अत: शरीर में जीव की तटस्थ साक्षी के रूप मे स्थिति होती है। इसी को पच-दशीकार ने रंगशाला में प्रज्वलित दीपक की उपमा से स्पष्ट किया है।[5] दीपक सूत्रधार, सभ्य और नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है तथा इनके न होने पर स्वत: प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार साक्षी आत्मा अहंकार विषय तथा बुद्धि को प्रकाशित करता है और इनके अभाव मे स्वत: प्रद्योतित होता है। बुद्धि की चंचलता से बुद्धियुक्त होने पर जीव चंचल सा प्रतीत होता है, वस्तुत वह नित्य एवं शान्त है।

---

1. ब्रह्मसूत्र (1-3-17) शां० भा० द्रष्टव्य।
2. ब्रह्मसूत्र शा० भा० (1-1-1)।
3. प्रश्नोपनिषद् (6-2) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
4. ब्रह्मसूत्र (3-2-1) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1) का शाकर भाष्य द्रष्टव्य।
5. विद्यारण्य–पंचदशी (10-140) बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ।

शांकर दर्शन में मूलतः व्यष्टि और समष्टि में किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद तो उपाधि और मिथ्याज्ञान से कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है।[1] 'व्यष्टि' का तात्पर्य व्यक्ति के शरीर से है, 'समष्टि' समूहरूपात्मक जगत् का द्योतक है। वेदान्त दर्शन में तीन प्रकार के शरीरों की कल्पना की गई है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों के अभिमानी जीव की पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ है। स्थूल शरीर के अभिमानी जीव कौ 'विश्व' कहते हैं। सूक्ष्म के अभिमानी जीव को 'तैजस्' तथा कारण के अभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहते है। यह व्याख्या व्यष्टि के सन्दर्भ में है। समष्टिगत स्थूल, सूक्ष्म और कारण के अभिमानी चैतन्य की संज्ञाएँ क्रमशः विराट् (वैश्वानर) सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर है। व्यष्टि और समष्टि के अभिमानी पुरुष (चैतन्य) बिल्कुल अभिन्न है परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है। निम्न-लिखित रूप मे इस विवेचन को तालिकाबद्ध किया जा सकता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि-वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि-विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	स० सूत्रात्मा व्० तैजस्	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	स० ईश्वर व्य० प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मनोमयकोश, प्राणमयकोश तथा विज्ञानमयकोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण है। विज्ञानमयकोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है एवं प्राणमयकोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्यरूप है।[2]

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में शांकर दर्शन में उपकारक-उपकार्य के रूप में कल्पना की गई है। ईश्वर मायाशक्ति-सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से युक्त। ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व तथा सर्वव्यापकता है किन्तु जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एव अत्यन्त लघु है।[3] भगवान् शंकराचार्य के अनुसार निरतिशय उपाधि से सम्पन्न

1. ब्रह्मसूत्र (1-4-2-10) शां०भा०, गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 300।
2. डा० राममूर्ति शर्मा—अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज दिल्ली–6, पृ० 153।
3. छान्दोग्योपनिषद् (6-16-3) पर शां०भा० द्रष्टव्य।

ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।[1] ईश्वर और जीव मूलतः एक ही है।[2] जीव ईश्वर के अंश के समान ही है परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है। इसका कारण यही है कि निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।[3] जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख-सुखादि का अनुभव करने वाला है परन्तु ईश्वर को सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं होता है। जीव अविद्या के वशीभूत होकर देहाभिमान के कारण 'मै दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव करता है। इसके विपरीत ईश्वर मे देहाभिमान आदि की स्थिति नही है। इस प्रकार जीव में मिथ्या-भिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[4] शांकर दर्शन मे पारमार्थिक रूप में जीव ब्रह्मरूप ही है।[5] अतः उसके (जीव के) सुखदुःखादि भी वास्तविक न होकर कल्पित हैं।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में तत्त्वतः अर्थगत साम्य होते हुए भी सूक्ष्म अर्थगत अन्तर है जिसका स्पष्टीकरण करना यहां आवश्यक है। उपाधि शून्य चेतन तत्त्व ब्रह्म है और मायाविशिष्ट ब्रह्म की संज्ञा ईश्वर है। जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव कहलाता है किन्तु साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्त्ता है, न भोक्ता और न सृष्टा। जीव और साक्षी के अन्तर की व्याख्या मुण्डकोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढंग से इस प्रकार की गई है—"एक वृक्ष पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते है। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखतामात्र है।[6]" इस श्रुति में वर्णित यही द्दष्टा साक्षी है। इस स्थल के भाष्य में आचार्य शंकर ने शरीर को क्षेत्र तथा अविद्या काम-कर्मवासना के आश्रय लिंगोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।[7] आचार्य का कथन है कि जीव अपने कर्मानुसार निष्पन्न सुख-दुःख रूप फल का अविवेक से उपभोग करता है। ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला होकर सर्वज्ञ आदि उपाधियों से युक्त होने से कर्मफल का भोक्ता नहीं है। इस प्रकार ईश्वर साक्षीरूप से भोक्ता जीव एवं भोग्य का प्रेरक है।[8]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (6-16-3) पर शां० भा० द्दष्टव्य।
2. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2-3-17-45), गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 527।
3. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-3-17-43) वही, पृ० 525।
4. छान्दोग्योपनिषद् (6-3-2) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 608।
5. ब्रह्मसूत्र (1-1-1-1) शां० भा०, वही, पृ० 30।
6. मुण्डकोपनिषद् (3-1-1) की श्रुति द्दष्टव्य।
7. व 8. मुण्डकोपनिषद् (3-1-1) पर शा० भा० द्दष्टव्य।

एक जीववाद तथा अनेक जीववाद का प्रश्न दार्शनिको के मध्य सदैव विवादास्पद रहा है। आचार्य शंकर ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। उनके अनुसार अनेक जीववाद का सिद्धान्त ठीक है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार शंकर ऐसे सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते है जिसके अनुसार अविद्या की उपाधि से युक्त जीव एक है जिस प्रकार अविद्या एक है। क्योंकि यदि सब आत्माएँ एक जीव है तब जब पहली-पहली बार कोई आत्मा मुक्ति को प्राप्त होती है तो सासारिक जीवन की समाप्ति हो जानी चाहिए थी किन्तु तथ्य ऐसा नही है। ब्रह्म अविद्या से उत्पन्न भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों की उपाधि से प्रतिबन्धित अनेक जीवात्माओं मे विभक्त हो जाता है।[1]

उपर्युक्त विवेचना से यही सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को यथार्थ मानते है।[2] एकमात्र ब्रह्म अथवा आत्मा की ही सत्ता वास्तविक है जिसका साक्षात्कार करना मानव जीवन की सर्वोत्तम एवं सर्वोच्च उपलब्धि है।[3] ब्रह्म अथवा आत्मा उपाधि के सम्पर्क में आकर जीवभाव से विद्यमान रहता है। इस प्रकार ब्रह्म और जीव अथवा आत्मा और जीव अथवा आत्मा और ब्रह्म मूलतः एक है और चैतन्य ही उनका वास्तविक स्वरूप है।[4]

जगत्-विचार

आचार्य शंकर की दार्शनिक मीमासा का आधारभूत पक्ष 'जगन्मिथ्यात्व[5]' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से अनेक प्रकार की समालोचना उनके विपक्षी विद्वानों ने की है। अतः उनके उत्तरवर्ती वैष्णव आचार्य–रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा बल्लभ इत्यादि ने जगत् को सत्य सिद्ध करने मे जितना प्रयास किया है, उतना ब्रह्म को सत्य सिद्ध करने मे नहीं। वस्तुतः दार्शनिक विद्वानो के लिए जगत् सदैव से एक पहेली रहा है। इसके समाधान का प्रयास भिन्न-भिन्न प्रकारों से होता रहा है। अतः जगत् के स्वरूप-निर्णय का प्रश्न दर्शन की महत्त्वपूर्ण समस्या रहा है। उपनिषदों मे सृष्टि के स्वरूप-निर्धारण में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते है। इन ग्रन्थ रत्नों मे जहाँ एक ओर सृष्टि का वर्णन मिलता है वही इसके नानात्व का निषेध भी उपलब्ध होता है।[6] श्रुतिवर्णित इन दोनों मतों मे सामन्जस्य कैसे हो ? यदि

1. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, पृ० 611।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) शा०भा० गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 257।
3. ब्रह्मसूत्र (1-1-1-1) शां०भा०, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० -9।
4. प्रश्नोपनिषद् (6-2) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
5. विवेकचूडामणि (शंकराचार्यकृत) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 12.
6. बृहदारण्योकोपनिषद् (4-4-19) पर शा० भा० द्रष्टव्य।

सृष्टि को सत्य मानते है तो फिर नानात्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? इस समस्या से ही शांकर सिद्धान्त की प्रस्थापना होती है। अत. प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए उन्होंने संसार की तुलना एक स्वप्न अथवा भ्रम से की है। जीवन में साधारणत: यह देखने मे आता है कि वास्तविक आधार या अधिष्ठान का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है, जैसे—रस्सी का यथार्थ ज्ञान न होने पर उसमे सर्प का भ्रम होता है, इसी प्रकार ब्रह्म मे जगत् की स्थिति भ्रम होने से मिथ्या है।[1] यदि हम रस्सी को रस्सी जानते है तो उसके सम्बन्ध मे भ्रम नहीं होता है। जिस अविद्या के कारण मनुष्य को भ्रम होता है वह केवल अधिष्ठान का आवरण ही नही करती, उस पर 'विक्षेप' भी कर देती है। आवरण का अर्थ है वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढक देना। विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। ये दोनों अविद्या या अज्ञान के कार्य है जिनसे हमारे मन मे भ्रम उत्पन्न होता है। अत: शंकराचार्य के मतानुसार एक परब्रह्म में अविद्यावश लोक ने संसारित्व का आरोप कर रक्खा है।[2] जिस प्रकार कोई जादूगर जादू का खेल दिखाकर दर्शकों को भ्रम में डाल देता है और विचित्र प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ होता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी मायाशक्ति से विचित्र जगत् की सृजना करता है।[3] जादूगर अपने जादू के भ्रम में स्वयं नही पड़ता है। उसके द्वारा उत्पन्न भ्रम उनके लिए होता है जो जादू के रहस्य को नहीं जानते हैं। अत: उनमें अविद्या या अज्ञान के कारण भ्रम पैदा होता है। इसी अविद्या (अज्ञान) से वस्तु का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है। यदि कोई दर्शक उस वस्तु के असली रूप को देखता रहे तो जादू की छड़ी उसे भ्रम में नहीं डाल सकती। यह सब भ्रम दर्शकों की दृष्टि से होता है। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की शक्ति है जिससे उसके दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वयं जादूगर नही। इसी प्रकार सृष्टि की माया को भी दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। ईश्वर के लिए वह केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर स्वयं उस माया से मुग्ध नही होता है।[4] जैसे लोक में पूर्णकाम किसी राजा अथवा मन्त्री की क्रीड़ा क्षेत्रों में प्रवृत्तियाँ किसी अन्य प्रयोजन की अभिलाषा न कर केवल लीला रूप होती है, जैसे उच्छ्वास और प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजन की इच्छा के बिना स्वभाव से ही होते है, वैसे ही किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ईश्वर की भी केवल लीलारूप

---

1. ब्रह्मसूत्र शा०भा० (2-1-3-9) टेढीनीम वाराणसी, पृ० 354।
2. केनोपनिषद् शां०भा० (मं०3) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०106।
3. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (श्लोक-2) रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड सन्स, एस्प्लेनेड, मद्रास।
4. ब्रह्मसूत्र (2-1-9) पर शां० भा० द्रष्टव्य।

प्रवृत्ति होगी।[1] हम लोग जो अज्ञानी हैं उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते है और एक ब्रह्म के स्थान पर अनेक वस्तुएँ देखने लगजाते है। यही हमारा विविधतापूर्ण जगत् है। अतः भगवान् शंकराचार्य के अनुसार सम्पूर्ण अब्रह्मरूप (संसार की) प्रतीति रज्जु में सर्व-प्रतीति के समान अविद्यामात्र ही है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है।[2]

आचार्य शंकर के 'जगन्मिथ्यात्व' सिद्धान्त पर विचार करते समय उनकी सत्य की परिभाषा आलोचनीय है। उनके अनुसार जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सतत् समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं।[3] इस परिभाषा के अनुसार जगत् कथमपि सत्य नही हो सकता है। वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। सतत् चंचल है, नित्य परिवर्तनशील है। अतः यदि कोई सत्य वस्तु हो सकती है तो वह केवलमात्र ब्रह्म ही है, जो तीनों काल में एक रस सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान रहता है।[4] ऐसी स्थिति में जगत् ब्रह्म की भाँति निरपेक्ष सत्य नही है। उसकी ब्रह्म से नितान्त भिन्न सत्ता की कल्पना सर्वथा निराधार है। अतः जगत् को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करना एकदम असम्भव है। ऐसा होने पर क्या यह जगत् नितान्त असत्य है? क्या हमारा उठना-बैठना, खाना-पीना, बोलना-चलना इत्यादि सर्वथा असत्य है? आचार्य शंकर का उत्तर इस सम्बन्ध मे नकारात्मक है। उनके अनुसार जगत् भी सत्य है किन्तु उस कोटि का नहीं जिस कोटि का सत्यत्व ब्रह्म का है। ब्रह्म पारमार्थिक रूप से सत्य है और जगत् व्यावहारिक रूप से। जब तक हम जगत् में रहकर उसके कार्यों मे लीन रहते है और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते है तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिए ही बनी ही रहेगी परन्तु जैसे ही परमतत्त्व का ज्ञान व्यक्ति को हो जाता है। वैसे ही जगत् की सत्ता का निराकरण हो जाता है। उस समय ब्रह्म ही एक सत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है।[5]

ब्रह्म के सत्यत्व तथा जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय आचार्य शंकर ने त्रिविध सत्ता की कल्पना की है। इन तीनो प्रकार की सत्ता की मीमांसा से जगत् के स्वरूप का निर्णय करने का प्रयास शांकर वेदान्त में किया गया है। अतः यहाँ इन तीनों सत्ताओं—(1) प्रातिभासिक (2) व्यावहारिक तथा (3) पारमार्थिक की विवेचना करना प्रसङ्गानुकूल होगा।

(1) **प्रातिभासिक सत्ता**:—सत्ता का तात्पर्य अस्तित्व से है। ऐसी सत्ता जो

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2/1/12/34), टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 394।
2. मुण्डकोपनिषद् शां०भा० (2/1/11) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ०81–82।
3. तैत्तिरीयोपनिषद् (2/1/1) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०103-104।
4. विवेकचूडामणि (शंकराचार्यकृत) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 12।
5. वही, पृ० 75।

प्रतीतिकाल में सत्य दृष्टिगोचर होती हो किन्तु आगे चलकर दूसरे ज्ञान से बाधित हो जाय। जैसे:—रज्जु में सर्प की भावना अथवा सीपी में चाँदी की भावना। घन-घोर अन्धकारमयी रात्रि में मार्ग में पडी हुई रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। संयोगवश हाथ मे दीपक लेकर किसी पथिक के उधर आ निकलने पर उसी दीपक के प्रकाश की सहायता से उस रस्सी को देखकर 'यह रस्सी है' यथार्थ ज्ञान (अनुभव) प्राप्त कर लेते है। यहाँ रस्सी में सर्पज्ञान पूर्वकालीन है और उसमें रज्जु-ज्ञान उत्तरकालीन है। जब तक रज्जुज्ञान नही हो जाता है तब तक सर्पज्ञान बना ही रहता है।[1] इस प्रकार समस्त प्रतीतियों मे उत्पन्न ज्ञान अपने उत्तरकालीन ज्ञान से समाप्त होकर यथार्थ ज्ञान का द्वार खोलता है। यही प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है।

(2) **व्यावहारिक सत्ता**:—जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में व्यावहारिक सत्ता रहती है। साँसारिक पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते है।[2] वे संसार में विद्यमान रहते हैं (अस्ति)। वे प्रकाशित होते है (भाति)। वे आनन्दप्रद होते हैं (प्रिय)। उनका एक विशिष्ट रूप होता है (रूप) और उनका कोई न कोई नाम होता है (नाम)। उक्त पाँचों धर्म (गुण)—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम, संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते है। इनमें प्रथम तीन तो ब्रह्म में होते है और अन्तिम दो धर्म—नाम एवं रूप जगत् के धर्म है। वह परमब्रह्म जगत् के पदार्थों में घुल-मिलकर रहता है। अत: वह सच्चिदानन्द रूप है। इन तीनों रूपों की सत्ता जगत् के पदार्थों में विद्यमान रहती है। साँसारिक पदार्थो की अपनी विशिष्टताएँ दो ही है—नाम और रूप। अत: भौतिक पदार्थो का कोई न कोई नाम और कोई न कोई रूप है, वस्तुओ की सत्ता मानना व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है। अत: जगत् एकान्त सत्य नहीं है।[3] व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थो की सत्ता व्यावहारिक है।[4]

(3) **पारमार्थिक सत्ता**—भौतिक पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है जो शाश्वत सत्य होने से व्यावहारिक सत्ता से ऊपर होता है, वह ब्रह्म है।[6] वह एकान्त सत्य होने से भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों में एक रूप रहने वाला है। अत: ब्रह्म की ही सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते है। जब ब्रह्म-

---

1. माण्डूक्य कारिका (3-27) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
2. [illegible] (श्लोक 20) बुद्धि सेवाश्रम, रतनगढ़।
3. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थसंग्रह : सम्पादक एच० आर० भगवत् श्लोक 6, पूना, पृ० 13।
4 ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2–1–14), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 365–66।
5. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह:, वही श्लोक 63, पृ०18।

ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते है तभी यह असत् प्रतीत होता है, परन्तु व्यवहार के लिए विल्कुल पक्का और ठोस है। उक्त तीनों से भिन्न कतिपय पदार्थ है जैसे—वन्ध्यापुत्र (बाँझ स्त्री का पुत्र) आकाश कुसुम तथा शशशृंग इत्यादि। ये पदार्थ विना किसी आधार के होते है। इसलिये इन्हें तुच्छ या अलीक कहा गया है। इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती है। ये नितान्त असत्य है। किसी काल में इनकी सत्ता दृष्टिगोचर नही होती है।[1] इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता यथार्थ एवं वास्तविक तत्त्व की बोधक होती है।

शांकर वेदान्त में 'जगन्मिथ्यात्व' की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की जाती है। उनके अनुसार जगत् न सत् है, न असत् है प्रत्युत् दोनों से विलक्षण है। अतः इसे अनिर्वचनीय कहते है अथवा मिथ्या भी कहते है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ 'असत्' नहीं, प्रत्युत् 'अनिर्वचनीय' है। रज्जु में सर्पज्ञान रज्जु-ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है। अतः रज्जु में सर्पज्ञान को हम 'सत्' नहीं कह सकते है। उसे 'असत्' (अविद्यमान) कहते भी नहीं बनता, क्योंकि साँप को देखकर जैसे कोई आदमी भय के मारे काँपने लगता है और भाग खडा होता है उसी प्रकार इस रस्सी को देखकर भी व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करता है। फलतः रस्सी में सर्पज्ञान सर्वथा असत् नही है। उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि रस्सी का ज्ञान होने पर सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार जगत् की सत्यता तभी तक है जब तक व्यक्ति को ब्रह्मबोध नही होता है।[2]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत् का उदय ब्रह्म से है। वही इसका उपादान कारण है और स्वयं वही इसका निमित्त कारण है।[3] ब्रह्म कारण है और जगत् उसका कार्य है किन्तु शांकर दर्शन में न्याय-वैशेषिक और मीमांसा आदि के आरम्भवाद तथा सांख्य-योग आदि के परिणामवाद को स्वीकार न करके कार्य-कारण की अभिन्नता मान्य है।[4] शांकर दर्शन की दृष्टि से ये दोनों सिद्धान्त भ्रान्त है। परिणामवादी कार्य को कारण से अभिन्न और साथ ही भिन्न भी मानते है परन्तु दोनों कल्पनाएँ युक्तियुक्त नहीं हैं। घट आदि मृत्तिका के कार्य होने से मृत्तिका से अभिन्न है, परन्तु वे परस्पर भिन्न किस प्रकार है?

---

1. माण्डूक्य कारिका (3–28) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 164.
2. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ संग्रहः श्लोक 7 पूना, पृ० 13.
3. ब्रह्मसूत्र (1–1–2–2) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
4. ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य (2—2–6–15) गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 371.

यदि इसमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नही रह सकती है। इस प्रकार कार्य-कारण मे एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते है ? दोनों में एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद (या एक) को परमार्थ सत् मानना उचित है और भेद (या विविधता) को कल्पित मानना तर्कसंगत है। ऐसा न मानने पर असंख्य परमार्थ (वास्तविक) वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी होगी। अत: आचार्य शकर एकमात्र कारण रूप ब्रह्म का ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्पदार्थ के रूप मे ही प्रतिपादन करते हैं और उनके अनुसार जिस एक के कारण से जगत् उत्पन्न हुआ वही एक तत्व परमार्थत: ब्रह्म है।[1] ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला यह जगत् मिथ्या एवं कल्पना मूलक है। फलत: ब्रह्म और जगत् में अभेद सत्य है और भेद मिथ्या।[2] कारणरूप ब्रह्म के एकमात्र सत्य होने से कार्यरूप जगत् ब्रह्म का विवर्त है और माया का परिणाम। तात्त्विक (यथार्थ) परिवर्तन को विकार या परिणाम तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं।[3] दही-दूध का परिणाम है परन्तु सर्प रज्जू का विवर्त है, क्योकि दूध-दही के रूप में परिणत होता है, किन्तु रस्सी सर्प मे परिणत नही होती है और रस्सी की वास्तविक सत्ता बनी रहती है।[4] इस प्रकार ब्रह्म तत्त्वत: जगत् रूप में परिणत नही होता है वरन् उसमें जगत् का विवर्तन होने से वह निर्विकार बना रहता है। अत. भगवान् शकराचार्य व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य मानते है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है।[5]

भगवान् शंकराचार्य जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का कारण अविद्या को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म-मरण आदि दु:खो का कारण अविद्या ही है।[6] अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्मस्वरूप का बोध न होने पर नाम रूपात्मक जगत् ही परमार्थ रूप से सत्य प्रतीत होता है। अविद्या-निवृत्ति होने पर जीव को आत्मस्वरूप का बोध होता है। यह अविद्या जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति है।[7] इस अविद्या की ही दूसरी संज्ञा

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2–5–1) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 584.
2. श्री शकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ सग्रह श्लोक 326, सम्पादक, एच० आर० भगवत्, पूना, पृ० 158.
3. स्वामी सदानन्द–वेदान्तसार, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृ० 47.
4. ब्रह्मसूत्र (2–1–14) पर शंकर भाष्य दृष्टव्य।
5. "छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (6–4–4) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 619.
6. कठोपनिषद् (1–2–5) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
7. "ब्रह्मसूत्र (1–4–3) शां० भा०, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी पृ० 287–88

माया है। इस प्रकरण के आरम्भ में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि माया शब्द का प्रयोग आचार्य शंकर ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल (जादू) के अर्थ में किया है। उन्होंने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है।[1] इस माया की अतिगम्भीरता दुरवगाह्यता एवं विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर का कथन है कि यह समस्त संसार, यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है, 'मै परमात्मा रूप हूँ' ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्त्व को ही ग्रहण करता है।[2] यही माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म का आवरण करके अपनी विक्षेप शक्ति से उसमें जगत् की सृजना करती है। अतः आचार्य शंकर ने जगत् को माया स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया है—"जल और फेन के समान जिसका वास्तविक अथवा अवास्तविक रूप से निरूपण नही किया जा सकता, उन परमात्मा के उपाधिभूत एवं विकार को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण अवस्थाओं में स्थित नाम और रूप को ही संसार कहते हैं।"[3]

जगत् की मीमांसा करते हुए आचार्य शंकर ने 'अध्यास' का विवेचन किया है। इसी 'अध्यास' के कारण नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-आनन्दस्वरूप आत्मा सांसारिक सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ बन्धन-ग्रस्त सा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्घात में भगवान् शंकराचार्य ने अध्यास के स्वरूप की विवेचना बड़ी सरल एवं सुबोध भाषा में की है। इसी अध्यास से सब लौकिक और वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार प्रवृत हुए और विधि-निशेध बोधक एव मोक्षपरक शास्त्र की प्रवृत्ति हुई।[4] आचार्य शंकर के अनुसार अतद् में तद्बुद्धि ही अध्यास है अर्थात् उससे भिन्न उसकी बुद्धि ही अध्यास है, जैसे—कोई पुत्र, स्त्री आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। मै स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ, मै खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मै लांघता हूँ, इस प्रकार देह-धर्मों का अध्यास करता है और मै मूक हूँ, मै, काना हूँ, नपुंसक हूँ, बधिर हूँ, अन्धा हूँ, इस प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करता है। इसीप्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मो का अपने में अध्यास करता है। ···· इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक मिथ्याज्ञान रूप और आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक अध्यास, सर्वजन प्रत्यक्ष है।[5] अतः समस्त

---

1. ब्रह्मसूत्र (2–1–9) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. कठोपनिषद् शां० भा० (1–3–12) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 94.
3. "बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2–4–10) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 560.
4. "ब्रह्मसूत्र शां०भा० (उपोद्घात) गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 13.
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (उपोद्घात) वही, पृ० 17–18.

जगत् का व्यवहार इसी अध्यास द्वारा परिचालित है। इस सम्बन्ध में पशु तथा मनुष्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। हरी-हरी घास पूर्ण अञ्जलि वाले व्यक्ति को अपनी ओर आते देखकर पशु उसकी ओर लपकता है और किसी के हाथ मे दण्ड देखकर भयभीत हो जाता है तथा भाग खडा होता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी खडग आदि संहारक अस्त्रों को देखकर भयभीत हो जाता है और सुन्दर एवं मोहक वस्तु को देखकर आकृष्ट हो जाता है। अतः मानवीय एव पाशविक व्यवहार इस दृष्टि से समान कोटि का है। यह सब अज्ञान है। आचार्य शंकर ने इसको अध्यास कहा है तथा इसके विवेक द्वारा वस्तुस्वरूप (यथार्थ) के निश्चय को विद्या कहा है।[1] अध्यास का ही दूसरा नाम 'अध्यारोप' है। इसी अध्यारोप को हटाने के लिए आत्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है।[2]

मोक्ष-विचार :

मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु में क्तिन् प्रत्यय के लगने पर होती है जिसका अर्थ छुटकारा पाना होता है। अतः वेदान्त में आत्मबोध होने पर अध्यास-जन्य मिथ्या बन्धन के उच्छेद को मोक्ष कहा गया है।[3] वस्तुतः आत्मा सर्वदा विकार रहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है। आचार्य शंकर ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए मोक्ष को परमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्त विक्रियाओं से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयं ज्योति स्वभाव कहा है। उनके अनुसार मुक्ति की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालो में भी सम्बन्ध नही रखते है। इसी शरीर रहित स्थिति को उन्होंने मोक्ष कहा है।[4]

वस्तुतः मुक्ति न उत्पन्न होती है, न पहिले से अप्राप्त है। यह प्राप्त की प्राप्ति है। यह शाश्वत सत्य का अनुभव है। जो सत्य सर्वदा से है। (बन्धन की अवस्था मे भी जो सत्य अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है)। उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में वेदान्त का यह दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है—किसी व्यक्ति के गले में सोने का हार है, परन्तु वह कण्ठगत हार को भूलकर इधर-उधर ढूँढता फिरता है, अन्त में किसी विज्ञ पुरुष के उपदेश से पता चला कि हार उसी के गले में है और तभी उसकी प्राप्ति से वह प्रसन्न हो उठता है। इसी प्रकार मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं,

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा०, गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 12.
2. ब्रह्मसूत्र (उपोद्घात) वही, पृ० 18.
3. केनोषनिषद् शां० भा० (मं० 3) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 107.
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–1–4–4) वही, पृ० 58–59.

केवल अपने समझने की आवश्यकता है। बन्धन अज्ञानकृत होता है। अतः इस अज्ञान का आवरण दूर कर देना ही मुक्ति है।[1] इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार गीता तथा उपनिषदों मे यही अभिप्राय निश्चित किया गया है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष होता है।[2]

जीव और ब्रह्म की भेद-बुद्धि से उत्पन्न हुये समस्त क्लेशों की निवृति मात्र ही मुक्ति नहीं है वरन् ब्रह्म[3] ही की मुक्ति होने से मोक्षावस्था आनन्दमयी है। मोक्ष का अर्थ ब्रह्मानुभूति है। अतः मोक्ष संस्कार्य नही है। इस कारण मोक्ष के प्रति उत्पत्ति, विकृति, प्राप्ति और संस्कृति से भिन्न क्रिया सम्बन्ध का द्वार कोई नहीं दिखा सकता है। इसलिये मोक्ष मे ज्ञान के सिवा क्रिया के लेश मात्र का भी सम्बन्ध उत्पन्न नही है।[4] गुरु के उपदेश से अज्ञान और भ्रम दूर होता है एवं व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति पाकर प्रसन्न हो जाता है। जो कोई भी अपने को पूर्णानन्द ब्रह्म स्वरूप से अनुभव करता है वही मुक्त होता है और जो अपने को परमात्मा से भिन्न जानता है वह बंधता है।[5]

मुक्त पुरूप के व्यवहार में यह प्रपन्च रूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि के द्वारा मृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।[6] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त जगत् का विनाश नहीं होता है।[7] केवल मुक्त पुरूप की जगद्बुद्धि का ही विनाश होता है। वृद्धावस्था मे जो प्रपन्चमय जगत् जीव को सत्य रूप से भासित होता है मुक्तावस्था में उसका प्रपन्च शान्त हो जाता है।[8] प्रपन्च शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैत बुद्धि का भी विनाश हो जाता है।[9] तत्व बोद्ध होने पर ब्रह्म ज्ञानी पुरूष स्वयं ब्रह्म रूप ही हो जाता है।[10] अतः शांकर दर्शन में मुक्त पुरूष ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् ब्रह्मानन्द

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2–2–6–29) गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 635.
2 श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 81.
3. "ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था।" ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3–4–17–52) वही, पृ० 789,
4 ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-4-4) वही, पृष्ठ 67।
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां० भा० (1-6) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 99।
6. ब्रह्मसूत्र (1-1-4-4) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
7 ब्रह्मसूत्र (3-2-5-21) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
8. माण्डूक्योपनिषद् (1-3) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
9. माण्डूक्य कारिका (1-16) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ (7।
10 बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-4-25) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 1125

का अनुभव कर आत्मरति और आत्मतृप्त हो अपने आत्मा मे ही आन्तरिक सुख, रमण एवं प्रकाश का अनुभव करता हुआ आत्म क्रीड, आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होकर इसी लोक में स्वराज्य अर्थात् अपनी सार्वभौम महिमा मे अमृत रूप से स्थिति हो जाता है। वह बाह्य विपयो को त्यागकर मनवाणी और शरीर से होने वाले सम्पूर्ण श्रोत-स्मार्त कर्मो को ब्रह्मार्पण करके अनुष्ठान करता हुआ शुद्धचित्त और योगारूढ़ होकर शमादि साधनों से सम्पन्न हो जाता है ।[1]

यद्यपि शंकराचार्य ने मुक्तावस्था को एक रूप ही माना है तथापि[2] शांकर वेदान्त मे मुक्ति सम्बन्धी जो भेद मिलते है, वे परिस्थिति के अनुसार किये गये भेद है। शाकर दर्शन मे मुक्ति के जीवन मुक्ति विदेह मुक्ति मे भेद मिलते है। जीवन्मुक्त[3] प्राणी के लिये अविद्या की निवृति एवं ब्रह्म बौद्ध होने पर कर्मादिबन्धन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जब तक प्रारम्भ कर्मो का भोग समाप्त नही हो जाता तब तक मुक्त पुरूष को भी जीवन धारण करना पड़ता है ।प्रारम्भ कर्मो का भोग समाप्त होने पर मुक्त प्राणी का शरीर समाप्त हो जाता है ।और वह विदेह केवल्य की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति मे प्रारव्य कर्मो का भोग समाप्त होने-पर्यन्त व्यक्ति को शरीर धारण करना पड़ता है किन्तु विदेह मुक्ति मे प्राणी कर्म भोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है ।[4] यही जीवन्मुक्ति का प्रधान भेद है।

आचार मीमांसा :

मोक्ष कर्म मूलक न होकर ज्ञान मूलक है। अत: शंकराचार्य के कथनानुसार बन्धन के अविद्या कृत होने से विद्या से मोक्ष उत्पन्न होता है ।[5] इस कारण मुमुक्षु के लिये शांकर वेदान्त में ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व नही दिया गया है ।[6] वेदान्त मे निष्काम कर्म से मल नाश, उपासना से विक्षेप नाश ओर ज्ञान से आवरण नाश का सिद्धान्त प्रति पादित करने का यही उद्देश्य है कि कर्म और उपासना से व्यक्ति को ब्रह्मात्मा की एकता की अनुभूति हो जाती है। आचार्य शकर के विचार मे यद्यपि मुक्त पुरूप को किसी वस्तु की आकांक्षा न होने से किसी प्रकार का कर्म करना अभीष्ट नही है तथापि वह इस प्रकार कर्म कर सकता है जिससे वह बन्धन ग्रस्त न हो। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्व

---

1. श्वेतश्वतरोपनिषद् शां० भा० (1-11) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 126।
2. ब्रह्मसूत्र (-4-5) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
3. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-4-7) गीता प्रेस गौरखपुर, पृ० 1066।
4. गीता (5-26) शां० भा० गीता प्रेस गौरखपुर, पृ० 164।
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3-2-6-29)गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 635।
6. गीता शां० भा० (31) वही, पृ० 79।

का बोध नहीं कर सकता है परन्तु काम्य वर्जित निष्कर्ष के अनुष्ठान से चित्त-शुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी रुकावट के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है।[1] इस प्रकार आचार्य शंकर कर्म से चित्त-शुद्धि मानते है और विशुद्ध चित्त में ज्ञान की उत्पत्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता में दो प्रकार के कर्म माने गये हैं—सकाम कर्म तथा निष्काम कर्म। निष्काम कर्म की श्रेष्ठता एवं करणीयता का प्रतिपादन गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।[2] इसी प्रकार गीता में वर्णित देवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति की मीमांसा में स्वाभाविक राग द्वेष मूलक प्रवृत्तियों का दास होकर रहने वाला अधर्मपरायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है तथा इसके विपरीत राग द्वेष पर संयम करके शुभ कामना की प्रबलता से धर्माचरण-परायण मनुष्य 'देव' कहलाता है।[3] वासना की इच्छा से यदि कर्मों का सम्पादन किया जाये तो यह असुरत्व का लक्षण है किन्तु रागद्वेष की वासना का त्यागकर निष्काम भाव से कर्मो का सम्पादन करना देवत्व का द्योतक है। अतः भगवान् शंकराचार्य गीता के इस सिद्धान्त को मानते है कि आसक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म बन्धन का हेतु होता है परन्तु पूर्ण ज्ञान एवं पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर मनुष्य आसक्ति से मुक्त हो जाता है।[4] अतएव लाभ-हानि और हर्ष-विवाद से वह प्रभावित नही होता है।[5] इस स्थिति में वह ब्रह्म ज्ञानी अनासक्त होकर कार्य कर सकता है।

शंकराचार्य की आचार मीमांसा में उपर्युक्त अनासक्ति पूर्वक सम्पादित निष्काम कर्म का अत्यधिक महत्व है। जिसे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई हैं, उसे आत्म शुद्धि के लिये निष्काम कर्म करना आवश्यक है।[6] अहंकार एवं स्वार्थ के बन्धन से मुक्त होने के लिये निष्काम कर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन आचार्य शंकर ने किया है न कि व्यक्ति एवं समाज को निष्क्रिय बनाने के लिये। इतना ही नहीं, जो तत्वज्ञान या जीवन्मुक्ति प्राप्त कर चुका है, उसे भी अन्यान्य बन्धन ग्रस्त जीवों के उपकारार्थ निःस्वार्थ कर्म करने की प्रेरणा शांकर दर्शन में दी गई है।[7]

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-2-22) वही पृ० 1101 तथा 1102 एवं 1103।
2. कर्मण्येवाधकारस्ते मा फलेषु कदाचन। कर्मफलहेतु भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ श्रीमद्भगवद्गीता (2-47)
3. मधुसूदन सरस्वती गीता व्याख्या (गूढार्थ दीपिका) निर्णय सागर प्रेस बम्बई
4. श्वेतश्वतरोपनिषद् (1-11) शां० भा०, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 126।
5. श्रीमद्भगवद गीता (12-14) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
6. श्रीमद्भगवद्गीता (5-11) शां० भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 153।
7. वही (4-14 तथा :-20-26) पर शांकर भाष्य द्रष्ठव्य।

का बोध नही कर सकता है परन्तु काम्य वर्जित निष्कर्ष के अनुष्ठान से चित्त-शुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी रुकावट के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है।[1] इस प्रकार आचार्य शंकर कर्म से चित्त-शुद्धि मानते हैं और विशुद्ध चित्त में ज्ञान की उत्पत्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता में दो प्रकार के कर्म माने गये है—सकाम कर्म तथा निष्काम कर्म। निष्काम कर्म की श्रेष्ठता एवं करणीयता का प्रतिपादन गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।[2] इसी प्रकार गीता में वर्णित देवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति की मीमांसा में स्वाभाविक राग द्वेष मूलक प्रवृत्तियों का दास होकर रहने वाला अधर्मपरायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है तथा इसके विपरीत राग द्वेष पर संयम करके शुभ कामना की प्रबलता से धर्माचरण-परायण मनुष्य 'देव' कहलाता है।[3] वासना की इच्छा से यदि कर्मो का सम्पादन किया जाये तो यह असुरत्व का लक्षण है किन्तु रागद्वेष की वासना का त्यागकर निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करना देवत्व का द्योतक है। अतः भगवान् शंकराचार्य गीता के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि आसक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म बन्धन का हेतु होता है परन्तु पूर्ण ज्ञान एवं पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर मनुष्य आसक्ति से मुक्त हो जाता है।[4] अतएव लाभ-हानि और हर्ष-विवाद से वह प्रभावित नही होता है।[5] इस स्थिति में वह ब्रह्म ज्ञानी अनासक्त होकर कार्य कर सकता है।

शंकराचार्य की आचार मीमांसा में उपर्युक्त अनासक्ति पूर्वक सम्पादित निष्काम कर्म का अत्यधिक महत्व है। जिसे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे आत्म शुद्धि के लिये निष्काम कर्म करना आवश्यक है।[6] अहंकार एवं स्वार्थ के बन्धन से मुक्त होने के लिये निष्काम कर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन आचार्य शंकर ने किया है न कि व्यक्ति एवं समाज को निष्क्रिय बनाने के लिये। इतना ही नही, जो तत्वज्ञान या जीवन्मुक्ति प्राप्त कर चुका है, उसे भी अन्यान्य बन्धन ग्रस्त जीवों के उपकारार्थ निःस्वार्थ कर्म करने की प्रेरणा शांकर दर्शन में दी गई है।[7]

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-2-22) वही पृ० 1101 तथा 1102 एवं 1103।
2. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ श्रीमद्भगवद्गीता (2-47)
3. मधुसूदन सरस्वती गीता व्याख्या (गूढार्थ दीपिका) निर्णय सागर प्रेस बम्बई
4. श्वेतश्वतरोपनिषद् (1-11) शां० भा०, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 126।
5. श्रीमद्भगवद गीता (12-14) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
6. श्रीमद्भगवद्गीता (5-11) शां० भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 153।
7. वही (4-14 तथा :-20-26) पर शांकर भाष्य द्रष्ठव्य।

शुद्धचित्त सम्पन्न, निष्काम कर्मपरायण एवं मुक्त पुरूष का जीवन तथा आचरण समाज के लिये आदर्श होते है। उनकी श्रेष्ठ तथा अनुकरणीय कर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अन्य व्यक्ति उनको आदर्श मानकर उनका अनुगमन करते हैं।[1] ऐसे व्यक्तियों से कभी कुकर्म नहीं हो सकता है। अतः आचार्य शंकर की आचार मीमांसा का महत्वपूर्ण पक्ष है—लोक सेवा। यही कारण है कि लोक सेवा (लोक संग्रह) को मुक्ति के पथ में बाधक नहीं अपितु साधक मानते है। अतः उनका समस्त जीवन जनकल्याणार्थ तथा राष्ट्र सेवार्थ सर्मपित होने के कारण उनको 'लोकशङ्कर' के नाम से पुकारा जाता है। स्वामी विवेकानन्द तथा लोकमान्य तिलक आदि आधुनिक वेदान्ती भी इसी आदर्श का अनुमोदन करते हैं।[2]

मानव जीवन में प्रेम, एकता, त्याग तथा युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वैष, अहंकार, विषयान्धता एवं पूर्वाग्रहग्रस्त विचारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। मानव जाति के आभूषणभूत इन सद्गुणों को आचार्य शंकर के इस अद्वैत सिद्धान्त[3] से कि, सभी जीव एक हैं, "सब प्राणियों में एक ही आत्मा की सत्ता विद्यमान है" जितनी विकसित करने की प्रेरणा मिल सकती है उतनी अन्य किसी सिद्धान्त से नहीं। यह उनके अभेदवादी दर्शन की आचार मीमांसा का ही चमत्कार है कि जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति को ज्ञानमूलक प्रतिपादित करने पर भी उन्होने जिस नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना पर बल दिया है उसमें निष्काम कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि-प्राप्ति के उपरान्त ही आत्मदर्शन अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार करने की क्षमता का विकास होता है।[4] इस प्रकार आचार्य शंकर ने कर्म और ज्ञान का तथा कर्म और उपासना के समुच्चय का तिरस्कार नही किया है, प्रत्युत् चित्तशुद्धि के लिए[5] इनका निष्कामभाव से सम्पादन करने का प्रतिपादन करके उन्होंने उस मिथ्या धारणा का निराकरण कर दिया है जिसमें उन्हें कर्मानुष्ठान का विरोध करने के लिए आरोपित किया जाता है। अतः स्वामी विवेकानन्द के सन्दर्भ मे अद्वैत दर्शन पर विलियम जेम्स की यह समीक्षा सहसा अपनी ओर आकृष्ट करने लगती है—"भारतवर्ष का वेदान्त संसार के सभी अद्वैतवादों का शिरोमणि है।····· एक

---

1. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ श्रीमद्भगवद्गीता (3-21)।
2 स्वामी विवेकानन्द का 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' तथा लोकमान्यतिलक का 'गीता-रहस्य' दृष्टव्य।
3. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 154।
4. "गीता शा० भा०, (2-48) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 61।
5. श्री शॅकराचार्य-विवेकचूडामणि (श्लोक II) वही, पृ० 10।

अद्वितीय ब्रह्म, और मैं वह परब्रह्म। यहाँ एक ऐसा धार्मिक विश्वास उत्पन्न हो जाता है जिसमें मन को सन्तुष्ट करने की असीम-शक्ति है। इसमें चिरस्थायी शान्ति और सुरक्षा का भावनिहित है। हम सभी अद्वैतवाद् का मधुर संगीत सुन सकते हैं। इसमें अपूर्व शान्तिदायिनी और उद्धारकारिणी शक्ति है।"[1]

प्रमाण-मीमांसा :

तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रमा-कारण को प्रमाण कहते हैं। अज्ञात एवं सत्य रूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[2] इस परिभाषा के अनुसार स्मृति, भ्रम तथा संशय-रूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि भ्रमजन्य एवं संशयोत्पन्न ज्ञान में वास्तविकता नहीं होती। इस प्रकार जहाँ जिस वस्तु की जैसी स्थिति है उसका वैसा की ज्ञान प्रमा है। उस प्रमा का कारण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार शास्त्र दीपिका के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञातपूर्व वस्तु का अनुभव हो तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न होकर दोष रहित हो वही प्रमाण है।[3] इन प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिक-मतभेद है। आचार्य शंकर की प्रमाण मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (शास्त्र) प्रमाण को स्वीकार किया गया है किन्तु उनके परवर्ती अद्वैत वेदान्ताचार्यों ने उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव को स्वीकार कर प्रमाणों की संख्या छः कर दी है।[4]

प्रत्यक्ष प्रमाण :

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार चूंकि शंकर ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय में विचार-विमर्श नहीं किया है, हम उनके मत के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। 'वेदान्त परिभाषा' में दिये गए वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा और वह स्पष्ट ही असन्तोषप्रद है।[5] इसके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो चैतन्यपदार्थों के विषय में विना किसी माध्यम के और साधारणतः इन्द्रियों की क्रिया के द्वारा चैतन्य को प्राप्त होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में ज्ञाता तथा प्रत्यक्ष विषयक

---

1. विलियम जेम्स-प्रेग्मेटिज्म (पृ० 154) न्यूयार्क, लोंगमेन्स ग्रीन एण्ड को०।
2. मानमेयोदय (1-3), अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली।
3. शास्त्र दीपिका (1-1-5) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
4. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग—2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—6, पृ० सं० 482।
5. डा० राधाकृष्णन्—वही, पृ० 482.

पदार्थ मे वास्तविक सम्पर्क होता है।[1] इसी प्रकार रामानुजाचार्य की परिभाषा के अनुसार साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्ष है।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्षात् सम्बन्ध इन्द्रियों से है। वैसे तो स्पष्टतः अनुमान-ज्ञान मन-इन्द्रिय द्वारा जन्य है परन्तु उसमें इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात्कार नहीं होता। यही अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद है। जब आँख एक घड़े पर जमती है तो अन्तःकरण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता है। अन्त.करण प्रकाश के समान कार्य करता है। अन्तःकरण वृत्ति की विस्तृत प्रकाश-किरण के रूप में बाहर की ओर गति होती है। वृत्ति प्रमेय का रूप धारण करके पदार्थ के साथ एकाकार हो जाती है और इसका तादात्म्य समस्त समीपवर्ती क्षेत्र तक फैल जाता है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते हैं वह इसी अन्तःकरण की वृत्ति पर निर्भर करता है। यदि वृत्ति पदार्थ के वजन की आकृति धारण करती है तो हम वजन का प्रत्यक्ष करते हैं और यदि रंग की वृत्ति है तो हमें रंग का प्रत्यक्ष होता है।[3]

प्रत्यक्ष के भेद—(निर्विकल्पक तथा सविकल्पक)

निर्विकल्पक ज्ञान—इन्द्रियसन्निकर्ष के पश्चात् विशेषण-विशेष भाग से रहित, विषय स्वरूप मात्र का ग्राहक, शब्दानुगम से शून्यज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में केवल सब प्रकार के विधेयों से रहित होने का ही बोध होता है।[4] अतः निर्विकल्पक अवस्था प्रमाण विचार में ज्ञान की प्रथम अवस्था है। जैसे मनुष्य को दूर से देखकर उसकी विशेषताओं पर ध्यान न देकर केवल यह मनुष्य है ऐसा बोध होना निर्विकल्प ज्ञान का उदाहरण है।

सविकल्पक ज्ञान—जब ज्ञान की उपर्युक्त प्राथमिक अवस्था अन्य उपकरणों से पुष्ट होती जाती है तथा उसका विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से सम्बन्ध होता चला जाता है तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। उपर्युक्त दूरवर्ती मनुष्य के उदाहरण में उसके समीप आने पर उसकी जाति, गुण, क्रिया, नाम तथा द्रव्य का पता चल जाता है। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में पाँच प्रकार के विकल्पों-जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया तथा नाम द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसी विकल्प योजना पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।[5]

अनुमान प्रमाण :

स्वाभाविक रूप से निश्चित सम्बन्ध वाले दो पदार्थों मे व्याप्य के देखने पर इन्द्रियों से असम्बद्ध विषय में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।

1–व 3. वही, पृ० 482–83.

2. रामानुजाचार्य, तन्त्र रहस्य, पृ० 2–8.

4. न्यायमन्जरी, पृ० 98.

5. मण्डनमिश्र शास्त्री, मीमांसा-दर्शन, पृ० 379।

उदाहरणार्थ धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित है। अतः धूम-दर्शन होने पर इन्द्रियों से न देखे गये व्यापक अग्नि का भी ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। यहाँ धूम व्याप्य तथा अग्नि व्यापक है और जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह व्याप्ति है। इस प्रकार अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति-ज्ञान के द्वारा होती है। अनुमान प्रक्रिया में वेदान्त दर्शन प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त या दृष्टान्त उपनय निगमन ये तीन ही वाक्य मानता है।[1]

शब्द (शास्त्र) प्रमाण :

शांकर वेदान्त मे आगम अथवा शास्त्र प्रमाण को स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण रूप में ज्ञान का साधन स्वीकार किया गया है। आचार्य शंकर के अनुसार शास्त्र (वेद) ही कत्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में ज्ञान प्राप्ति का साधन होने से प्रमाण है।[2] वेद नित्य ज्ञान है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकालाबाधित नियमों का भण्डार है। वेद को शाकर दर्शन में अपौरुषेय (मानवीय शक्ति से परे) माना गया है और वे ईश्वरीय ज्ञान को प्रकट करते है।[3] वेदों की प्रामाणिकता शाश्वत होने से वे देशकाल की सीमा से परे है।

आचार्य शंकर के अनुसार वेद नित्य होने के साथ-साथ स्वतः प्रकाश है क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप का प्रकाशन करते है जिसके विचार उनके अन्दर दिए गए है। उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध तथा साक्षात् है, वैसे ही जैसा कि सूर्य का प्रकाश हमारे आकृति-सम्बन्धी ज्ञान का साक्षात् साधन है।[4]

इस प्रकार वेदों का प्रामाण्य निरपेक्ष माना गया किन्तु श्रुति (वेद) के अनुकूल होने पर ही स्मृति प्रमाण मानी जाती है।[5] आचार्य शंकर श्रुति (वेद) को ऐसा ज्ञान प्रदान करने वाली मानते है जो इन्द्रियों अथवा विचार शक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[6] प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लंघन नहीं कर सकती।[7] अतः श्रुति का प्रामाण्य निर्भ्रान्त तथा अन्तिम

---

1. मानमेयोदय, पृ० 64 तथा वेदान्त परिभाषा, पृ० 92।
2. श्रीमद्भगवद्गीता (16–24) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
3. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (1–1–3) दृष्टव्य। तुलना कीजिये, प्लेटो "ईश्वर का चित् ही विश्व की विवेकपूर्ण व्यवस्था है।" (713 ई० जावेट का पाठ)।
4. डा० राधाकृष्णन्–भारतीय दर्शन–भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पाद टिप्पणी–2, पृ० 491।
5. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (2–1–1) दृष्टव्य।
6. श्रीमद्भगवद्गीता (3–66) पर शांकर भाष्य दृटव्य।
7. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (1–1–4) तथा (1–3–7)।

होने से धर्म और अधर्म सम्बन्धी विषयों पर वेद स्वतः तथा निरपेक्ष प्रमाण है।[1] किन्तु शंकराचार्य यथार्थ सत्ता (ब्रह्म) को जानने के लिए अनुमान तथा अन्तर्दृष्टि के प्रयोग का भी प्रतिपादन करते हैं।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भगवान् शंकराचार्य की अवतारणा एक महान् दार्शनिक, उत्कृष्ट विचारक, गम्भीर चिन्तक एवं श्रेष्ठ शिक्षा-शास्त्री के रूप में मानवीय इतिहास की स्वर्णिम घटना है। अतः डा० राधाकृष्णन् के ये उद्गार बलात् स्मृति पटल पर उदित हो जाते है—"एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी।"[3]

उनकी समस्त दार्शनिक मीमांसा के सारभूत बिन्दु निम्नलिखित है—

(1) केवलमात्र ब्रह्म सत् है। ब्रह्मातिरिक्त सभी पदार्थ असत् हैं। समस्त सांसारिकता का आरोपण ब्रह्म पर होने से अधिष्ठानभूत वही सत् है।

(2) ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तटस्थ लक्षण से न होकर स्वरूप लक्षण से होता है।

(3) ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—सत्, चित्, आनन्द। वह सृष्टि का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह उसका तटस्थ लक्षण है।

(4) पारमार्थिक दृष्टि (यथार्थतः) से ब्रह्म निर्गुण एवं विजातीय, सजातीय तथा स्वगत भेदशून्य और समस्त उपाधियों से रहित निरवयव है।

(5) व्यावहारिक दृष्टि (सापेक्षतः) से ब्रह्म सगुण है और वह जीवात्मा के लिए उपासनीय है।

(6) माया रहित ब्रह्म निर्गुण तथा माया सहित ब्रह्म सगुण है। यही सगुण ब्रह्म (ईश्वर) जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है।

(7) समस्त जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' न होकर 'विवर्त' है। यह विवर्तन माया (अविद्या) के कारण है। अतः जगत् पारमार्थिक रूप में मिथ्या किन्तु व्यावहारिक रूप में सत्य है।

(8) ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। वह नित्य एवं शाश्वत सत्ता है। अतः त्रिकालाबाध्य होने से वह निरपेक्ष सत्य है। उसका कभी अभाव नहीं होता है।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता (16-23-24) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (1–1–2)।
3. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2; वही, पृ०

(9) जगत् की सृष्टि ब्रह्म क्रीड़ा अथवा लीला के लिए करता है और जगत उसका विवर्त है, परिणाम नहीं जैसा कि रामानुज आदि वैष्णव आचार्य मानते हैं।

(10) सृष्टि की उत्पत्ति में माया हेतु है। आचार्य शंकर के मत में माया और अविद्या समानार्थक शब्द हैं। माया परमेश्वर की बीजशक्ति है।

(11) माया सत्त्व, रज तथा तमोगुण वाली है। यह सत्, असत् तथा दोनों प्रकार से विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है।

(12) जगत् भोग्य है और जीवात्मा भोक्ता किन्तु भोक्ता-भोग्य का यह भेद यथार्थ न होकर व्यावहारिक है।

(13) आचार्य शंकर के अनुसार शरीर तथा इन्द्रियसमूह के अध्यक्ष तथा कर्मफल का भोक्ता जीवात्मा है। यह चैतन्य है, शान्त होकर भी बुद्धि के चांचल्य से चंचल सा प्रतीत होता है।

(14) आत्मा साक्षी है। उसमें तथा जीवात्मा में पारमार्थिक ऐक्य है।

(15) ब्रह्म तथा आत्मा का भेद अज्ञान-मूलक है।

(16) जीव भी शुद्ध रूप में चैतन्य एव ब्रह्मरूप ही है।

(17) धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थों मे मोक्ष प्रधान पुरुपार्थ होने से मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

(18) अज्ञानजन्य सांसारिक बन्धन तथा आत्मा पर आरोपित अनेक प्रकार की भ्रांत कल्पनाओं का नाश ही मोक्ष है।

(19) मोक्ष वस्तुतः ज्ञानमूलक होने पर भी शांकर वेदान्त मे चित्त शुद्धि के लिए निप्काम कर्म तथा उपासना का विशिष्ट स्थान है।

(20) ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की अपेक्षा आगम अथवा शास्त्र प्रमाण का अधिक महत्त्व है।

———

शिक्षा का स्वरूप

सम शोभत तेन तत्कुलं स च शीलेन परं व्यरोचत ।
अपि शीलमदीपि विद्यया ह्यपि विद्या विनयेनदिद्युते ।।[1]
ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतः आत्मादीनाम् अवबोधः ,
विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः ।[2]
मनुष्य की अर्न्तानिहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है ।[3]

मानव प्रारम्भ से ही चिन्तनशील है । उसकी जिज्ञासा दर्शन, विज्ञान, काव्य, कला तथा शिक्षा के रूप में प्रकट हुई है । मानवजाति के अनादि-अपौरुषेय साहित्य वेद में मानव की यह चिन्तनशीलता धारावत् प्रभावित होती हुई प्रतीत होती है । वैदिक ऋषियों की जिज्ञासा का अवरोध यहीं न होकर उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उसके दर्शन होते हैं । इसी प्रकार अन्य देशों में विकसित साहित्य, दर्शन तथा शिक्षा आदि की सृजना के मूल में मानव-चिन्तन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । मानव जैसे ही इस विश्व में पदार्पण करता है, वह अपने आसपास और इधर उधर की वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार करता है । यही विचार शक्ति उसे पशुत्व से भिन्न करती है । संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भर्तृहरि के इस श्लोक में—

"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुनराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।[4]

इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है कि धर्म ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जो मानवता तथा पशुता में विभेद स्थापित करती है । विवेक ही धर्म का जनक है ।

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) (4-72) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ० 113 । शंकर से उनका कुल चमक उठा । वे शील से अत्यन्त प्रभावित हुए । विद्या से उनका शील विकसित हुआ तथा उनकी विद्या विनय से विकसित हुई ।
2. श्रीमद्भगवद्गीता शां०भा० (3-41) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 117 । शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो (आत्मा-अनात्मा और विद्या अविद्या आदि का) बोध होता है उसका नाम 'ज्ञान' है एवं उसका जो विशेष रूप से अनुभव होता है, उसका नाम 'विज्ञान' है ।
3. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा, श्रीकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 8 ।
4. भोजन करना, सोना, डरना तथा विषयभोग करना पशु और मनुष्यों में समान है । धर्म उन दोनों मे अधिक विशेषता है । अतः धर्महीन व्यक्ति पशु के समान है ।

अत: विश्व के किसी भी देश, जाति अथवा राष्ट्र को ले लिया जाय, वहाँ के नागरिकों में सतत् चिन्तनशीलता के दर्शन होते हैं। मानव की यही चिन्तनशीलता शिक्षा की जननी है।

शिक्षा का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'एजूकेशन' है। इस 'एजूकेशन' शब्द का विकास लैटिन भाषा के 'एजूकेटम' शब्द से माना जाता है। इसमें दो शब्दों का योग है—'ए' तथा 'डूको'। 'ए' का अर्थ है 'अन्दर से' तथा 'डूको' का अर्थ है आगे बढ़ाना। इस प्रकार एजूकेटम शब्द का अर्थ हुआ अन्दर से बाहर की ओर ले जाना। अत: एजूकेशन शब्द का मूल अर्थ मानव की अन्तर्निहित शक्तियों के प्रस्फुटन से लगाया जाता है। इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा शास्त्री एजूकेशन शब्द का सम्बन्ध लैटिन भाषा के 'एजूकेयर' शब्द से भी जोडते है। इस शब्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ बढाना, प्रगति करना, उठाना आदि है। इस प्रकार शिक्षा कोई वस्तु न होकर प्रक्रिया है जो कि व्यवहार में परिवर्तन करती है। संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से विकसित 'शिक्षा' शब्द का अर्थ भी सीखने सिखाने को प्रदर्शित करता है।

शिक्षा एक प्रकार की प्रक्रिया है जिसके द्वारा छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता है। यह प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो किसी समय प्रारम्भ हो जाय और फिर एक निश्चित समय पर समाप्त हो जाय। इस प्रकार शिक्षा एक अनवरत प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ बालक के जन्म काल में ही हो जाता है। जन्म से प्रारम्भ होकर शिक्षा मृत्युपर्यन्त चलती रहती है। इस प्रक्रिया मे कोई बाधा नहीं आती है। व्यक्ति जीवन के हर क्षण में कुछ न कुछ सीखता रहता है। भारतीय दर्शन मे आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। अत: भारतीय विचारको के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया इसी जीवन में समाप्त न होकर आगामी जीवन को संस्कारित करती है।[1] इस प्रकार शिक्षा का अर्थ व्यापक दृष्टि से करने पर व्यक्ति के समस्त अनुभव, जिन्हे वह अपने भ्रमण, विवाहोत्सव, सामाजिक संगठन, मेले तथा अन्य आयोजनों के अवसर पर प्राप्त करता है, शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। शिक्षा के इस व्यापक अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों है। किसी अवसर पर वह स्वयं सीखता है और कभी अन्य को सिखाता है।

संकुचित अर्थ में शिक्षा एक निश्चित स्थान, स्कूल, कालिज अथवा विश्व-विद्यालय में सम्पन्न होने वाली क्रिया है। प्रायः इसी प्रकार की विद्यालयी शिक्षा को आज शिक्षा माना जाता है।[2]

---

1. गीता शां०भा० (6-44) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०193।
2. Smith W.O.L., *Education* (1957) P. 12.

शिक्षा की परिभाषा

शिक्षा के वास्तविक अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण विचारणीय है। प्रत्येक देश के शिक्षा शास्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध मे कल्पना तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार विकसित हुई है। भारत में शिक्षकों, आचार्यों, उपदेशकों तथा शिक्षाविदों की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। वैदिक युगीन मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र, उपनिषद्वर्णित महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य, ब्रह्मसूत्र के प्रणेता बादरायण तथा उपनिषद् गीता-वेदान्त के महान् भाष्यकार आचार्य शंकर आदि जहाँ प्राचीनकाल के महान् विद्वान् शिक्षक है वहाँ आधुनिक युग के स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा महात्मा गांधी आदि उच्चकोटि के शिक्षाविद् है। इसी प्रकार पाश्चात्य जगत् में सुकरात, रूसो, फ्रोबेल, हरबार्ट, ड्यूवी, पेस्थालाजी तथा टी० पी० नन आदि के नाम शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य शंकर के शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण की विवेचना से पूर्व पाश्चात्य एव पौर्वात्य दृष्टिकोणों की मीमांसा करना अधिक उपयुक्त होगा। इससे आधुनिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-सिद्धान्त के मूल्यांकन करने में सहायता मिलेगी। अत: आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करने से पूर्व विभिन्न पाश्चात्य तथा भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों के मतों का विवेचन अपेक्षित है।

शिक्षा के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य जगत् में शैक्षिक विचारों का विकास यूनानी दार्शनिक सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के सिद्धान्तों से हुआ है। हमारे देश की भांति प्राचीनकाल मे यूनानी विचारक आत्मा को पूर्ण मानते थे। अत: सुकरात जिसे शिक्षा के क्षेत्र मे प्रश्नोत्तर विधि का जनक माना जाता है, का शिष्य प्लेटो शिक्षा द्वारा मनुष्य का नैतिक विकास कर उसे आत्मा की अनुभूति कराना चाहता था। उसके अनुसार शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को पूर्णता प्रदान करना है। प्लेटो का शिष्य अरस्तु आत्मा के ज्ञान से पूर्व मनुष्य के शारीरिक एव मानसिक विकास को आवश्यक समझता था जिससे वह अपना जीवन चला सके। अत: उसके अनुसार स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण ही शिक्षा है। आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं की स्थापना जीवन के सर्वोत्कृष्ट आदर्शों के रूप में हुई है। अत: प्रसिद्ध आदर्शवादी शिक्षा दार्शनिक एच० एच० हार्न के अनुसार "सत्य, सुन्दर तथा शिव जाति के आध्यात्मिक आदर्श है और इसीलिए शिक्षा का सर्वोच्च कार्य इन आवश्यक वास्तविकताओं से, जिनका जाति के इतिहास ने प्रकटीकरण किया है, बालक का समायोजन करना है।[1]" रस्क के अनुसार शिक्षा बालक को केवल भौतिक वाता-

---

1. Horne, H.H. *The Philosophy of Education*, Harper & Bros, New York, P. 102.

वरण में ही समायोजित नहीं करती है वरन् सभी प्रकार के परिवेश से समन्वय कराती है—"शिक्षा का प्रयोजन बालक को वास्तविकता की सभी अभिव्यक्तियों से समन्वय करने योग्य बनाना है केवल प्राकृतिक परिवेश से ही अपना अनुकूलन कराना नहीं है।[1]" इसी प्रकार इटली का प्रसिद्ध आदर्शवादी जैन्टाइल आत्मसाक्षात्कार को शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार करता हुआ इसको आध्यात्मिक होने की प्रक्रिया मानता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवादी विचारकों ने शिक्षा को आत्मसाक्षात्कार का साधन स्वीकार किया है।

प्रकृतिवादी विचारधारा मे बालक को महत्त्वपूर्ण माना गया है। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी विचारक रूसो के अनुसार शिक्षा अपना प्रयोजन, अपनी प्रक्रिया और अपने साधन पूर्णतया बालजीवन और बाल अनुभव के अन्तर्गत पाती है। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का कार्य सच्चरित्र नागरिक का निर्माण करना है। उनके अनुसार शिक्षा को ऐसे नागरिक का निर्माण करना चाहिए, जो विश्व में अपना मार्ग बनाने में समर्थ हो ओर साथ में सच्चरित्र हो। इसी प्रकार रास ने शिक्षा को बालक का स्वतन्त्र विकास मानते हुए कहा है—"उसकी शिक्षा उसकी रुचियों और प्रेरणाओं का मुक्त विकास है, एक शिक्षक के द्वारा उस पर किया हुआ कृत्रिम प्रयास नहीं है।[2]" इन प्रकृतिवादी परिभाषाओं के आधार पर बालक के मुक्त विकास को ही शिक्षा स्वीकार किया गया है।

पश्चिम के व्यवहारवादी दार्शनिकों के अनुसार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करती है। इस दृष्टिकोण के आधार पर ही टी० रेमन्ट की शिक्षा की परिभाषा उल्लेखनीय है—"शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य शैशवकाल से प्रौढ़ावस्था तक विकास करता है और जिसके द्वारा वह धीरे-धीरे अपने को आवश्यकतानुसार अपने प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण के अनुकूल बना लेता है।[3]"

अमेरिका का प्रसिद्ध शिक्षा दार्शनिक जानडीवी शिक्षा को व्यष्टि एवं समष्टि के सामन्जस्य का साधन मानता है। उसके विचार में "शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जिससे उसमें पर्यावरण पर नियन्त्रण रखने और अपनी सम्भावनाओं की पूर्ति करने की क्षमता आती है।[4]" इस प्रकार व्यवहारवादी विचार-

---

1. Rusk R.—*The Philosophical Bases of Education*, Unity. of London, Press, P. 169.
2. Ross, James–*Ground Work of Educational Theory*, George G. Harrap & Co. London, P. 94–95.
3. Raymount T.–*The Principles of Education*, Orient Logmans
4. Deway, John. *Democracy & Education* New York, The Macmillan Co.

धारा में शिक्षा को न केवल व्यक्ति-विकास का साधन स्वीकार किया गया है वरन् सामाजिक विकास इसका महत्त्वपूर्ण पहलू है।

मनोवैनिज्ञानिक दृष्टि से शिक्षा की परिभाषा कुछ दूसरे ही रूप में की गई है। मनोवैज्ञानिक मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के विकास एवं उदात्तीकरण (Sublimation) को ही शिक्षा मानते है। जर्मन शिक्षा शास्त्री पेस्टालाजी के अनुसार शिक्षा मनुष्य की समस्त जन्मजात शक्तियो का स्वाभाविक, समरस एवं प्रगतिशील विकास है। इसी प्रकार सोवियत रूस के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री अ० से० माकारेंको के अनुसार शिक्षा मनुष्य की व्यक्तिगत विशिष्टताओं का विकास है। उनका कहना है—"मेरी दृष्टि से शिक्षा का अभिप्राय है, मानवीय व्यक्तित्त्व का कार्यक्रम और मैं 'चरित्र' की धारणा में उन सभी गुणों को शामिल करता हूँ, जो व्यक्तित्त्व की विशिष्टता हैं।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा मानव-जीवन के विकास की अनवरत प्रक्रिया है। इस प्रकार पश्चिमी विद्वानों के अनुसार मनुष्य की शिक्षा जीवन भर चलती है किन्तु भारतीय विद्वानों के विचार में शिक्षा के अन्तर्गत आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा के कारण पश्चिमी विद्वान् शिक्षा की व्यापक परिभापा देने में असमर्थ रहे हैं। अतः शिक्षा सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण को यहाँ प्रस्तुत करना नितान्त वाछनीय है।

शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन में जीवन की समग्र कल्पना की गई है। व्यक्ति केवल मात्र शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक प्राणी नही है वरन् वह आध्यात्मिक प्राणी भी है।[2] अतः भारतीय दृष्टिकोण मे शिक्षा एक पवित्र वस्तु है जिसके द्वारा मानव इस लौकिक तथा पारलौकिक हित का सम्पादन करता है।[3] अर्वाचीन भारतीय शिक्षाशास्त्रियों ने भी शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष पर वल दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार—"जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को जीतकर विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[4] स्वामी विवेकानन्द व्यक्ति में निहित क्षमताओं के विकास

1. अ० से० माकारेंको—सोवियत स्कूली शिक्षा की समस्याएँ, प्रगति प्रकाशन, मास्को-21, जूवोवस्की बुलवार, पृ० स० 13।
2. डा० राधाकृष्णन्—'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार'—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पृ० 52।
3. केनोपनिषद् शां० भा० (2-4) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 88।
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, नवम समुल्लास, पृ० 219, वैदिक पुस्तकालय अजमेर।

को शिक्षा मानते हुए कहते है—"मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।[1] "शिक्षा मानवीय मस्तिष्क का अध्ययन है। इस तथ्य का उद्घाटन महायोगी अरविन्द की शिक्षा की परिभाषा में हुआ है—"शिशु किशोर तथा प्रौढ़ मानव-मस्तिष्क का अध्ययन शिक्षा का वास्तविक आधार है।"[2] महात्मा गाँधी ने मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है—"शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो बालक एवं मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वोत्कृष्ट रूपों को प्रस्फुटित कर दे।"[3] प्रो० हुमायूँकबीर शिक्षा को ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिससे व्यक्ति अपने अन्दर निहित क्षमताओं को विकसित करता है—"शिक्षा व्यक्ति में जो कुछ विद्यमान है, उसके प्रस्फुटन की आवश्यक प्रक्रिया है। यह उसकी गुप्त क्षमताओं का जब तक वे वास्तविकता नहीं हो जातीं, विकास करती है।"[4] आधुनिक युग में शांकर दर्शन के महान् विद्वान् स्वामी करपात्री जी के अनुसार अध्यापक द्वारा छात्र को ज्ञान का हृदयङ्गम कराना शिक्षा है। उनका कहना है—"किसी विषय के विशेषज्ञ द्वारा अपने वाग्व्यवहार अथवा आचरण द्वारा अपने विशेष ज्ञान-विज्ञान को श्रोता (छात्र) के अन्तःकरण में संक्रान्त करना शिक्षा है।"[5]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शिक्षा-शास्त्री शिक्षा को व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक विकास की प्रक्रिया मानते हैं। शिक्षा वस्तुतः ऐसा साधन है जो व्यक्ति तथा समाज की प्रगति एवं विकास को गति प्रदान करता है। आचार्य शंकर ने अपनी शिक्षा की कल्पना में उन सभी तत्वों का समावेश किया है जो आधुनिक पाश्चात्य तथा भारतीय शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों मे उपलब्ध होते हैं। उनकी अवतारणा भारतीय इतिहास के उन क्षणों में हुई जबकि समस्त राष्ट्र असमंजसपूर्ण स्थिति में था। इस सम्बन्ध मे द्वितीय अध्याय में शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन की ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमियों के प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ऐसे संघर्षपूर्ण समय में आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन का प्रणयन होने से उनकी शिक्षा की कल्पना में भले ही आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों

---

1. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 8।
2. Sri Aurobindo–*A system of National Education,* Arya Pubg. House, Calcutta, P. 1.
3. M. K. Gandhi, *Harizan*, 31–7–1937.
4. Kabir Humayun–*Indian Philosophy of Education,* Asia Publishing House, Bomboy, P. 183.
5. देखिये परिशिष्ट–1।

की भाँति निश्चित शब्दावली न हों किन्तु उनका शिक्षा के प्रति यथार्थ एवं स्पष्ट दृष्टिकोण है।

आचार्य शंकर का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण :

दर्शन, धर्म एवं अध्यात्म के क्षेत्र में भगवान् शंकराचार्य का कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि उन्होंने औपनिषद् दर्शन पर आधारित जिस अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की तथा जीवन भर जनसामान्य में घूम-घूमकर जिस आचार-मीमांसा को हृदयङ्गम कराया उससे शिक्षा-क्षेत्र में उनके असाधारण योगदान का पता चलता है। प्रायः उनके शैक्षिक योगदान की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता है। वस्तुतः उनकी महान् उपलब्धि का मूल्यांकन उनके शैक्षिक विचारों से ही हो सकता है। जीवन के अत्यन्त प्रारम्भिक काल (केवल आठ वर्ष की अल्पायु) में ही उन्हें शिक्षा के महत्त्व का पता चल गया था [1] अतः संन्यास लेकर वह गुरु की तलाश में उसी अल्पायु में चल दिये थे। थोड़े ही समय में अपने शैक्षिक कार्यों, धार्मिक प्रवचनों एवं आध्यात्मिक वार्तालापों में उन्होंने इतनी ख्याति अर्जित करली कि उनकी शैक्षिक मीमांसा ने शिक्षा जगत् को नूतन प्रकाश प्रदान किया। पश्चिम के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पेस्टालाजी 'पिता पेस्टालाजी' के नाम से विख्यात है और महात्मा गाँधी को 'राष्ट्रपिता' कहकर अभिहित किया जाता है[2] किन्तु आचार्य शंकर को 'जगद्गुरु' के रूपमे भारतीय समाज द्वारा अभिनन्दित किया जाना उनके महत्त्व को अत्यधिक बढा देता है। उनका यह अभिनन्दन उनके शैक्षिक मूल्यांकन का ही प्रतिफल है।

शांकर शिक्षा का मूलाधार अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। अद्वैत सिद्धान्त में ज्ञान का अत्यन्त महत्त्व है। वेदान्त की केन्द्रीय समस्या ब्रह्म की धारणा है। अतः ब्रह्मतत्व का अन्वेषण करना शांकर-शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण, आचार्य शंकर मोक्ष प्राप्ति को मनुष्य के जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य घोषित करते

---

1. अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्। षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥
   श्री बलदेव उपाध्याय—'श्री शंकराचार्य'—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० 336–37।
2. Patel, M.S.–*The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*, Navjivan Publishing, House, Ahmedabad, P. 10.

हैं ।[1] यह मोक्ष ज्ञानगम्य है और विद्या अनात्म विज्ञान को निवृत्त करती हुई उसकी निवृत्ति द्वारा स्वाभाविक अमृतत्व (मोक्ष) की हेतु बनती है ।[2]

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा व्यक्ति की ज्ञान-प्राप्ति का साधन है ।[3] और उसके अज्ञान की निवृत्ति का माध्यम है ।[4] यही उसके लिये मोक्ष-कारिका है ।[5]

शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में ज्ञान के स्वरूप की पर्याप्त विवेचना की है । शिक्षा की निश्चित परिभाषा पर पहुँचने से पूर्व उनकी ज्ञान-सम्बन्धी व्याख्या का विश्लेषण प्रसंगानुरूप है । ज्ञान का अर्थ है, जानना । ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना वेदान्त का सर्वाधिक अभीष्ट है । आचार्य शंकर का कथन है कि ब्रह्म परमात्मा को कहते है, वह जिससे जाना जाता है, वह ब्रह्मविद्या है ।[6] इस प्रकार शांकर सिद्धान्त में ज्ञान का तात्पर्य केवलमात्र भौतिक पदार्थों की जानकारी नहीं है वरन् ब्रह्म अथवा आत्मा को जानना ज्ञान है ।[7] इसलिये समस्त विभूतियों से सम्पन्न होने पर भी परमात्मा का बोध हुए बिना व्यक्ति अभय नहीं होता, जब तक कि वह ब्रह्म को नही जानता ।[8] शांकर शिक्षा दर्शन में ब्रह्म ज्ञान, आत्म ज्ञान ज्ञान, विद्या, ब्रह्म विद्या अथवा आत्म विद्या आदि समानार्थक शब्द हैं । इस दृष्टि से शिक्षा वह है जिससे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत ब्रह्म का ज्ञान होता है ।[9]

ज्ञान से न केवल अविद्या आदि दोषों का निराकरण होता है वरन् यह व्यक्ति के शोक-मोह आदि की निवृत्ति भी करता है । अतः शंकर के अनुसार जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल प्रदान करने वाला हो वह आद्य,

---

1. ब्रह्मसूत्र शा० भा० (1–1–1–1) गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी पृ० 29 ।
2. केनोपनिषद् शां० भा० (2–4) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 82 ।
3. केनोपनिषद् वही, पृ० सं० 88 ।
4. वही, पृ० 83 ।
5, छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (7–1) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 712 ।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1–4–9) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 241 ।
7. वही (1–4–7) पृष्ठ सं० 233–34 ।
8. वही (4–2–1) पृ० 859 ।
9. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–1–4–4), गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 49–50 ।

अन्त्य, अविच्छिन्न, विच्छिन्न कैसा ही हो, वही ज्ञान माना जाता है।[1] इससे स्पष्ट है कि ज्ञान व्यक्ति के अज्ञान आदि दोषों का निवारण करता है। अत: जिससे मनुष्य के अज्ञान, शोक, मोह तथा क्रोध आदि दोषों की निवृत्ति होती है वह शिक्षा है।[2]

शांकर दर्शन में ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध ही ज्ञान है।[3] अत: आचार्य शंकर का कथन है कि भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का चयन करे, नाना शुभकर्म करे अथवा देवताओं को भजे, तथापि जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता, तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर (अर्थात् सौ कल्प में) भी मुक्ति नहीं हो सकती।[4] इस प्रकार शांकर शिक्षा वह है जो आत्मा को परमात्मा और नर को नारायण बनाती है।[5] मानव समाज में व्याप्त नाना प्रकार की विषमताओं तथा विभिन्नताओं का शमनकर ऐक्य स्थापित करना आचार्य शंकर के अनुसार वास्तविक शिक्षा है।[6]

शंकराचार्य ज्ञान को स्वतन्त्र मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान तो प्रमाण जन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु बोधक होता है, इसलिये ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल वस्तु के ही अधीन है, विधि के अधीन नहीं और पुरुष के अधीन भी नहीं है।[7] इस प्रकार ज्ञान को आचार्य शंकर यथार्थ बोधक तथा वस्तुगत (Objective) मानते हैं। उनके अनुसार सदा एक रूप से रहने वाला जो पदार्थ है, वह यथार्थ है। लोक में तत्विषयक ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[8] अत: शिक्षा वही है जो व्यक्ति को यथार्थ एव वस्तुगत ज्ञान प्रदान करती है। इसी यथार्थ एवं वस्तुगत ज्ञान को सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त होने से आचार्य शंकर के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही वास्तविक शिक्षा है।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-10) गीता प्रेस, गोरखपुर पृ० 276।
2. श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा० (18-73) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 479।
3. श्री शंकराचार्य—विवेक चूडामणि (श्लोक 204) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 67।
4. वही, श्लोक–6, पृ० 9।
5. देखिये परिशिष्ट–4।
6. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ-संग्रह—सम्पादक-एच० आर० भगवत, पूना, पृ० 42।
7. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1--1-4-4) गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी पृ० 68।
8. ब्रह्मसूत्र (3-1-3-11) शां० भा०. वही, पृ० 357।

ज्ञान व्यक्ति के अन्दर निहित है। वह स्वभावतः आत्मबोध कराने में समर्थ होता है किन्तु बाह्य विषयों की आसक्ति आदि से व्यक्ति का आत्मतत्त्व कलुषित रहता है। यही कारण है कि मनुष्य सर्वदा समीपस्थ होने पर भी उस आत्मत्त्व का मल से ढके हुए दर्पण तथा चंचल जल के समान दर्शन नही कर पाता है। यहीं से शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। शिक्षा द्वारा जब व्यक्ति के इन्द्रिय एवं विषयजन्य रागादि दोषरूप मल दूर हो जाने पर दर्पण या जल आदि के समान चित्त प्रसन्न-स्वच्छ (शान्त) हो जाता है, तब उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।[1] इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य शिक्षा को केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन ही नही मानते है वरन् व्यक्ति के मनोगत ईर्ष्या, द्वेष तथा असक्ति आदि दोषों का अपनयन कर शिक्षा मनुष्य के मन को प्रसन्न, स्वच्छ तथा शान्त करती है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। वैचारिक दृष्टि से शाकर दर्शन में ज्ञान को मनुष्य में स्वभाव-सिद्ध माना गया है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। अतः मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह सब उसके अन्दर से ही प्रकट होता है। मनुष्य की आत्मा अनन्त ज्ञानस्वरूप है।[2] उसके ऊपर से आवरण का हटना ही ज्ञान है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार किया था, वह न तो सेव मे था (जिसे पतित होता हुआ देखकर न्यूटन को इस सिद्धान्त का आभास हुआ था) और न पृथ्वी की किसी केन्द्रस्थ वस्तु में, बल्कि वह तो न्यूटन के मन मे ही था।[3] अतः बाहरी संसार तो एक सुझाव, एक प्रेरकमात्र है जो हमें अपने मन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है।[4] इस प्रकार अज्ञान (माया) से आवृत तथा मनुष्य मे विद्यवान सत् वस्तु (ब्रह्म) का अनावरण ही शिक्षा है।[5]

शकराचार्य के अनुसार मानव जीवन मे ब्रह्मानुभूति का सर्वाधिक महत्त्व है।[6] अतः ब्रह्मानुभूति होने पर ही वास्तविक ज्ञान का विकास तथा अज्ञान का निराकरण होता है।[7] इस कारण आचार्य की ज्ञान सम्बन्धी यह परिभाषा आलोच्य है—"मै सम, शान्त और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मरूप ही हूँ, असत् स्वरूप देह मै नहीं हूँ— इसी को बुधजन ज्ञान कहते है। मै निर्विकार, निराकार, निर्मल और अविनाशी हूँ,

---

1. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (3-1-8) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 98।
2. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1-1) पर शाकर भाष्य द्रष्टव्य।
3. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 8।
4. वही।
5. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1) वाराणसी, पृ०4-12।
6. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 29।
7. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (?-2-5-12), वही, पृ० 625-26।

असत्स्वरूप देह मै नही हूँ–इसी को बुधजन ज्ञान कहते है । मै दुःखहीन, आभासहीन, विकल्पहीन और व्यापक हूँ, असत्स्वरूप देह मैं नहीं हूँ—इसी को बुधजन ज्ञान कहते है । मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, नित्यमुक्त और अच्युत हूँ. असत्स्वरूप देह मै नही हूँ—इसी को बुधजन ज्ञान कहते है । मै निर्मल, निश्चल, अनन्त, शुद्ध और अजर. अमर हूँ, असत्स्वरूप देह मै नही हूँ—इसी को बुधजन ज्ञान कहते हैं ।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी है ।[2] मन, · द्धि तथा शरीर आदि उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है ।[3] भ्रमवश वह स्वयं को मन, बुद्धि, तथा शरीर आदि मे सीमित, अशुद्ध, असत्, दुःखी तथा मरणशील आदि मानता है । वस्तुतः वह तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म है ।[4] यही उसका यथार्थ स्वरूप है । आचार्य शंकर के अनुसार इसी यथार्थ स्वरूप का अनुभव करना मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए ।[5] अतः शिक्षा मनुष्य को जहाँ उसके यथार्थ-स्वरूप (ब्रह्मत्व) की अनुभूति कराती है वहाँ मन, बुद्धि तथा शरीर आदि मे आत्मभाव की भ्रमपूर्ण कल्पना का निराकरण भी करती है ।[6]

शिक्षा-प्रक्रिया में शिक्षक का होना परमावश्यक है । बिना उसके शिक्षा की प्रक्रिया का संचालन नहीं हो सकता है । शिक्षक शिक्षा का यदि एक ध्रुव है तो दूसरा ध्रुव है शिक्षार्थी । शिक्षार्थी के बिना भी शिक्षा की प्रक्रिया सम्भव नही है। अतः ऐडम्स तथा रास शिक्षा को द्विध्रुवी प्रक्रिया (Bi-Polar-Process) मानते है । किन्तु प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षा शास्त्री जान ड्यूवी के अनुसार शिक्षक-शिक्षार्थी के अतिरिक्त पाठ्यक्रम शिक्षा का तीसरा महत्त्वपूर्ण ध्रुव है । इस प्रकार उनके अनुसार शिक्षा त्रिध्रुवी प्रक्रिया (Tri-PolarProcess) है । ड्यूवी की भाँति आचार्य शंकर भी शिक्षा के तीन ध्रुव-गुरू, शिष्य तथा शास्त्र (पाठ्यक्रम) स्वीकार करते है । उनके अनुसार शास्त्र पर आधारित गुरु एवं शिष्य मे सम्पन्न अन्तः क्रिया शिक्षा है । अतएव ज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य के ये विचार आलोचनीय हैं—"शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मा-अनात्मा और विद्या-अविद्या आदि का बोध (शिष्य) को होता है उसका नाम ज्ञान है । इसका जो विशेष रूप से अनुभव है वह विज्ञान है ।[7]"

---

1 श्री शंकराचार्य—अपरोक्षानुभूति (श्लोक 24-25-26-27-28) गीता प्रेस. गोरखपुर, पृ० 11-12 ।
2. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, पृ०30 ।
3. 'श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः' पूना, पृ० 15 ।
4. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 30 ।
5 ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 29 ।
6. माण्डूक्योपनिषद् शां०भा० (सम्बन्ध भाष्य) गीता प्रेस. गोरखपुर, पृ०22 ।
7. श्रीमद्भगवद्गीता (3-41) शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०104 ।

यहाँ यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा में आचार्य शंकर के अनुसार अनुभव, बोध की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत: शास्त्र (पुस्तकों) की मात्र जानकारी को वह ज्ञान कहते हैं और शास्त्र से समझे हुए भावों को वैसे ही (यथार्थ रूप में) अपने अन्त:करण में अनुभव करना उनके अनुसार विज्ञान है।[1] इस प्रकार आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षा की प्रक्रिया केवल गुरु-शिष्य से ही सम्पन्न नहीं होती है वरन् शास्त्र (पाठ्यक्रम) पाठ्यविषय का निर्धारण करता है और गुरु एवं छात्र की क्रियाओं को समुचित आधार प्रदान करता है। इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार शास्त्र (पाठ्यक्रम), गुरु एवं शिष्य के समुचित समन्वय से ही शिक्षा-प्रक्रिया का विकास होता है।

शिक्षा के सम्बन्ध में अब तक के विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर के अनुसार आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया ही शिक्षा है।[2] अत: उनकी शिक्षा का स्वरूप आध्यात्मिक है। इस प्रकार अध्यात्म से भिन्न कोई शिक्षा नहीं है।[3]

शिक्षा की प्रक्रिया मुक्तिपर्यन्त चलती है। मनुष्य का अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचानना उसकी वास्तविक शिक्षा है।[4] इसके लिये उसे गुरु की शरण में जाना होगा। गुरु शास्त्रानुसार उसे उपदेश देगा—तू वह (ब्रह्म) है[5] और शिष्य यह अनुभव करेगा—मैं ब्रह्म हूँ।[6] यह समस्त प्रक्रिया शिक्षा है।[7] अत: आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा की यह परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है—"शिक्षा एक मुक्तिपर्यन्त[8] चलने वाली आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य में निहित ब्रह्मभाव का जागरण होता है, उसे अपने यथार्थ स्वरूप का बोध होता है, जीवन जगत् के प्रति उसके व्यवहार तथा विचारों में निरन्तर परिवर्तन, परिमार्जन एवं संशोधन होता है और वह ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति के योग्य होकर सर्वत्र सम (ब्रह्म) दर्शन करने में समर्थ होता है।[9]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता (6-8) शां०भा०, वही, पृ० 177।
2. श्री शंकराचार्य—प्रश्नोत्तरी (श्लोक 11) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 12।
3. देखिये परिशिष्ट सं० 3।
4. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (2-4-5) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०552।
5 "तत्त्वमसि"—छान्दोग्योपनिषद् (6-8-16) पर शां०भा० द्रष्टव्य।
6. "अहम् ब्रह्मास्मि"—बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) पर शां० भा० द्रष्टव्य।
7. ब्रह्मसूत्र (1-3-5-19) पर शां०भा० द्रष्टव्य।
8. विद्या मोक्ष उपपद्यते। ब्रह्मसूत्र शां०भा० (3-2-6-29) गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ०635।
9. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां०भा० (1-11) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 126।

शिक्षा का महत्त्व एवं आवश्यकता

मानव जीवन में चिन्तन-मनन एवं विवेक का जितना महत्त्व है उतना अन्य किसी वस्तु का नहीं। प्रकृति ने मानव जीवन का निर्माण इस ढंग से किया है कि वह बहुत कुछ सीख सके। इस प्रकार सीखना मानव का स्वभाव है। अतः सीखने की प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। इस दृष्टि से मानव का यह अधिकार हो जाता है कि वह समुचित शिक्षा प्राप्त करे। भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री मौ० अब्बुल कलाम आजाद ने कहा था—"प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है जिससे वह अपनी योग्यताओं के विकास तथा पूर्णजीवन यापन के लिए समर्थ होगा।[1]" मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व समाज का है। अतः भोजन, वस्त्र तथा आवास आदि की भाँति शिक्षा मानव की मूलभूत आवश्यकता है। शिक्षाविद् जान वाइल्ड के शब्दों में "शिक्षा मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता तथा मूलभूत अधिकार दोनों है।[2]" यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति तथा समाज दोनों की दृष्टि से शिक्षा महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। बिना शिक्षा के समाज के सदस्य शिक्षित नहीं हो सकते है और बिना शिक्षित सदस्यों के समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता है। अतः जान वाइल्ड समाज का यह आवश्यक कर्त्तव्य मानते है कि उसमें उत्पन्न समस्त बालकों को उचित रूप में शिक्षित किया जाय।[3]

वस्तुतः मानव जीवन का प्रारम्भ ही शिक्षा से होता है। उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। अतः शिक्षा को इस दृष्टि से मानवीय आवश्यकता माना जाता है कि इसके द्वारा यथार्थ मानव का निर्माण होता है।[4] मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ है। उसकी कुछ शारीरिक, कुछ भोजन सम्बन्धी तथा कुछ आवास सबन्धी आवश्यकताएँ होती है। उसे भोजन, जल, वस्त्र आदि चाहिए। उसकी सामाजिक आवश्यकताएँ भी है। वह समाज मे सम्मान चाहता है। वह अपना जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करना चाहता है, एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का भी अनुभव वह करता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के अनेक साधन हो सकते है। अनेक ढंग, उसके भोजन के हो सकते हैं, अनेक प्रकार से वह वस्त्र पहन

---

1 Azad M.A Kalam—*The future of Education in India,* The Publication Divn. M. I & B. Govt. of India, P. 5.

2 Wild, John, *"Education & Human Society : A Realistic View,"* Chicago : University of Chicago Press, 1955, PP. 37-44.

3. Ibid PP. 37-41.

4. Butler J Donald—*Four Philosophies and their Practice in education and religion,* Harper & Row, Publishers New York, Evanstonard London P. 224.

सकता है, अनेक विधियों से सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह कर सकता है। इन सबके ज्ञान के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार व्यक्ति के प्रति समाज की अपेक्षाएँ होती हैं। इसकी पूर्ति हेतु समाज प्रयत्नशील रहता है। समाज की अपनी आवश्यकताएँ, परम्पराएँ एवं प्रथाएँ होती हैं। इन सबकी पूर्ति, संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए समाज को शिक्षा की आवश्यकता होती है। अतः समाज व्यक्ति को समुचित रूप से शिक्षित करने की व्यवस्था करता है जिससे समाज में संस्कृति, सभ्यता, धर्म तथा कला आदि का विकास होता है तथा मानव-जीवन को समुन्नत, सुसभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

भगवान् शंकराचार्य भारतीय दर्शन—क्षेत्र में ऐसे सर्वप्रथम दार्शनिक विचारक हैं जिन्होंने मोक्ष को ज्ञानमूलक घोषित कर ज्ञान की सर्वोच्चता को इन शब्दों में स्थापित किया है—"कोई व्यक्ति भले ही गंगा सागर की तीर्थयात्रा करे, उपवास का आचरण करे, अथवा दान करे किन्तु ज्ञान बिना वह सैकड़ों जन्मों में भी इन क्रियाओं से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।[1]" उनके अनुसार विद्याजन्य बल अपराजय होता है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसके विद्या बल में है। संसार में भी विद्याजनित बल ही दूसरे बलों का पराभव करता है, शरीर आदि का बल नहीं, जैसे—हाथी-घोड़े आदि के शारीरिक बल मनुष्य के विद्याजनित बल को नहीं दबा सकते।[2] मनुष्य का विद्या-बल अमृत (अमर) होता है क्योंकि विद्या का बाधक और कोई नहीं है। इसके विपरीत अविद्याजन्य बल नाशवान् होता है क्योंकि विद्या अविद्या को बाधित कर देती है।[3] अतः आचार्य व्यक्ति के लिए शिक्षा को महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मानते हैं। शिक्षा से मनुष्य को अमरत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है।[4] विद्या की श्रेष्ठता इस कारण भी है कि यह संसार में जितने सुन्दर पदार्थ हैं उन सब में सर्वाधिक सुन्दर है।[5] अतः विद्वान् पुरुष रूपहीन होने पर भी बहुत शोभा पाता है।[6] इस प्रकार शिक्षित व्यक्ति का समाज में सर्वाधिक महत्त्व स्पष्ट होता है क्योंकि उसको हर वस्तु का यथावत् बोध होता है और वह प्रत्येक कार्य को भली प्रकार सम्पादित करता है। इसलिए समाज में उसका शोभनीय स्थान होता है।

---

1. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः—सम्पादक–एच०आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 99।
2. केनोपनिषद् शां०भा० (2-4) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०86।
3. वही, पृ० 85।
4. केनोपनिषद् शां०भा० (2-4) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 88।
5. वही (3-14), पृ०118।
6. वही (3-12), पृ०118।

शांकर वेदान्त में शिक्षा मुक्ति का साधन होने से समाज तथा व्यक्ति के लिये उपादेय तथा वाँछनीय है। मुक्ति का तात्पर्य केवलमात्र व्यक्ति के कल्याण मे ही सीमित नहीं है वरन् समाज का हित भी इनमें निहित है। यही कारण है कि परम पुरुषार्थ (मुक्ति) के साधन रूप से महापुरुष शिक्षा को अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त करते है जिससे अन्य लोग शिक्षा के उपार्जन मे आदरपूर्वक प्रवृत्त हो।[1] अतः शिक्षा से आत्म विश्वास आता है और आत्मविश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग उठता है।[2]

शिक्षा का जीवन मे धन की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। शिक्षा का प्रकाश व्यक्ति मे तभी होता है जब उसके पाप कर्म क्षीण हो जाते है।[3] अतः दुष्कर्मों के क्षीण होने पर व्यक्ति सदाचारी बन जाता है जिससे समस्त समाज मे नैतिक मूल्यों का विकास होता है। इस प्रकार शिक्षा की आवश्यकता मनुष्य-निर्माण के लिए स्वतः प्रकट हो जाती है क्योंकि सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है। अतः स्वामी विवेकानन्द का मत है कि—"जिस अभ्यास (शिक्षा) से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम शिक्षा है।[4]" यही कारण है कि शिक्षा प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का आचरण विचार तथा व्यवहार सुसंस्कृत हो जाते है। उसका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हो जाता है।[5]

संस्कृत के एक श्लोक[6] में विद्वान् को सर्वत्र पूजनीय बताकर राजा की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। इससे शिक्षा राजशक्ति से उत्कृष्ट हो जाती है। वस्तुतः वह तो त्रिलोकी के राज्य से भी बढ़कर है।[7] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सुशासन के लिये शिक्षा की आवश्यकता है। आज का युग प्रजातन्त्र का है। अतः स्वस्थ नागरिकों का निर्माण आज की शिक्षा का उद्देश्य है। बर्टेण्ड रसेल शिक्षा तथा प्रजातन्त्र की अन्योन्याश्रितता का इस प्रकार प्रतिपादन करते है—"उस राष्ट्र में, जहाँ अधिकतर मनुष्य पढ़ नही सकते हैं, आधुनिक रूप में प्रजातन्त्र सर्वथा असम्भव हो जायेगा।[8] इस प्रकार शिक्षा से न केवल अच्छे व्यक्ति का निर्माण होता है। वरन्

---

1. मुण्डकोपनिषद् (1-1) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 8।
2. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 3।
3. तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा० (1-4-3) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 410।
4. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ०6।
5. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (1-9-2) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 119।
6. विद्वत्त्वं च नृपत्वं नैव तुल्यं कदाचन।
   स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥ विदुर नीति ॥
7. वही (8-7-1) पृ० 869।
8. Russell Bertrand—*Principles of Social Reconstruction*, George Allen & Unwin Ltd, London, P-49.

एक उन्नत राष्ट्र एवं सभ्य समाज की कल्पना भी शिक्षा द्वारा ही सम्भव हो सकती है। अतः "सच्ची शिक्षा वह है जो मनुष्य को शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक शक्तियों से उन्मुक्त करती है और सबके हित के लिये अपने साथियों के जीवन के सम्बन्ध में, स्वतन्त्र अभिकर्ता के रूप में, उसको अपने जीवन-निर्माण की सामर्थ्य प्रदान करती है।[1]

शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध

अभी शिक्षा के जिस महत्त्व तथा आवश्यकता का विवेचन किया गया है, उससे शिक्षा का जीवन से गहरा सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा के उद्देश्य, मूल्य तथा लक्ष्यों का निर्धारण जीवन की कल्पना में निहित है। अतः यह कहना उपयुक्त ही है कि शिक्षा अपने उद्देश्य, अपनी प्रक्रिया तथा अपने साधन समग्र रूप में बालक के जीवन एवं बालक के अनुभव में प्राप्त करती है। शिक्षा से व्यक्ति जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण का निर्माण करता है। जीवन की समस्याओं के समाधान का मार्ग शिक्षा ही प्रशस्त करती है। जीवन बड़ा संघर्षमय होता है। समुचित शिक्षा-दीक्षा से व्यक्ति अपने जीवन को सफल बनाता है। संस्कृत-साहित्य में मानव-जीवन के सन्दर्भ में विद्या की जिस प्रकार से प्रशंसा की गई है, उससे शिक्षा का जीवन पर प्रभाव स्पष्ट हो जाता है—"विद्या मानव बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य का सिन्चन करती है, सम्मान बढाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है दिशाओं मे कीर्ति फैलाती है, कल्पवृक्ष के समान विद्या क्या-क्या नहीं करती ?[2]"

शिक्षा प्रारम्भ से ही जीवन पर प्रभाव डालती है। बालक असहाय अवस्था में उत्पन्न होता है। उसकी यह असहाय अवस्था उसकी शिक्षा की भूमिका तैयार करती है। बाल्यकाल, शैशवकाल, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था—ये सभी मनुष्य की विकासावस्थाएँ हैं जिनकी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं का विकास शिक्षा द्वारा करता है। एच०एच० हार्न शिक्षा को जीवन के साथ घनिष्टतापूर्वक संपृक्त मानकर कहते है—"शिक्षा उच्च वास्तविकताओं तथा अस्तित्व के अर्थो के प्रति जीवन का जागरण

---

1. Asha Devi Aryanayakem, *The Future of Education in India*, the publications Divn., M.I & B. Govt. of India, P. 78.
2. जाड्यं धियो हरति सिन्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
किं किं न साध्यति कल्पलतेव विद्या॥ (भर्तृहरि—नीतिशतक)

है।[1]" वस्तुतः शिक्षा जीवन का मूलाधार ही नहीं वरन् शिक्षा ही जीवन है और जीवन ही शिक्षा है। दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। जीवन की प्रेरणा शिक्षा की संचालिका है और शिक्षा का निर्देशन जीवन का नेतृत्व है। महात्मा गांधी की शिक्षा की कल्पना में भी मानव चरित्र-निर्माण को महत्त्व दिया गया है। उनका यह कथन शिक्षा और जीवन की घनिष्टता का परिचायक है—"समस्त ज्ञान (शिक्षा) का उद्देश्य चरित्र का निर्माण होना चाहिए।[2]" इसी प्रकार विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार, सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमें केवल सूचनाएँ प्रदान नहीं करती है बल्कि समस्त अस्तित्व के साथ जीवन का सामञ्जस्य स्थापित करती है।

आचार्य शंकर जीवन और शिक्षा को एक रूप मानते है। उनके अनुसार जीवन का वास्तविक स्वरूप आत्मा है और आत्मा ब्रह्म होने से सच्चिदानन्द स्वरूप है।[3] ज्ञान जीवन का सारभूत तत्त्व है। अतः शिक्षा और जीवन में वस्तुतः पार्थक्य न होकर अभेद है।[4] ज्ञान व्यक्ति के अज्ञान का निराकरण कर उसे यथार्थ स्वरूप का बोध कराता है। इस प्रकार शिक्षित होने पर व्यक्ति के जीवन में जिस सामर्थ्य, बल तथा शक्ति का विकास होता है उसे आचार्य शंकर ने अविनाशी कहा है।[5] विद्या बल से सम्पन्न व्यक्ति जीवन में पशुबल के सम्मुख अपराजित रहता है।[6] आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को अमरत्व की प्राप्ति कराती है।[7] स्वाधीनता व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में सर्वाधिक स्पृह्या की वस्तु है। इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य में स्वाभाविक इच्छा तथा तत्परता होती है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए शांकर वेदान्त में जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति को निर्धारित किया गया है।[8] शंकर के अनुसार जीवन की अवतारणा केवलमात्र भौतिक सुख-समृद्धि का भोग भोगने के लिए ही नही हुई है वरन् मानव जीवन ज्ञानार्जन के लिए है।[9]

---

1. Horne, H.H.—'*Complete living as the goal of education.*' P. 392.
2. Gandhi, M.K to the Student, *Navajivan* P. 107.
3. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1-1) पर शां०भा० द्रष्टव्य।
4. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि (श्लोक 204) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 67।
5. केनोपनिषद् शां०भा० (2-4) गीता प्रेस, पृ० 85।
6. केनोपनिषद् (2-4) शां० भा०, वही, पृ०86।
7. केनोपनिषद् शां० भा० (2-4), वही, पृ० 88।
8. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 29।
9. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (1-4-7) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 234।

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा व्यक्ति के जीवन में आमूल परिवर्तन करती है। व्यक्ति के जीवन में स्वच्छता, निष्पापता, निष्कामता तथा निर्मलता आदि का सम्पादन शिक्षा के द्वारा होता है। शंकर शिक्षा के प्रभाव को जीवन में अपरिहार्य स्वीकार करते हुए कहते है—"ब्रह्मज्ञान के पश्चात् (व्यक्ति) ब्रह्मानन्द का अनुभव कर आत्मरति और आत्मतृप्त हो अपने आत्मा में ही आन्तरिक सुख, रमण एवं प्रकाश का अनुभव करता हुआ आत्मक्रीडा, आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होकर इसी लोक में स्वाराज्य अर्थात् अपनी सार्वभौम महिमा में अमृत रूप से स्थित हो जाता है। वह बाह्य विषयों को त्याग कर मन, वाणी और शरीर से होने वाले सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त कर्मों को ब्रह्मार्पण करके अनुष्ठान करता हुआ शुद्ध चित्त और योगारुढ होकर शमादि साधनों से सम्पन्न हो जाता है।[1]" इस प्रकार शिक्षा का जीवन पर व्यापक प्रभाव होता है और जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता चला जाता है। अत. ब्रह्मज्ञान (शिक्षा) बड़ा पवित्र और उत्तम भी है, यह सम्पूर्ण पवित्र करने वालों को पवित्र करने वाला सबसे उत्कृष्ट है।[2]

सामाजिक जीवन पर शिक्षा के प्रभाव को इस दृष्टि से आचार्य शकर स्वीकार करते हैं कि श्रेष्ठ शिक्षा से श्रेष्ठ व्यक्ति का निर्माण होता है और श्रेष्ठ व्यक्ति श्रेष्ठ समाज का जनक होता है। इसीलिए सभा (समाज) में अच्छा विद्वान् शोभा पाता है। उत्तम विद्या मनुष्य को माता के समान सुख देती है। विद्या का समाज में प्रसार करने से व्यक्तियों को सुशिक्षा मिलती है।[3] वस्तुत: शांकर शिक्षा का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति निर्माण पर बल देना और श्रेष्ठ समाज का निर्माण करना है। इस प्रकार आचार्य शंकर जीवन तथा शिक्षा को परस्पर अन्योन्याश्रित मानते हैं और श्रेष्ठ जीवन को सुशिक्षा का फल स्वीकार करते है।[4]

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा एक व्यापक प्रत्यय है और ज्ञान अखण्ड तथा एकात्मक[5] है किन्तु शिक्षा-शास्त्रियों ने विभिन्न दृष्टियों से शिक्षा के विविध रूपों का निरुपण किया है। हम देखते हैं कि विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा के अतिरिक्त समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन के द्वारा प्राप्त शिक्षा सम्मिलित है। साधारण व्यक्ति शिक्षा पाने का अर्थ विद्यालयों में दी गई शिक्षा से लेता है। स्पष्टत: शिक्षा की व्यवस्था केवलमात्र विद्यालय में ही नहीं होती है वरन् अन्य साधनों द्वारा भी

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां०भा० (1-11) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 126।
2. श्रीमद्भगवद्गीता शां०भा० (9-2) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 227।
3. श्री शंकराचार्य-प्रश्नोत्तरी (श्लोक 25,) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०22।
4. छान्दोग्योपनिषद् (1-9-2) शां०भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०119।
5. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (3-3-1-4) गोविन्दमठ, ढेढीनीम, वाराणसी, पृ०653।

शिक्षा का प्रवर्तन होता है। आधुनिक युग में शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के अनेक प्रकारों में अन्तर किया है। आचार्य शंकर भी शिक्षा के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन करते है। किन्तु उनका प्रतिपादन आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों की मान्यताओं से भिन्न प्रकार का है। अत: आधुनिक सन्दर्भ में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के विविध रूपों की विवेचना करना यहाँ प्रसङ्गानुकूल है। आधुनिक युग में शिक्षा के प्रचलित मुख्य प्रकारो का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(1) सामान्य शिक्षा तथा विशिष्ट शिक्षा (General Education and Specific Education):

सामान्य शिक्षा—जो शिक्षा मनुष्य को रहन-सहन, खान-पान, बोलचाल आदि सामाजिक गुणो में निपुणकर उसे सामान्य जीवन के लिए तैयार करती है, वह सामान्य शिक्षा होती हैं। कुछ लोग इसे उदार शिक्षा भी (Liberal Education) कहते हैं। यह शिक्षा मनुष्य का समाजीकरण कर उसे सभ्य, सुसंस्कृत तथा धार्मिक बनाती है और इस प्रकार व्यक्ति समाज का श्रेष्ठ सदस्य बनता है। आचार्य शंकर[1] ज्ञान-प्राप्ति मे सभी आश्रम वालों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ का अधिकार स्वीकार कर सामान्य शिक्षा की व्यवस्था पर बल देते हैं। जन सामान्य को वेदान्त की शिक्षा देने के लिए उन्होंने संन्यासियों की व्यवस्था की थी और संन्यासियों के प्रशिक्षण के लिए देश के चारों कोनों में चारपीठ स्थापित किए थे। उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित सामान्य धर्म की शिक्षा सामान्य शिक्षा का ही रूप है।

विशिष्ट शिक्षा—किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर दी जाने वाली शिक्षा विशिष्ट शिक्षा होती है। इसके द्वारा मनुष्य को एक निश्चित व्यवसाय अथवा कार्य जैसे—बढ़ई-गिरी, लौहारगिरी, कताई, बुनाई, रगाई, अध्यापन तथा वकालत आदि के लिये तैयार किया जाता है। व्यवसाय की कुशलता का प्रशिक्षण दिये जाने के कारण इसको व्यावसायिक शिक्षा (Vocational Education) भी कहा जाता है। आचार्य शंकर ने विशेष धर्म पर आधारित जिस वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा का प्रतिपादन किया है, उससे उनके अनुसार विशिष्ट शिक्षा का पता चलता है। इसी विशिष्ट शिक्षा द्वारा आचार्य शंकर ने अपने जीवनकाल में जिन संन्यासियों का निर्माण किया था उनकी स्वस्थ परम्परा अद्यावधि चली आ रही है। इसी प्रकार उनके चार प्रधान शिष्य-सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य, पद्मपादाचार्य तथा तोटकाचार्य उनकी विशिष्ट शिक्षा द्वारा तैयार किए गये थे जिन्हे स्वामी

---

1. मुण्डकोपनिषद् शा० भा० (1–1) सम्बन्ध भाष्यम्, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 9।

शंकराचार्य ने अपने पीठों के अध्यक्ष बनाकर उस अक्षुण्ण गुरु-शिष्य परम्परा का प्रवर्तन किया था जो विश्व-शिक्षा के इतिहास में अतुलनीय है।

(2) **औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा** (Formal & Informal Education) :

औपचारिक शिक्षा--कोई भी शिक्षा जो निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर उनकी प्राप्ति के लिए सुनियोजित प्रक्रिया द्वारा व्यक्तियों को दी जाती है. औपचारिक शिक्षा कहलाती है। आजकल विशेषकर विद्यालयी शिक्षा ही इस कोटि मे आती है। आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन में उपर्युक्त प्रकार की औपचारिक शिक्षा की उपलब्धि इस दृष्टि से होती है कि उनके अनुसार शिक्षा के निश्चित उद्देश्य-मोक्ष प्राप्ति आदि हैं और इसके लिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में सुनियोजित प्रक्रियाओं एवं योजनाओं का सांगोपांग विवेचन किया है। उनके अनुसार गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य का पालन कर वेदादि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा है। यह आधुनिक कालीन औपचारिक शिक्षा की भाँति शिक्षा की व्यवस्था है।

अनौपचारिक शिक्षा—इस प्रकार की शिक्षा में पूर्व योजना का अभाव होता है। इसमें वालक समाज में रहकर अपने बड़ों का अनुकरण करके और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वयं अनुभव प्राप्त करके शिक्षा प्राप्त करता है। इस प्रकार की शिक्षा में जीवन का प्रयोजन पहले से ही निश्चित नहीं होता है अनौपचारिक शिक्षा का पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियाँ आदि कुछ भी निश्चित नहीं होते है किन्तु शांकर शिक्षा में उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम (वेदशास्त्र आदि के निश्चित होने से उनकी शिक्षा का रूप औपचारिक ही है अनौपचारिक नही। आचार्य शंकर बालक को केवल सामाजिक पर्यावरण में शिक्षा प्राप्त करने के पक्षपाती नहीं है। बालक को शिक्षक के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करनी होती है।[1] शकराचार्य की शिक्षा व्यवस्था में उद्देश्य, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधियाँ आदि सभी निश्चित है और इस प्रकार अनौपचारिक शिक्षा (Informal Edu.) का रूप उनके शिक्षा-दर्शन में नहीं मिलता है किन्तु गुरु से भली-भाँति शिक्षित होकर शिष्य को तीर्थाटन आदि से जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे अनौपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार वह शिक्षा के लिए किसी काल विशेष अथवा निमित्त की आवश्यकता नहीं मानते हैं।[2] अतः इस दृष्टि से शिक्षा का रूप अनौपचारिक हो जाता है।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (4-9-3) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-1) सम्बन्ध भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 9–10।

(3) **प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शिक्षा** (Direct & Indirect Education) :

प्रत्यक्ष शिक्षा—शिक्षा की प्रक्रिया शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य चलती है। जब अध्यापक अपने ज्ञान, आचरण, व्यवहार तथा विचारों से शिष्य को प्रभावित करता है तो यह बालक की शिक्षा प्रत्यक्ष होती है। यह शिक्षा का औपचारिक रूप ही है। शांकर शिक्षा में गुरु की अनिवार्यता होने से शिष्य पर उसके ज्ञान, आचरण, व्यवहार तथा विचारो का प्रभाव पड़ता है। अत: आचार्य शंकर के अनुसार आचार्य से प्राप्त हुई शिक्षा ही उत्कृष्टता को प्राप्त होती है।[1] इस प्रकार प्रत्यक्ष शिक्षा को शांकर शिक्षा-दर्शन में स्वीकार किया गया है।

अप्रत्यक्ष शिक्षा—यह शिक्षा परोक्ष रूप से प्राप्त होती है। प्राय: अन्य साधनों से इसको प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार जब अध्यापक अथवा समाज के अन्य लोग बच्चे को प्रभावित करने की दृष्टि से न तो कोई ज्ञान की चर्चा करते है और न ही आचरण की, परन्तु उनके आचरण एवं विचारों से बच्चे जाने-अनजाने स्वयं सीखते हैं तब उनका सीखना अप्रत्यक्ष शिक्षा कही आती है। यह एक प्रकार से अनौपचारिक शिक्षा का ही दूसरा नाम है। शांकर शिक्षा-दर्शन में अप्रत्यक्ष शिक्षा इस रूप में मिलती है जब शिष्य गुरु के आचार-विचार तथा ज्ञान-ध्यान आदि से स्वयं सीखता है। अत: आचार्य शंकर की मान्यता है कि आचार्यवान् पुरुष ही सद्‌रूप ब्रह्म को जानता है।[2]

(4) **वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षा** (Individual and Collective Education) :

वैयक्तिक शिक्षा—इस शिक्षा मे अध्यापक एक समय मे केवल एक ही छात्र को पढ़ाता है और उस छात्र की रुचि, अभिरुचि, योग्यता एवं आवश्यकताओं बातों का विशेष ध्यान रखता है। आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन में वैयक्तिक शिक्षा के बारे में स्पष्ट संकेत नही मिलते है किन्तु इतना अवश्य है कि आचार्य ने छात्रों की रुचि-विभिन्नता तथा कुशलता के भेद को स्वीकार कर उनके अनुसार शिक्षा व्यवस्था पर बल दिया है।[3]

सामूहिक शिक्षा—वैयक्तिक शिक्षा के ठीक विपरीत सामूहिक शिक्षा होती है। इसमे एक अध्यापक एक समय में अनेक छात्रों को एक साथ पढाता है। इस प्रकार की शिक्षा का रूप कक्षा-शिक्षण में देखा जा सकता है। सामूहिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी शांकर शिक्षा दर्शन में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते है। आचार्य ने

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (4-9-3) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. छान्दोग्योपनिषद् (6-14-2) पर शां० भा० दृष्टव्य।
3. बृहदारण्यकोपनिषद् (2-1-20) तथा (4-4-2) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।

भी ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि एक ही छात्र को एक समय पढ़ाया जाय अथवा बहुत से छात्रों को किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर वैयक्तिक शिक्षा की अपेक्षा सामूहिक शिक्षा को अधिक महत्त्व देते हैं। वह स्वयं अपने चारों शिष्यों को एक साथ बैठाकर अध्यापन किया करते थे।[1]

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा का वर्गीकरण :

आधुनिक शिक्षा शास्त्रियो की भाँति जगद्गुरु शंकराचार्य ने शिक्षा को वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है—पर और अपर।[2] मुण्डकोपनिषद् में इन्हीं को पराविद्या तथा अपराविद्या कहा गया हैं। इस आधार पर आचार्य के मत में शिक्षा दो प्रकार की है[3]—परा (आध्यात्मिक) तथा अपरा (भौतिक)। इन दोनों का संक्षेप में विवेचन करना वांछनीय है।

1. परा (आध्यात्मिक) शिक्षा—यह शिक्षा परमात्मा की विद्या से सम्बन्धित है।[4] उपनिषदों द्वारा जिस अक्षर (ब्रह्म) का बोध होता है, उस ब्रह्म का ज्ञान पराविद्या (शिक्षा) है।[5] पराविद्या से अक्षर (ब्रह्म) का बोध होने से वह मुक्ति का साधन है। परा (आध्यात्मिक) शिक्षा से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होता है।[6] अत: शांकर दर्शन में परा (आध्यात्मिक) शिक्षा से प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक माना जाता है। इस प्रकार पराविद्या को जीवन का सर्वस्व माना जाता है। वेदान्त शिक्षा का समस्त प्रयास इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए है। इसी को सम्यग्ज्ञान भी कहा जाता है क्योंकि एकत्व सम्यग्ज्ञान से दृष्ट (प्राप्त) है।[7] इसी को शंकराचार्य ने ब्रह्मविद्या भी कहा है क्योंकि इसी से सर्वविद्यावेद्य (ब्रह्म) का ज्ञान होता है।[8] इस प्रकार परा शिक्षा में विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान होता है जिसके द्वारा व्यक्ति परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० 183।
2. प्रश्नोपनिषद् शां० भा० (प्रश्न 6) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 116।
3. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-1-4) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 16।
4. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1=1-4) वही।
5. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-1-5) वही, पृ० 19।
6. श्री शंकराचार्य-विवेक चूडामणि (श्लोक–204) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 67।
7. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-2-2-8) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 158।
8. मुण्डकोपनिषद् (1=1-1) शां० भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 12।

2. अपरा (भौतिक) शिक्षा—इसके अन्तर्गत धर्म तथा अधर्म के साधन एवं उनके फल से सम्बन्ध रखने वाली विद्या आती है।[1] अपरा विद्या का सम्बन्ध भौतिक जीवन से होने के कारण ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार-वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाग अपरा विद्या कहे जाते हैं।[2] अपरा विद्या का विषय संसार है जो कर्त्ता, करण आदि साधनों से होने वाले कर्म और उसके फलस्वरूप भेदवाला अनादि, अनन्त और नदी के प्रवाह के समान अविच्छिन्न सम्बन्ध वाला है तथा दुःख रूप होने के कारण प्रत्येक देहधारी के लिए सर्वथा त्याज्य है किन्तु इस संसार का उपशम रूप मोक्ष पराविद्या का विषय है, वह अनादि, अनन्त, अजर, अमर, अमृत, अभय, शुद्ध, प्रसन्न स्वरूप में स्थित रूप तथा परमानन्द एवं अद्वितीय है।[3]

अपरा विद्या वस्तुतः अविद्या होने से निराकृत है।[4] अतः अपराविद्या का विषय कर्म फलरूप सत्य तो है किन्तु आपेक्षिक है जबकि पराविद्या का विषय परमार्थ-सत्स्वरूप होने के कारण निरपेक्ष सत्य है। वह यह विद्या-विषयक सत्य ही यथार्थ सत्य है, इससे अतिरिक्त अविद्या का विषय होने के कारण मिथ्या है।[5] इस प्रकार शांकर शिक्षा दर्शन में पराविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) ही उपादेय तथा ग्राह्य है क्योंकि इसी से जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति होती है।[6] अपरा-विद्या (भौतिक शिक्षा) सांसारिक विषयों से सम्बद्ध होने से अविद्या की श्रेणी में आती है। अतः शांकर वेदान्त की समस्त शैक्षिक प्रक्रियाएँ पराविद्या के लिए ही निर्धारित की गई हैं। यही वह विद्या है जो जीवन में यथार्थ तत्व का साक्षात्कार कराती है और इसके विपरीत अपराविद्या व्यक्ति में निहित ब्रह्मत्व का बोध न कराने से त्याज्य तथा अनुपादेय है।

आचार्य शंकर की समस्त शैक्षिक मीमांसा के सारभूत बिन्दु अधोलिखित हैं—

1. शिक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

---

1. मुण्डकोपनिषद् (1-1-4) शां० भा०, वही, पृ० 16।
2. मुण्डकोपनिषद् शां० भा०, (1-1-4) वही, पृ० 17।
3. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-2-0) वही, पृ० 28।
4. मुण्डकोपनिषद् (1-1-4) शां० भा० वही, पृ० 17।
5. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (2-1-1) वही, पृ० 48।
6. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण-ग्रन्थ—संग्रहः, सम्पादक—एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 13।

2. शिक्षा आध्यात्मिक, धार्मिक एवं पवित्र प्रक्रिया है।
3. यह मोक्ष पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।
4. शिक्षा केवलमात्र भौतिक पदार्थों की जानकारी नहीं है वरन् ब्रह्मात्मा के ऐक्य का बोध है।
5. शिक्षा मनुष्य के अज्ञान, शोक, मोह तथा क्रोध आदि दोषों का निवारण करती है।
6. यथार्थ एवं वस्तुगत ज्ञान को ही आचार्य शंकर शिक्षा मानते हैं।
7. शिक्षा व्यक्ति में निहित ब्रह्म भाव का जागरण है।
8. अज्ञान (माया) से आवृत तथा मनुष्य में विद्यमान सत् वस्तु (ब्रह्म) का अनावरण शिक्षा है।
9. ज्ञान के अनुभवजन्य होने से ब्रह्मानुभूति शिक्षा है।
10. शिक्षक, शिक्षार्थी तथा पाठ्यक्रम शिक्षा के तीन प्रमुख अंग हैं।
11. शिक्षा व्यक्ति के विकास के लिए महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है।
12. व्यक्ति तथा समाज के सब प्रकार के हित-सम्पादन का आधार होने से शिक्षा का महत्व सर्वाधिक है।
13. शिक्षा और जीवन अन्योन्याश्रित है।
14. जीवन केवलमात्र भौतिक सुखसमृद्धि के लिए नहीं है वरन् शिक्षा प्राप्ति के लिए है।
15. शिक्षा से व्यक्ति का जीवन आत्मनिष्ठ, विषय भोगों से अलिप्त तथा शमदमादि साधन सम्पन्न बनता है।
16. शिक्षा श्रेष्ठ व्यक्तियों का निर्माण कर श्रेष्ठ समाज की सृजना में योगदान करती है।
17. शांकर शिक्षा का रूप औपचारिक अधिक है अपेक्षाकृत अनौपचारिक शिक्षा के।
18. सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा का रूप शंकराचार्य को स्वीकार्य है।
19. अपराविद्या (भौतिक शिक्षा) की अपेक्षा पराविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) को शांकर शिक्षा-दर्शन में अधिक महत्त्व दिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य एवं मूल्य

कस्तूरीघनसार सौरभपरीरम्भप्रियंभावुका
स्तापोन्मेषमुषो निशाकरकराहंकारकूलंकषाः ।
द्राक्षामाक्षिकशर्करामधुरिमग्रामाविसंवादिनो
व्याहारा मुनिशेखरस्य न कथंकारं मुदं कुर्वते ।।[1]

प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिस्ततः आत्यन्तिकः संसाराभाव इति ।[2]

Truth, beauty and goodness are the apiritual ideals of race, and therefore the supreme task of education is the adjustment of the child to "these essential realities that the history of the race has disclosed."[3]

विगत अध्याय में शिक्षा और जीवन के घनिष्टतम सम्बन्धों की विवेचना से यह स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण मानव-जीवन से होता

---

1. श्री शकर-दिग्विजय (माधवकृत 4-79), श्री श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार, सं० 2000, पृ० 116 ।
   आचार्य शंकर के वचन कस्तूरी और कपूर की सुगन्ध के आलिङ्गन के समान हृदय को आनन्दित करने वाले हैं, तीनों तापों के आविर्भाव को दूर करने वाले हैं, चन्द्रमा की किरणो के ताप को दूर करने के अहंकार को नितान्त दूर करने वाले है तथा अंगूर, मधु और चीनी के समान मधुरिमा सम्पन्न हैं। ये किसके हृदय में आनन्द उत्पन्न नहीं करते ?
2. तैत्तिरीयोपनिषद् शां० भा० (2-1) गीता प्रेम, गोरखपुर, सं० 2025, पृ० 96 ।
   इस ब्रह्मविद्या का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति है, उससे संसार का आत्यन्तिक अभाव होता है ।
3. Horne, H.H—*The Philosophy of Education,* Revised Edition, Harper & Bros. New York, P. 102.
   सत्यं शिवं तथा सुन्दरं जाति के आध्यात्मिक आदर्श है, अतः शिक्षा का सर्वोच्च कार्य बालक का इन आवश्यक वास्तविकताओं से. जिन्हें जाति के इतिहास ने प्रकट किया है. समायोजन करना है ।

है। दूसरे शब्दों में—हम व्यक्ति के जीवन को जैसा बनाना चाहते है उसी के अनुसार शिक्षा के लक्ष्य निर्धारित करते हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् स्वामी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक कहा है—"हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है जो जीवन-निर्माण, 'मनुष्य-निर्माण' तथा चरित्र-निर्माण मे सहायक हों।[1] इस प्रकार शिक्षा के लक्ष्य मानव-प्रकृति पर आधारित हैं। अत: शिक्षा मानव-प्रकृति का विकास है। मनुष्य के विकास की समस्त सम्भावनाओं की पूर्ति शिक्षा में होती है। इसीलिए प्रसिद्ध आदर्शवादी शिक्षा दार्शनिक हार्न का यह कथन उपयुक्त ही है—,'शिक्षा उच्च वास्तविकताओं तथा अस्तित्व के अर्थों के प्रति जीवन का जागरण है।"[2] वस्तुतः शिक्षा तथा जीवन भिन्न नहीं है। दोनों अन्योन्याश्रित है। अत: शिक्षा को स्वयं मे लक्ष्य नहीं माना जाता है बल्कि यह लक्ष्य प्राप्ति का केवल मात्र साधन है।[3] इस प्रकार शिक्षा की कल्पना जीवन के अनुरूप होती है और जैसी शिक्षा की प्रकृति होती है वैसे ही उसके उद्देश्य हो जाते है।[4]

अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये मनुष्य को प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करना पडता है और इसके लिये उसे शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों तथा सामर्थ्यों की आवश्यकता पडती है। अस्तु, केवल सभ्य समाज मे ही नहीं बल्कि आदिम समाजों मे भी बालक-बालिकाओं के शरीर को स्वस्थ रखने की शिक्षा दी जाती थी। यही नही बल्कि जो मानव समाज जिस प्रकार के विशेष प्राकृतिक परिवेश मे रहता है उससे उसका एक विशिष्ट प्रकार का जीवन-दर्शन विकसित हो जाता है।[5] उसके अनुरूप नयी पीढ़ी को तरह-तरह की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार समुद्र के किनारे रहने वाले लोगों और जंगलों मे रहने वाली जनजातियों की शिक्षा के लक्ष्यों में स्पष्ट अन्तर देखा जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसके द्वारा स्वीकृत शिक्षा का लक्ष्य, उसको सामाजिक क्षेत्र में पूर्ण मानव बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है।[6] आज शिक्षा का क्षेत्र व्यापक हो गया

---

1. स्वामी विवेकान्द-शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 5।
2. Horne, H. H., *Complete living as the goal of education*, P. 392
3. Mookerji, R K —*Ancient Indian Education*, S. L. Jain, M L. Banarsi Dass, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi—6. P. 88.
4. देखिये परिशिष्ट 1.
5. G. W. Cunningham—*Problems of Philosophy*, Henry Halt & Company, New York, P. 5.
6 स्वामी विवेकानन्द-शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 7।

है और सामाजिक जीवन में राजनैतिक व्यवस्थाओं को स्वीकार कर लिया गया है। अतएव आधुनिक युग मे नागरिकता का विकास शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य बन गया है।[1] इसी कारण बर्टेण्ड रसेल के अनुसार शिक्षा के अभाव मे प्रजातन्त्रीय प्रणाली का विकास सन्देहास्पद है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन और आदर्शों मे शिक्षा के लक्ष्यों तथा मूल्यों पर प्रभाव पडता है। आधुनिक काल मे, समार मे, मामाजिक जीवन मे, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के जनतन्त्रीय मूल्यो का प्रसार हुआ है।[3] वर्तमान सामाजिक भावना जाति, प्रजाति, वर्ग, लिंग, धर्म, सम्प्रदाय आदि किसी भी आधार पर मानव प्रणालियों में भेदभाव करने के विरुद्ध है। सभी स्वतन्त्रता चाहते है और सभी जीवन के क्षेत्र मे समान अवसरों की माँग करते है। सब कहीं आज यह अनुभव किया जा रहा है कि भ्रातृत्व-भावना बढाये बिना सच्ची स्वतन्त्रता और समानता की स्थापना नही हो सकती है। अत: शिक्षा का मुख्य लक्ष्य जातीय एकता और विश्व-समाज के लिये स्वतन्त्रता तथा निष्ठा के आधार पर विश्व की पुर्नव्यवस्था करना है।[4]

किसी भी देश में सामाजिक आदर्श तथा शिक्षा के लक्ष्य महापुरुषों, विद्वानों तथा विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा शासन की नीतियों के आधार पर निर्धारित होते है। अत: रेमाण्ट ने ठीक लिखा है—"शैक्षिक सफलता ईटों और गारे मे नहीं रहती, न व्यापक उपकरणों में होती है, न कागजी पाठ्यक्रम में होती है बल्कि उन विद्वानों और सुसंस्कृत स्त्रियों और पुरुषों के प्रभाव में होती है जो कि वे अपने संरक्षण में आये विद्यार्थियों पर डालते है.[5]" भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही महापुरुषों, विचारकों, आचार्यो तथा शिक्षा-शास्त्रियों की विशिष्ट परम्परा सतत् विकासमान् है। महर्षि याज्ञवल्क्य, गौतम, कणाद, कपिल, बादरायण, जगद्गुरु शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य, स्वामी बल्लभाचार्य, महात्मा तुलसीदास तथा महाप्रभु चैतन्य आदि ऐसे विचारक है जिन्होने भारतवर्ष की शिक्षा-व्यवस्था को दूर तक प्रभावित किया है।

---

1. *Report of the Secondary Education Commission*. 1952, P. 23.
2. Russell Bertrand–*Principles of Social Reconstruction*, George Allen & Unwin, Ltd., London, P. 49.
3 American Declaration of Independence, 1776.
4 डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 420।
5. Raymount. T., *The Principles of Education*, Orient Longmans (1949), P.38.

आधुनिक युग में भारतवर्ष में शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण लोकमान्य तिलक, अरविन्द, विवेकानन्द, दयानन्द तथा महात्मा गाँधी आदि शिक्षा-शास्त्रियों के शिक्षा-दर्शन तथा सरकारी आयोगों की संस्तुतियों पर हुआ है। इसी प्रकार इंगलैंड, अमेरिका, जर्मनी तथा सोवियत रूस आदि संसार के किसी भी देश में किसी भी काल में यह देखा जा सकता है कि शिक्षा के लक्ष्य महापुरुषों के विचारों और तत्कालीन सरकार की नीतियों से निर्धारित होते है। सामाजिक आदर्शों का प्रभाव समाज दर्शन के विकास में परिलक्षित होता है। यह समाज दर्शन अध्यात्मवादी, भौतिकवादी, व्यवहारवादी, आदर्शवादी, फासिस्टवादी, साम्यवादी तथा जनतन्त्रवादी आदि अनेक दार्शनिक विचारधाराओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। ये विचारधाराएँ केवल कुछ व्यक्तियों के विचारों में ही नहीं मिलती बल्कि इन्होंने विशिष्ट प्रकार के वाद के रूप में विशाल मानव समूह को प्रभावित किया है। इन समाज दर्शनों के प्रभाव से शिक्षा के आदर्शों, लक्ष्यों तथा मूल्यों में परिवर्तन होता रहा है। उपर्युक्त समाज दर्शनों में भौतिकवादी, व्यवहारवादी, आदर्शवादी, फासिस्टवादी, साम्यवादी तथा जनतन्त्रवादी विचारधाराएँ पाश्चात्य दृष्टिकोण के अन्तर्गत आती हैं और अध्यात्मवादी विचारधारा भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित है।[1]

पाश्चात्य दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्यः—

पाश्चात्य शिक्षा जगत् में जिन शिक्षा-दार्शनिक विचार धाराओं का विकास हुआ है उनमें आदर्शवादी, व्यवहारवादी, प्रकृतिवादी, यथार्थवादी तथा साम्यवादी विचारधाराओं की प्रमुखता है। इन दार्शनिक विचारों में शैक्षिक उद्देश्यों तथा मूल्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विभिन्न विचारकों ने युग की आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया है। शिक्षा-दार्शनिकों की जैसी कल्पना जीवन के सम्बन्ध में रही है उसी के अनुरूप शिक्षा की कल्पना की गई है। रस्क ने जीवन और शिक्षा के दर्शन की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"जीवन और शिक्षा के दर्शन से बचाव नहीं किया जा सकता। वे जो कि दर्शन की अवहेलना का गर्व करते हैं उनका भी अपना दर्शन होता है।[2]" अतः शिक्षा के उद्देश्यों पर विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है।

प्रसिद्ध इटेलियन आदर्शवादी जेन्टाइल शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य के रूप में आत्मानुभूति का प्रतिपादन करता है जिससे उसका तात्पर्य आध्यात्मिक होने की

---

1. डी०एस० कोठारी–शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66), शिक्षा-मन्त्रालय, भारत सरकार, पृ० 25।
2. Rusk, R.R. *The Philosophical Bases of Education*, University of London Press, P. 12.

प्रक्रिया से है ।[1] आदर्शवादी विचारधारा में आत्मानुभूति को ही केवलमात्र शिक्षा का उद्देश्य नहीं माना गया है वरन् सत्य, शिव तथा सुन्दर को जीवन के उच्चादर्शों के रूप में स्वीकार किया गया है । अतः एच०एच० हार्न का यह कथन विचारणीय है—"सत्य, सुन्दर एवं शिव जाति के आध्यात्मिक आदर्श हैं और इसलिये शिक्षा का सर्वोच्च कार्य बालक को इन आवश्यक वास्तविकताओं से, जिनका जाति के इतिहास ने प्रकाशन किया है, समायोजित करना है ।"[2] आदर्शवादी शिक्षा-व्यवस्था में धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्रमुखता दी जाती है । इसमें शिक्षा के निकट लक्ष्यों की तुलना में परम लक्ष्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता है । इसमे मानव-व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास की कल्पना की गई है । इसमें व्यक्ति तथा समाज दोनों के मूलतत्त्वों का शिक्षा के आदर्शों मे समन्वय किया जाता है । इसमें अधिकतर शिक्षा के लक्ष्य सार्वभौम होते है ।[3]

आदर्शवाद मे शिक्षा के उद्देश्य मुख्यतः आध्यात्मिक होने से इस विचारधारा में मानव समाज को अधिकाधिक नैतिक तथा आध्यात्मिक बनाने का प्रयास किया जाता है । अतः रस्क के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"शिक्षा को अपनी संस्कृति द्वारा मानव जाति को आध्यात्मिक राज्य मे अधिकाधिक पूर्णतः प्रवेश करने के लिए योग्य बनाना चाहिए और साथ ही आध्यात्मिक राज्य की सीमाओं को विशाल करने के योग्य बनाना चाहिए ।"[4]

प्रकृतिवादी दर्शन मे शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण मुख्यतया जैवकीय और विकासवादी दृष्टिकोणों के आधार पर किया गया है । जैवकीय प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य बालक का उनके परिवेश से समायोजन कराना है । डार्विनवादियो के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को अस्तित्व के लिए संघर्ष योग्य बनाना है किन्तु प्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक रूसो के मत मे पूर्ण जीवन का अनुभव करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए—"दीर्घजीवी मनुष्य वह नहीं है जिसने वर्षों की सर्वाधिक

---

1. As quoted by M.M. Thompson in the *Educational Philosophy* of G. Gentile, Los Angeles University of Southern California Press, P. 49.
2. *Horne*, H. H.—*The Philosophy of Education*, Revised edition, Harper & Bros , New York, P. 102.
3. Horne, H.H.—*The Psychological Principles of Education*, The Macmillan Co., New york, P.37.
4. Rusk. R.R. *The Philosophical Bases of Education*, University of London Press, P.100.

संख्या की गणना की है, बल्कि वह है जिसने पूर्णतया जीवन का अनुभव किया है।[1]" इस प्रकार प्रकृतिवाद में पूर्ण जीवन की तैयारी को शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया गया है। इस सन्दर्भ में हरबर्ट स्पेन्सर के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"हमे पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना ऐसा कार्य है जिसे शिक्षा को सम्पादित करना है। किसी शैक्षिक कोर्स के निर्णय का तर्कसंगत तरीका केवल यही है कि इस प्रकार का कार्य-सम्पादन किस मात्रा मे किया गया—निर्णय करना।[2]"

व्यवहारवाद (Pragmatism) सब प्रकार की रुढिवादिता कूपमण्डूकता और अन्ध विश्वास के विरूद्ध है। वह किसी भी आदर्श को बालक पर बल पूर्वक लादना नहीं चाहता। वह किसी भी आदर्श को केवल इस आधार पर मान्यता देने के लिये तैयार नही है कि वह प्राचीन काल से माना जाता रहा है अथवा उसको कुछ बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियों ने माना है। इस प्रकार व्यवहारवादी एक मात्र विकास को ही शिक्षा का लक्ष्य मानता है। अमेरिका के प्रसिद्ध व्यवहारवादी शिक्षा दार्शनिक ड्यूवी का मत है—"व्यक्ति में शिक्षा उन सब सामर्थ्यो का विकास है जो उसे अपने वातावरण पर नियन्त्रण करने योग्य बनायेगी और उसकी सम्भावनाओं की पूर्ति करेगी।[3]" इतना ही नहीं, व्यवहारवाद मे शिक्षा का उद्देश्य विभिन्न परिस्थितियों मे समायोजन भी माना जाता है। अत: ड्यूवी का कथन इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है—"शिक्षा की प्रक्रिया समायोजन की अनवरत प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य हर अवस्था में वृद्धिगत सामर्थ्य के रूप में होता है।"[4]

यथार्थवादी (Realism) विचारधारा में व्यक्ति को कुशल बनाना शिक्षा का उद्देश्य होता है। प्रसिद्ध यथार्थ वादी दार्शनिक रैबले के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण मनुष्य–कला तथा उद्योग में कुशल का निर्माण करना है। इसी प्रकार मनुष्य को हर क्षेत्र में योग्य बनाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये—इस मत का प्रतिपादन अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिलटन के इन शब्दों मे हुआ है—"अस्तु, मैं उस शिक्षा को पूर्ण और उदार कहता हूँ जो कि मनुष्य को निजी और सार्वजनिक, युद्ध और शान्ति में सभी प्रकार के कार्यो को न्यायपूर्वक, कुशलता से और उदारतापूर्वक करने योग्य बनाती है।"

---

1. *Rousseau, J. J. Emile, New York. Dent 1940, p.13.*
2. *"Spencor Herbert quoted in, Brief course in the History of Education" by Monroe,* paul, Macmillan, p. 357.
3. Dewey John—*Democracy & Education*, Macmillan, New York.
4. Dewey, John, ibid, p. 61.

भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य :

भारतीय दार्शनिक विचारधारा आध्यात्मिक, धार्मिक तथा नैतिक मान्यताओं पर आधारित होने से शिक्षा के क्षेत्र मे आध्यात्मिक आदर्शो को सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। भारतीय अध्यात्मवाद (Spiritualism) पाश्चात्य आदर्शवाद से भिन्न है। भारत वर्ष में ईश्वर को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। वही मनुष्य के लिये अन्तिम रूप से प्राप्तव्य है। महात्मा गाँधी ने मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कार स्वीकार करते हुये लिखा है "मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य का साक्षात्कार है और सभी क्रियाएँ-सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक ईश्वर-दर्शन के अन्तिम उद्देश्य से निर्देशित होनी है।"[1] इसी प्रकार भारतीय विचारधारा में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इन चार पुरूषार्थो की कल्पना जीवन-लक्ष्यों के रूप में की गयी है। इनकी प्राप्ति के बिना जीवन को निरर्थक माना गया है।[2] स्वामी दयानन्द इसी पुरूषार्थ चतुष्ट्य को शिक्षा का उद्देश्य प्रतिपादित करते हुए लिखते है—"विद्या के बिना मनुष्य को निश्चय ही सुख नहीं मिलता अतः धर्मार्थ मोक्ष के लिये विद्याभ्यास करना चाहिये ।"[3] भारतीय दर्शन आत्मा को महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में मानता है । अतः भारतीय दर्शन में समस्त प्रयास आत्मा को लक्ष्य मे रखकर किये जाने के फलस्वरूप आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया गया है ।[4] महायोगी अरविन्द के अनुसार शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य विकास-मान आत्मा को अपने में से सर्वोत्तम को बाहर निकालने में और शुभ कार्यो में प्रयोग के लिये उसे पूर्ण बनाने में सहायता देना होना चाहिये।

मानव विकास की कल्पना शिक्षा के सन्दर्भ मे प्रायः प्रत्येक देश के विचारकों में पायी जाती है। भारत वर्ष इसका अपवाद नही है। स्वामी विवेकानन्द ने मानव विकास को शिक्षा-उद्देश्य के रूप में प्रतिपादित करते हुये लिखा है—"सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मनुष्य-निर्माण' ही हो । सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है।"[5]

शांकर शिक्षा के उद्देश्य :

उपर्युक्त विवेचन से भारतीय दृष्टिकोण में शिक्षा के उद्देश्यों में भौतिक तथा

---

1. M. K. Gandhi, *Harijan*, 29. 8. 1936.
2. धर्मार्थ काम मोक्षाणा यस्य कोऽपि न विद्यते । अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् । (हितोपदेश एव पञ्चतन्त्र)
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत व्यवहार भानु द्रष्टव्य ।
4. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" । बृहदारण्यकोपनिषद् (4-5-6) ।
5. स्वामी विवेकानन्द-शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर. पृ० 6.

आध्यात्मिक पक्षों का समन्वय स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य विचारधारा में भौतिक पक्ष का प्राधान्य है और आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा की गई है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में भगवान् शंकराचार्य का अवतरण ऐसे महान् शिक्षाविद् के रूप में हुआ है जिन्होंने अपने ग्रन्थों में एक सर्वाङ्गीण शिक्षा-दर्शन की प्रस्थापना की है। उनका आध्यात्मवादी अद्वैत-सिद्धान्त पाश्चात्य आदर्शवाद की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा व्यवहारिक होने से वह अद्यपर्यन्त भारतीय विचारधारा का अक्षयस्रोत रहा है। शांकर अद्वैतवाद औपनिषद् दर्शन पर आधारित है। अतः उनके शिक्षा-सिद्धान्तों का मूल-भूत आधार वेदान्त होने से आचार्य शंकर की शिक्षा की कल्पना सुव्यवस्थित एवं सुसंगत रूप में विकसित हुई है। विगत अध्याय में शांकर शिक्षा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ब्रह्मसाक्षात्कार हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।[1] ब्रह्म की धारणा मानवीय जीवन के सर्वोत्तम चिन्तन का फल है।[2] अतः शांकर सिद्धान्त में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस पुरूषार्थ चतुष्ट्य में मोक्ष को ही परम पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर ने मुक्ति को ही शिक्षा का प्रधान तथा एकमेव लक्ष्य स्वीकार किया है।[4] किन्तु अवान्तर तथा सहकारी रूप में अन्य लक्ष्यों का भी उन्होंने प्रतिपादन किया है। यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के सभी उद्देश्य तथा मूल्य विवेचनीय है। उनके अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं—

1. आत्मानात्म विवेक
2. ब्रह्मनिष्ठा
3. आत्मनिष्ठा
4. अद्वैतभावना
5. धार्मिक भावना
6. वैराग्यमूलक जीवन
7. मोक्ष-प्राप्ति

आत्मानात्म विवेक :

भगवान् शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा सर्वप्रथम व्यक्ति को आत्मा और अनात्मा का विवेक देती है। इसी को शंकर दर्शन में नित्यानित्यविवेक भी कह

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 29.
2. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरणग्रंथ-संग्रहः सम्पादक-एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 42.
3. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-7) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 224.
4. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-4-15) शां० भा० वही, पृ० 1153.

गया है। ब्रह्म नित्य है और जगत् अनित्य है। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चय है वही नित्यानित्य वस्तु-विवेक कहलाता है।[1] मनुष्य भ्रमवश दृश्यवस्तु को नित्य मानता है और अदृश्य (आत्मा) को अनित्य मानता है। नित्य (आत्मा) को अनित्य मानना और अनित्य (अनात्मा) को नित्य मानना वस्तुतः अज्ञान है। अतः शिक्षा का प्रथम उद्देश्य यह है कि व्यक्ति को आत्मा तथा अनात्मा का यथा-वत् विवेक हो और उसको यह दृढ निश्चय हो कि आत्मा का स्वरूप नित्य है और दृश्य वस्तु उसके विपरीत अनित्य होने से अनात्मा है।[2] आत्मा और अनात्मा मे यथोचित रूप से विभेदीकरण की सामर्थ्य का विकास करना शिक्षा का कार्य है। शंकर के अनुसार आत्मा और अनात्मा का विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्मभाव से स्थिति और मुक्ति—ये करोड़ों जन्मों मे किये हुए शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त हो ही नही सकते।[3]

शिक्षा यथार्थ और अयथार्थ का विभेदीकरण करती है। आचार्य शंकर इस तथ्य को स्वीकार करते है और यह मत प्रकट करते है कि आत्मा यथार्थ है और आत्मा के अतिरिक्त शरीर, मन, बुद्धि तथा प्राण आदि एव समस्त जगत् अयथार्थ है। इस लिये "आत्मा ज्ञानस्वरूप और पवित्र है तथा देह मांसमय और अपवित्र है, इन दोनों की जो एकता देखते है इससे बढ़कर और क्या अज्ञान होगा ? आत्मा सबका प्रकाशक और निर्मल है तथा देह तमोमय कहा जाता है, इन दोनों की जो एकता देखते हैं इससे बढ़कर और क्या अज्ञान होगा"[4] ? इस प्रकार शिक्षा द्वारा व्यक्ति में ऐसी क्षमता का विकास होता है कि वह आत्मा को आत्मा के रूप मे पहचानता है और अनात्मा को अनात्मा के रूप मे। वस्तुतः यथार्थ को यथार्थ रूप मे जानना ओर अयथार्थ को अयथार्थ के रूप में जानना ही शिक्षा का उद्देश्य होता है। अतः बन्धन से निवृत्ति के लिये विद्वान को आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिये। उसी से अपने आपको सच्चिदानन्द रूप जानकर वह आनन्दित हो जाता है।[5]

अनात्मा के अविद्या-कल्पित होने से वस्तुतः आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं।[6] आचार्य शंकर के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन व अहंकार आदि सारे विकार, सुखादि सम्पूर्ण विषय, आकाशादि भूत और अव्यक्त (प्रकृति) पर्यन्त

---

1. श्री शंकराचार्य विवेकचूडामणि (श्लोक-20) वही, पृ० 12.
2. वस्तुतः श्री शंकराचार्य-अपरोक्षानुभूति, वही पृ० सं० 6.
3. "श्री शंकराचार्य-विवेक-चूडामणि (श्लोक 2) वही पृ० 8.
4 श्री शकराचार्य-अपरोक्षानुभूति, वही पृ० 9-10.
5. श्री शंकराचार्य विवेक चूडामणि (श्लोक 154)वही पृ० 52.
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (2-4-14) वही, पृ० 578.

समस्त विश्व-ये सभी अनात्मा हैं।[1] अतः शिक्षा को व्यक्ति में ऐसी क्षमता का विकास करना होता है जिससे वह उपर्युक्त अनात्मा मे निहित आत्मा को पहचान सके। यह तभी होगा जब व्यक्ति को शिक्षा द्वारा यह अनुभव हो जाए कि पदार्थों की जो प्रतीति होती है उसमें आत्मा का ही प्रकाशत्व है किन्तु आत्मज्योति अग्नि आदि की ज्योति के समान नहीं है, क्योंकि उनके अभाव में तो रात्रि के समय अन्धकार हो जाता है परन्तु आत्म- ज्योति का कभी अभाव नहीं होता।[2] इससे स्पष्ट है कि आचार्य शंकरशिक्षा में आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान पर सर्वाधिक बल देते हैं।[3] आत्मा और अनात्मा के विवेक से निश्चित ज्ञान होता है।[4] अतः शंकराचार्य आत्मा तथा अनात्मा के इसी विवेक कोज्ञान की संज्ञा देते है।[5] उनके अनुसार यही शिक्षा का उद्देश्य है।

ब्रह्म निष्ठा :

वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म की धारणा का सर्वाधिक महत्त्व है।[6] भगवान् शंकराचार्य ने स्वयं कहा है। "इस विश्व में एक ही अद्वितीय ब्रह्म है। अतः एक ही सत्ता है, अनेक की सत्ता नहीं है।[7] अनेकता में एकता का दर्शन करने का लक्ष्य शिक्षा का होना चाहिए।[8] बालक को धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये कि विश्व में नानात्व (संसारित्व) माया की देन है और एकत्व (असंसारित्व) सत् (यथार्थ) है।[9] ब्रह्मतत्त्व ही वास्तविक है।[10] इस प्रकार शिक्षा के द्वारा मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान होता है।[11]

---

1. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि (श्लोक 124) वही, पृ० 42-43.
2. श्री शंकराचार्य-अपरोक्षानुभूति, वही पृ० 10.
3. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढीनीम-वाराणसी, पृ० 26.
4. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रह-सम्पादक-एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 40.
5. वही, पृ० 42.
6. ब्र० सू० (2-3-1-5) शां० भा० वही पृ० 475.
7. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रह वही, पृ० 42.
8. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1) शां० भा० वही, पृ० 96.
9. ब्र० सू० शां० भा० (1–2–3–11) वही, पृ० 164.
10. "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" श्री शंकराचार्य—विरचित प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रह, वही, पृ० 31.
11. ब्रह्म सूत्र शां० भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 28.

अद्वैत वेदान्त मे जीव और ब्रह्म मे भेद नहीं माना जाता है ।[1] यथार्थ मे जीव सर्वज्ञ, चैतन्य और सर्वव्यापी है ।[2] अविद्या (अज्ञान) के कारण व्यक्ति उस परम सत्ता (ब्रह्म) को पहचान नहीं पाते हैं। जीव-ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति करना शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए ।[3] समस्त शिक्षा का सार ब्रह्मज्ञान को ही स्वीकार किया जाता है क्योंकि इसके बिना अन्य किसी प्रकार से शोक की निवृत्ति नही होती है ।[4]

वेदान्त में ब्रह्मविचार की प्रधानता होने से ब्रह्म-जिज्ञासा का अत्यधिक महत्त्व है ।[5] अत: आचार्य शंकर शिक्षा को ब्रह्म विद्या कहते है ।[6] शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है ।[7] नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्य भाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म[8] पारमार्थिक, कूटस्थ, आकाश के समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओं से रहित नित्यतृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है ।[9] इस प्रकार ब्रह्म एक समष्टिगत भाव है। व्यष्टिगत क्षुद्रता, संकीर्णता तथा ससीमता आदि सभी की परिसमाप्ति ब्रह्म में हो जाती है ।[10] अत: आचार्य शंकर ब्रह्म को ही मोक्ष मानते है ।[11] व्यष्टि को समष्टि रूप मे विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए जिसमें ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा समष्टि-विकास, शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य हो ।[12]

ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति ब्रह्ममय हो जाता है ।[13] अत: शिक्षा द्वारा परमात्मा ही प्राप्तव्य है ।[14] शिक्षा को ऐसा होना चाहिए जिसमें ब्रह्मनिष्ठा को

---

1. व 2. "तत्त्वमसि"—छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य ।
3. श्री शंकराचार्यविरचित प्रकरण—ग्रन्थ-संग्रह—वही, पृ० 42 ।
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-3-2-8) वही, पृ० 211 ।
5. 'ब्रह्मसूत्र' (1-1-1-1) पर शां० भा० दृष्टव्य ।
6. "बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-9) शां० भा० वही, पृ० 241 ।
7. श्री शंकराचार्य—प्रश्नोत्तरी (श्लोक–11) वही, पृ० 12 ।
8. "अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभावंसर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम् ।" ब्र० सू० शां० भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 30 ।
9. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-4-4) वही, पृ० 58-59 ।
10. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2-1-20) वही, पृ० 482 ।
11. ब्रह्मभावश्च मोक्ष—ब्रह्मसूत्र (1-1-4-4) शां० भा०, वही, पृ० 67 ।
12. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 29 ।
13. मुण्डकोपनिषद् (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति 3-2-9) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य ।
14. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-2-3-12) वही, पृ० 164 ।

जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानकर छात्रों को दीक्षित किया जाये। वस्तुतः ब्रह्मनिष्ठा का तात्पर्य ब्रह्म के प्रति अनन्यभाव है।[1] अतः शंकराचार्य के अनुसार उस (ब्रह्म) का अन्वेषण करना चाहिए, उसकी विशेष जिज्ञासा करनी चाहिए।[2]

आत्मनिष्ठा :

गुरु शिष्य को उपदेश करता है—तत्त्वमसि।[3] यह उपदेश-वाक्य है। वेदान्त में इसको महावाक्य कहते हैं। इसके द्वारा ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है।[4] अतः इस महाकाव्य की अनुभूति करना शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति आत्मद्रष्टा बन जाता है और वह आत्मा एवं परमात्मा में भेद को नहीं देखता है।[5] उसके लिये आत्मा-परमात्मा एक है। केवल एक सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त[6] ब्रह्म (परमात्मा) की सत्ता का दर्शन उसे चारों ओर होने लगता है और वह स्वयं "अहं ब्रह्मास्मि"[7]—इस अनुभूति-महावाक्य के अनुसार अनुभव करने लगता है। इस आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, इस पर मनन करना चाहिए और निदिध्यासन (अनवरत चिन्तन) द्वारा इसका साक्षात्कार करना चाहिए।[8] शांकर शिक्षा-दर्शन में यही शिक्षा का लक्ष्य है।

वेदान्त में आत्मा की सर्वाधिक महत्ता होने से उसी की प्राप्ति के लिये समस्त प्रयासों का प्रावधान किया गया है।[9] हम सभी का अनुभव है कि संसार में जो सबको बढ़कर प्रिय होता है वह सर्वप्रयत्न द्वारा प्राप्तव्य होता है तथा यह आत्मा समस्त लौकिक प्रिय पदार्थों से प्रियतम है। अतः अभिप्राय यह है कि अन्य प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए यदि कोई यत्न अवश्य कर्तव्यरूप से प्राप्त हो तो भी उसे छोड़कर आत्मा की प्राप्ति के लिए ही महान् यत्न करना चाहिए।[10] इस प्रकार शंकराचार्य

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3-4-2-20), वही, पृ० 762।
2. छान्दोग्योपनिषद् शा० भा० (8-7-1) वही, पृ० 867।
3. छान्दग्योपनिषद् (6-8-7) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
4. श्रीशंकराचार्य—विवेकचूडामणि (श्लोक 251) वही, पृ० 82।
5. गीता शां० भा० (4-35) वही, पृ० 137।
6. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्तिरीयोपनिषद् (1-1-1-1) शांकर भाष्य दृष्टव्य।
7. बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) पर शां० भा० दृष्टव्य।
8. "आत्मा या अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः", वही (4-5-6) शां० भा०।
9. ऐतरेयोपनिषद् शां० भा० (2-1 प्रस्तावना) वही, पृ० 66।
10. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-8) वही, पृ० 237।

ऐसी शिक्षा की और संकेत करते हैं जिसमें बालक आत्मनिष्ठ बने। उसमें आत्म-विश्वास का विकास हो और आत्मविश्वास से उसका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग्रत हो।[1] अतः जो व्यक्ति एक अभिन्न आत्मतत्व को नहीं देखता वह विद्वान् होने पर भी अविद्वान् ही है।[2] क्योंकि आत्मा ही आत्मा के अभय का कारण है।[3] इस प्रकार समस्त वेदों का अध्ययन और सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी जब तक व्यक्ति आत्मतत्व को नहीं जानता, तब तक अकृतार्थ ही रहता है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से आचार्य शंकर आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मज्ञान अथवा आत्मनिष्ठा को शिक्षा का अभिन्न पक्ष स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति को गुरु के आश्रय तथा श्रवण आदि उपायों से अन्वेषण करके उस (आत्मा) का साक्षात्कार करना चाहिए।[5] आत्मा के साक्षात्कार को शिक्षा का उद्देश्य मानकर उसकी प्राप्ति पर आचार्य शंकर ने बल दिया है—"आत्मा ही दर्शन करने योग्य है (द्रष्टव्य है) अर्थात् साक्षात्कार का विषय बनाने योग्य है।[6] अतः आत्मज्ञान शिक्षा का अभीष्ट उद्देश्य है।[7] शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को आत्मा के अस्तित्व, देहादि से भिन्नत्व, शुद्धत्व, स्वयं प्रकाशत्व, अलुप्त शक्तिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वभावत्व और अद्वैतत्व का बोध कराना है।[8] यही आत्मनिष्ठा है। यही ब्रह्मात्मभाव है। यही औपनिषद् शिक्षा का सार है।[9] शिक्षा द्वारा आत्मनिष्ठा होने पर व्यक्ति का व्यवहार परिवर्तित हो जाता है। वह सभी से प्रेम-सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करता है। उसे किसी से घृणा नहीं होती है क्योंकि सभी प्रकार की घृणा किसी दूषित पदार्थ को देखने वाले पुरुष को ही होती है किन्तु जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप को देखने वाला है, उसकी दृष्टि मे घृणा का निमितभूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं।[10] इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर के अनुसार जीव शिव बन जाये, आत्मा परमात्मा बन जाये, नर-नारायण बन जाये, यही शिक्षा का

---

1. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 3।
2. तैत्तिरीयोपनिषद् शां० भा० (2-7-1) वही, पृ० 180।
3. वही, पृ० 179।
4. छान्दोग्योपनिषद् (6-1-3) शां० भा० वही, पृ० 577।
5 छान्दोग्योपनिषद्, शां० भा० (8-1-1) वही, पृ० 807।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2-4-5), वही, पृ० 551।
7. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-3-5-19) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 234।
8. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-3) शा० भा०, वही, पृ० 869।
9. ब्रह्मसूत्र शा० भा० (2-3-13-29), वही, पृ० 509।
10. ईशावास्योपनिषद् (मं० 6) शां० भा० वही, पृ० 7।

उद्देश्य है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य आदर्शवादियों की शिक्षा के उद्देश्य के रूप में आत्मानुभूति की कल्पना आचार्य शंकर से भिन्न है। आचार्य की कल्पना में समष्टिगत भाव का प्राधान्य है और पाश्चात्य विचारकों में व्यष्टिगत भाव की मुख्यता है।

अद्वैत भावना :

ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य ही शिक्षा है।[2] यही शिक्षा का परम उद्देश्य है। यहाँ डा० कर्णसिंह का यह कथन मननीय है—"उपनिषद् का अमर सन्देश है कि आत्मा और ब्रह्म का समन्वय ही मानव जाति का सर्वोच्च लक्ष्य है।"[3] यही ब्रह्म और आत्मा का समन्वय अद्वैत कहलाता है। आचार्य ने केनोपनिषद् के भाष्य मे अद्वैत के स्वरूप पर लिखा है—"इस प्रकार गुण दोष को जानने वाले धीर-बुद्धिमान् ब्राह्मण लोग प्राणी-प्राणी में अर्थात् समस्त चराचर जीवों में एक ब्रह्मस्वरूप आत्म-तत्व को साक्षात्कार कर यहाँ से लौटने पर अर्थात् ममता-अहंता रूप इस अविद्यात्मक लोक से उपरत होकर सबमे आत्मैकत्वरूप अद्वैतभाव को प्राप्त होकर अमर अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते है।"[4] यह ब्रह्मात्मवाद आचार्य शंकर की शिक्षा का सार है।[5] यही मोक्ष है।[6] यही उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है।[7] यही मानव-जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। अतः एकमात्र अद्वितीय सत् (ब्रह्म) ही सत्य है—यह सिद्ध ही है। इसलिये यह ठीक ही कहा है कि उस एक को जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है।[8]

भगवान् शंकराचार्य का समस्त जीवन अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के लिए ही था। उन्होंने जीवन-पर्यन्त जिस वेदान्त की शिक्षा का प्रचार किया तथा जिस शिक्षा-दर्शन के निर्माण के लिए एक विशाल साहित्य की सृजना की उससे उनके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर होनी चाहिए कि विद्यार्थी

---

1. देखिये परिशिष्ट–3।
2. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि (श्लोक 204), वही, पृ० सं० 67।
3. देखिये नवभारत टाइम्स दिनांक 29-8-1976।
4. केनोपनिषद् शा० भा० (2-5) वही, पृ० 90-91।
5. गीता शां० भा० (4-41) वही, पृ० 140।
6. "ब्रह्मभावश्चमोक्षः।"—ब्रह्मसूत्र (1-1-4-4) गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 67।
7. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ संग्रह—सम्पादक–एच० आर० भगवत् पूनाशहर पृ० 49।
8. छान्दोग्योपनिषद् (6-4-4), शां० भा०, वही, पृ० 619।

एकमात्र परमतत्त्व को अद्वैतभाव से अपने अन्दर अनुभव करे तथा सारे विश्व से तदात्म्य स्थापित करें। इस सम्बन्ध मे स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या हृदयस्पर्शी बन पडी है—"सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है और इसी से नैतिकता का आधार प्रस्तुत होता है। दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिए, क्योंकि समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है। दूसरे को कष्ट देना अपने आपको कष्ट देना है। दूसरे के साथ प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है।"[1] इस प्रकार विश्व में प्रेम, सहानुभूति, ऐक्य, सामन्जस्य तथा समन्वय की स्थापना की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर आचार्य शंकर ने अद्वैतभाव को शिक्षा का लक्ष्य प्रतिपादित किया है—"जिस प्रकार रोगी पुरुष को रोग की निवृत्ति होने पर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दु:खाभिमानी आत्मा को द्वैत-प्रपञ्च की निवृत्ति होने पर स्वस्थता मिलती है। अतः अद्वैतभाव ही इसका (शिक्षा का) प्रयोजन है।"[2]

शिक्षा द्वारा अद्वैतभावना एक ऐसे मानव-समाज का निर्माण कर सकती है जिसकी कल्पना डा० राधाकृष्णन् के इन शब्दों मे हुई है—"हमारी इस मानव जाति को वह समृद्धि, स्वतन्त्रता और सुख सुलभ हो सकते है जिनका इसने कभी सपना भी न देखा होगा, बस, शर्त केवल एक ही है कि हम ऐक्यसूत्र में बंध जाएँ और महत् उद्देश्य तथा सुन्दर संकल्प लेकर आगे बढ़ते चलते जाएँ।"[3] इसीलिये आचार्य शंकर के अनुसार उपर्युक्त ऐक्य का भाव शिक्षा द्वारा ही विकसित होगा।[4] वस्तुतः अभेद का विचार जीवन का सबसे मूल्यवान् सार है। शांकर दर्शन मे परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की सिद्धि इसी अद्वैतभाव का परिणाम होने से अभेद का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट माना गया है।[5] शिक्षा के अभाव में व्यक्ति को द्वैतभाव की अनुभूति होती है किन्तु शिक्षा द्वारा आत्मरूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होने पर व्यक्ति को सब प्राणियों में आत्मभाव की अनुभूति होने लगती है। और उसके मोह-शोक आदि सबकी निवृत्ति हो जाती है।[6] व्यक्ति तथा समाज दोनों की दृष्टि से अद्वैत सुखरूप है, द्वैत सदा असह्य दुःख वाला है, यही जीवन का प्रयोजन होना चाहिए। वेद मे अद्वैत को ही लक्ष्यरूप मे प्रतिपादित किया गया है द्वैत को नही, और संसार में भी अद्वैत के

---

1 'विवेकानन्द संचयन'–श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 106।
2. माण्डूक्योपनिषद्, शां० भा० (सम्बन्ध भाष्य), वही पृ० 21-22।
3. डा० राधाकृष्णन्—'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार', राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरीगेट दिल्ली–6, पृ० 48-49।
4. गीता (4-35) शां० भा०, वही पृ० 137।
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2-3-17-47), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 529।
6. श्री शंकराचार्य–अपरोक्षानुभूति, वही पृ० 18।

लाभ प्रत्यक्ष हैं।[1] अतएव आचार्य शंकर ने ब्रह्मात्मैक्य (अद्वैतभाव) को शिक्षा का लक्ष्य निरुपित करते हुए शिक्षार्थियों के लिए यह व्यवस्था प्रस्तुत की है—"आत्म-ज्ञानी (शिक्षार्थी) को सर्वदा पूर्णब्रह्म का निष्कल तथा अद्वैतरूप से चिन्तन करना चाहिए।' इससे वह शोक से पार होकर किसी से भय नहीं करता।"[2]

धार्मिक भावना

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—"धर्म तो शिक्षा का मेरुदण्ड ही है।"[3] यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा और धर्म का परस्पर सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। शिक्षा से धर्म का प्रचार-प्रसार होता है और धर्म से शिक्षा को मार्गदर्शन प्राप्त होता है। आचार्य शंकर की भारतीय इतिहास तथा जनता मे प्रसिद्धि एक धर्माचार्य के रूप में है। उनके द्वारा धार्मिक भावना को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में प्रतिपादित करना उनके लिए स्वाभाविक तथा अपरिहार्य था। भारतीय जनमानस मे चिरकाल से पुष्पित एवं पल्लवित धर्म के संस्कारों को पहचानकर आचार्य ने उनका शिक्षा में उपयोग कराने के लिए शिक्षा का स्वरूप धार्मिक एव आध्यात्मिक बनाने का प्रयास किया। उनके अनुसार धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता से भिन्न कोई शिक्षा है ही नहीं।[4]

धर्म मानव-जीवन के नियमन की प्रक्रिया है। इससे व्यक्ति और समाज में सामन्जस्य होता है। इस सम्बन्ध मे डा० राधाकृष्णन् का कथन समीचीन है—"धर्म से जीवन के विभिन्न कार्यों मे संगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है।······यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव का सामन्जस्य है जो अपनी जीवनचर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है।"[5] इस प्रकार धर्म की जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति होने से शिक्षा द्वारा मनुष्य में धार्मिक भावना के विकास की आवश्यकता स्वत: हो जाती है। धर्म सामान्यत: कर्तव्य का वाचक है।[6] धर्म प्राणियों की सुख-प्राप्ति का विधान है[7] और शिक्षा व्यक्ति को उसी विधान द्वारा सुखी बनाने का साधन है।

---

1. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरणग्रन्थ संग्रह :—सम्पादक, एच० आर० भगवत्, पूना शहर; पृ० 48।
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् (1-सं० भा०) शां० भा०, वही पृ० 46।
3. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 30।
4. देखिये परिशिष्ट–3।
5. डा० राधाकृष्णन् प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, पृ० 388।
6. तैत्तिरीयोपनिषद् (1-1-1-1) शां० भा० वही पृ० 72।
7. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–3–8–30) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 257।

शंकराचार्य के अनुसार धर्म जगत् की स्थिति तथा प्राणियों की उन्नति एवं मोक्ष का साक्षात् हेतु है। कल्याण की कामना करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, सन्यासी पुरुषों द्वारा इसका आचरण किया जाता है।[1] शिक्षा का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्मों के शिक्षण द्वारा मनुष्यों का धार्मिक विकास करना है। इसीलिए आचार्य शंकर की मान्यता है कि अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करने से और तपस्या करने से मनुष्य भगवान को प्रसन्न कर लेता है। और इसी से उसे वैराग्यादि साधन चतुष्टय की प्राप्ति होती है।[2] शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्मों का यथावत् पालन करने योग्य बनाने का होना चाहिए।

आचार्य शंकर वेदप्रतिपादित आचार व्यवस्था को धर्म मानते है।[3] उनके अनुसार धर्म के तीन विभाग है—(1) यज्ञ, अध्ययन और दान (2) तप और (3) आचार्यकुल मे निवास करना।[4] उनके अनुसार शिक्षा के द्वारा धार्मिक भावना के विकास के उद्देश्य से यही अभिप्राय है कि व्यक्ति को यज्ञपरायण, अध्ययनशील, दानशील, तपस्वी तथा आचार्यकुल में नियमपूर्वक रहकर विद्यार्जन करने वाला बनाया जाय। यही उसका धार्मिक विकास है। इसी के लिए आचार्य ने अपनी शिक्षा व्यवस्था को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है।

वैराग्यमूलक जीवन

आचार्य शंकर को वैराग्यमूलक जीवन अभीष्ट है। उनके अनुसार यद्यपि ज्ञानमात्र में सभी आश्रम वालों का अधिकार है तथापि ब्रह्मविद्या संन्यासगत होने पर ही मोक्ष का साधन होती है कर्मसहित नही।[5] संन्यास वैराग्य का ही विकास है। विषय-भोगों से विरक्ति का नाम वैराग्य है। आचार्य शकर ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त विषयों में काकविष्ठा के समान वैराग्य को ही निर्मल वैराग्य कहते हैं।[6]

शिक्षा वस्तुत: ऐसा साधन है जो व्यक्ति को वैराग्यशील बनने की क्षमता प्रदान करता है। शांकर शिक्षा-दर्शन मे विद्यार्थी के लिए वैराग्य की नितान्त आवश्यकता का पदे-पदे प्रतिपादन किया गया है। वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व विद्यार्थी के लिये चार साधनों की अपेक्षा की गई है—(1) नित्यानित्यवस्तु विवेक (2) वैराग्य (3 शमादि छ: सम्पत्ति और (4) मोक्ष की इच्छा।[7] इन चारों साधनों

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता (उपोद्घात्) शां० भा०, वही पृ० 13।
2 श्री शंकराच[illegible] वही 17, पृ० 6।
3 छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (2-2-1) पृ० 155।
4. छान्दोग्योपनिषद् (2-23-1) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
5. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-1) सम्बन्ध भाष्य, वही पृ० 9।
6. श्री शंकराचार्य—अपरोक्षानुभूति, वही, पृ०6।
7. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1), गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, पृ०26।

मे वैराग्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य शंकर का कथन है—"सब प्रकार के विषयों से वैराग्यपूर्वक गुरुकृपा से प्राप्य ब्रह्मविद्या ही परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है।[1]" आचार्य शंकर उसी शिक्षा को श्रेष्ठतम मानते हैं जो वैराग्यपूर्वक आचरण करके गुरुकृपा को अर्जित करने पर प्राप्त हुई है।

आचार्य के अनुसार अविद्या से प्रतीत होने वाला सारा द्वैत (संसार) दुःख-रूप ही है—ऐसा व्यक्ति को निरन्तर स्मरण करना चाहिए। मनुष्य को कामभोग में लिप्त चित्त का वैराग्य भावना से नियमन करना चाहिए।[2] अतः शिक्षा का कार्य है व्यक्ति को वैराग्यशील बनाना जिससे वह जीवन में सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा सके। हम अपनी इच्छाओं से ही सुख-दुःख का अनुभव करते है। आचार्य ने इन इच्छाओं को तीन प्रकार का माना है—(1) सन्तान की इच्छा (2) धन की इच्छा और (3) लोकसम्मानादि की इच्छा। इन तीनों प्रकार की इच्छाओं का त्याग करने वाला संन्यासी ही आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थिर प्रज्ञ है।[3] आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा का ऐसा उद्देश्य होना चाहिए जिससे व्यक्ति संयमी, वैराग्यशील तथा त्यागी होकर आत्मचिन्तन में प्रवृत्त हो सके। आचार्य ने वैराग्य को इसलिए भी जीवन में महत्त्व दिया है जिससे व्यक्ति अपने शरीर का अभिमान छोड़कर निवृत्तिपरायण (संन्यास धर्म से युक्त) हो जाये।[4] अतः वैराग्यसम्पन्न गुरुओं के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का यह कथन उद्धृत करना प्रसङ्गानुरूप ही है—"हमारे देश मे ज्ञान का दान सदा त्यागी पुरुषों द्वारा ही होता है। ज्ञानदान का भार पुनः त्यागियो के कन्धों पर पडना चाहिए।[5]"

आचार्य शंकर वैराग्यमूलक जीवन की स्वयं प्रतिमूर्ति थे और उन्होंने जिस वैराग्य समन्वित संन्यासधर्म की परम्परा का प्रवर्तन आज से हजारों वर्ष पूर्व किया था उसमें धर्मसम्राट स्वामी करपात्री[6] जी तथा शंकराचार्य पीठ पर आसीन स्वामी

1. मुण्डकोपनिषद् (1-1-सम्बन्ध भाष्य) शां०भा०, वही, पृ०9।
2. माण्डूक्योपनिषद् शां०भा० (अ० प्र०–43), वही, पृ० 182।
3. श्रीमद्भगवद्गीता शा०भा० (2–55), वही, पृ०65।
4. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (8-12-1) वही, पृ०907।
5. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ०20।
6. भारतीय दर्शन तथा विशेषतः शांकर दर्शन के मूर्धन्य, मर्मज्ञ विद्वान् मनीषी तथा संन्यासियों में अग्रगण्य–शिरोमणि श्री करपात्री जी आधुनिक युग के उन असाधारण विचारकों में थे जिनकी प्रतिभा, सप्रमाण तार्किक दृष्टिकोण तथा उत्कृष्ट विद्वत्तता से विभिन्न मतानुयायी तथा भारतीय जनता भली भाँति परिचित हैं। स्वामी जी की धर्म, दर्शन, संस्कृति और राजशास्त्र आदि विषयों पर अनेक पुस्तकें ख्याति प्राप्त हैं और वेदभाष्यों के क्षेत्र में उनका महान् ग्रन्थ 'वेदार्थ पारिजात' अमूल्य देन माना जाता है, जिस पर उत्तर-प्रदेश संस्कृत एकेडेमी द्वारा विश्व सस्कृत भारती पुरस्कार (एक लाख रुपया) प्रदान किया गया है, देखिये 'पजाब केसरी' 14 मई–1985.

कृष्णबोधाश्रम जी जैसे परम विरक्त सन्यासियो को देखकर किस विचारशील का चिन्तन इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेगा कि भगवान् शकराचार्य ने जिन शिक्षा-उद्देश्यो को दृष्टि मे रखते हुए जन कल्याणार्थ अपनी शिक्षा-व्यवस्था की प्रस्थापना की थी, उनमे वैराग्यमूलक जीवन के विकास का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा होगा। यह उनके द्वारा प्रतिपादित आचार मीमासा का सार है जिसे वह शिक्षा द्वारा मनुष्य को प्राप्त कराना चाहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति—

वेदान्त दर्शन का महत्त्व उसकी मोक्ष की कल्पना में है। मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है।[1] इस सन्दर्भ मे डा० राधाकृष्णन् के ये शब्द उल्लेखनीय है—"फिर भी, सब इस बात से सहमत है कि व्यक्ति के यथार्थ गौरव की उपलब्धि मोक्ष के द्वारा हो सकती है।[2]" आचार्य शंकर के अनुसार समस्त विचार, चिन्तन तथा ज्ञान की प्रक्रिया का उद्देश्य मोक्ष है—"श्रुतियाँ परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का उपदेश करने में प्रवृत्त हैं। श्रुति ज्ञान का उपदेश करने में तत्पर है। उसे संसार से पुरुष का मोक्ष कराना है, इसके लिए संसार की हेतुभूत अविद्या की विद्या के द्वारा निवृत्ति करना आवश्यक है, अतः वह विद्या का प्रकाश करने वाली होकर प्रवृत्त हुई है।[3]" शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति ही शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य है।[4] शिक्षा शिक्षार्थी को ब्रह्म के पास पहुँचा देती है—इस प्रकार शांकर दर्शन मे शिक्षा को ब्रह्म विद्या की संज्ञा प्राप्त है।[5] ब्रह्मज्ञान की प्रवृत्ति का भी मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है।[6]

शिक्षा द्वारा व्यक्ति की जब अविद्या का अपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा हो जाती है तो उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। यही सर्वात्मभाव व्यक्ति का मोक्ष है।[7]

मनुष्य के लिये शिक्षा परमावश्यक ही नही अपितु अपरिहार्य है क्योंकि इसके अभाव में उसकी भेदबुद्धि का परिहार नहीं हो सकता है। और भेदबुद्धि के रहते हुए

---

1. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०29।
2. डा० राधाकृष्णन्–प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ०31।
3. तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा० (1-11 मोक्ष साधना), वही, पृ० 86।
4. श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी (श्लोक-11) वही, पृ०12–13।
5. कठोपनिषद् (सम्बन्ध भाष्य) शां०भा०, वही पृ० 13।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (1-4-7), वही, पृ०223।
7. वही (4-3-20) पृ०965।

व्यक्ति में सर्वात्मभाव का उदय नहीं हो पाता है।[1] अतः आचार्य शंकर की मोक्ष की व्याख्या में सामाजिकता का भाव समाहित हो जाता है और इससे उस आरोप का भी निराकरण हो जाता है कि मोक्ष की कल्पना केवल व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि में रखते हुए की गई है।[2]

शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य को जब आत्मबोध हो जाता है तो उसके अध्यास (अज्ञान) जन्य मिथ्या बन्धन का उच्छेद हो जाता है। यही मोक्ष है।[3] शिक्षा व्यक्ति के अज्ञान का निराकरण कर उसमे आत्मज्ञान का विकास करती है और व्यक्ति ने जिन कल्पित बन्धनो का अपने पर आरोपण कर रक्खा है उनका परिहार करती है। शिक्षा मोक्ष प्राप्ति का एकमेव साधन है। शंकर-दर्शन में मुक्ति को न उत्पत्ति वाला और न पहले से अप्राप्त माना जाता है बल्कि यह तो प्राप्त की प्राप्ति-मात्र है। यह शाश्वत सत्य का अनुभव है। जो सत्य सर्वदा से है उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। किसी व्यक्ति के अपने कंठगत हार को भूलवश इधर उधर ढूँढने के प्रयास में लग जाने पर जब किसी अन्य व्यक्ति से यह पता चलता है कि हार उसके गले में है तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता है। ठीक यही स्थिति मुक्ति की है। वह सदैव हमारे पास है। भ्रमवश उसका विस्मरण रहता है। इस भ्रमजन्य अज्ञान का आवरण दूर करना ही मुक्ति है।[4] शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में निहित मुक्तावस्था का प्रकाशन है। अतः ज्ञान को साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना जाता है।[5]

आचार्य शंकर ने ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मानुभूति को मोक्ष माना है।[6] शांकर दर्शन में ब्रह्म पूर्णता का वाचक है और यह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सत्ता की प्रतीति कराता है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है।[7] मुक्ति की कल्पना मे मनुष्य की पूर्णता

---

1. "ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।" माण्डूक्यकारिका (1-18), वही, पृ०67।
2. तुलना कीजिए—डा० राधाकृष्णन्—"मोक्ष का अर्थ है मानव-प्रकृति का पुनः एकीकरण।" –'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार'–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ०59।
3. केनोपनिषद्, शां०भा० (खं०–3), वही, पृ०107।
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा०, (3-2-6-29), गोविन्दमठ. टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 635।
5. श्री शंकराचार्य-विरचित-प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रहः—सम्पादक-एच०आर० भगवत्, पूना शहर।
6. "ब्रह्मभावश्चमोक्षः।" ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-4-4), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०67।
7. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1–1–1–1), वही, पृ०30।

का विकास निहित है।[1] शिक्षा मनुष्य में सदैव से विद्यमान पूर्णता को विकसित करती है। अतः आचार्य शंकर के मत में मुक्ति को ज्ञानमूलक स्वीकार किया गया है और वह भारतीय दर्शन में पहले ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने वैचारिक क्षेत्र में ज्ञान की सर्वोच्चता को स्थापित किया है।

शंकर के अनुसार शिक्षा वस्तुतः एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति को वही बना देता है जो वह है। अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराना ही उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।[2] उनकी मुक्ति की कल्पना में आत्मबोध, ब्रह्मबोध तथा सर्वात्मभाव इत्यादि सभी का समावेश है। अतः मोक्ष को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानने के कारण शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य शंकर के अनुसार मुक्ति-प्राप्ति होना चाहिए।[3]

आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षा के मूल्य—

आचार्य शंकर ने जिस प्रकार से शिक्षा के महान् उद्देश्यों की कल्पना की थी उसी प्रकार उन्होंने शिक्षा के मूल्यों को भी प्रस्थापित किया है। जीवन के मूल्य ही शिक्षा के मूल्यों का निर्धारण करते हैं। मानव-जीवन जितना उदात्त, उच्च प्राञ्जल होता है उतने ही श्रेष्ठ महान् एवं आदर्श मूल्यों का विकास उसमें होता है। मानव-जीवन की विविधता विभिन्न प्रकार के जीवन मूल्यों की जननी है। नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय मूल्यों के विकास में मानव-जीवन के विविध पक्षों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का योगदान रहा है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार मनुष्य को आत्मा, सत्य और सौजन्य के चिरन्तन मूल्यों के लिए जीवित रहना है।[4] इस प्रकार मूल्य जीवन के चिरन्तन प्रेरणास्रोत होते हैं। इसलिए प्रत्येक महापुरुष, विचारक तथा शिक्षा दार्शनिक ने जीवन मूल्यों की अपनी विचारधारा के अनुरूप कल्पना की है। भगवान् शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य एक आध्यत्मिक प्राणी है। उसमें सर्वोच्च सत्य की शाश्वत उपस्थिति है। यही सत्य ब्रह्म है। फलतः मानव जीवन ब्रह्म का प्रकाशन है।[5] इसलिए आचार्य शंकर के अनुसार मानव जीवन के मूल्यों का आधार आध्यात्मिक एवं धार्मिक होना चाहिए।

---

1. तुलना कीजिए—"मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।" स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ०8।
2. ऐतरेयोपनिषद् शां०भा० (2–1–प्रस्तावना) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०66।
3. गीता शां०भा० (18), वही, पृ०460।
4. डा० राधाकृष्णन्—'प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार', राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पृ०62।
5. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा०(6–8–7) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०661।

"ब्रह्मवेत्ता का ऐसा कोई धन नही है, जैसा कि एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिति, अहिंसा, सरलता और विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से निवृत्ति होना है।[1]" आचार्य शंकर के इन शब्दों में भारतीय संस्कृति के चिरन्तन मूल्यो को ब्रह्म-ज्ञानी का अनुपम धन बताया है। शिक्षा शिक्षार्थी में इन मूल्यों को विकसित करती है और उसे समाज-सेवा तथा लोकोपकार के लिये तैयार करती है। इसी प्रकार उन्होंने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, त्याग, सन्यास, शौच (शुद्धि) एव सन्तोष तथा निष्कपटता आदि को जीवन के मूल्यो के रूप मे स्वीकार किया है।[2] सत्य के लिए तो उन्हें इतना आग्रह है कि मिथ्या भाषण करने वाले को वह समूल नष्ट होना लिखते है।[3] और सत्यवादी विजयी होता है।[4] तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति उनके अनुसार महिमा का अनुभव करता है।[5] उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा व्यक्ति के अन्तःकरण को निर्मल बनाकर उसमे विशेष आनन्द का वर्धन करती है।[6] दान, दया और दमन (जितेन्द्रियता) से व्यक्ति में श्रेष्ठ गुणों का विकास होता है।[7] क्रोध, झूंठ, लोभ, तृष्णा तथा कामवासना को मनुष्य का महान् शत्रु बताकर उन्होने जीवन में शान्ति, सत्य, अतृष्णा तथा लोभराहित्य एवं निष्कामता के महत्त्व का प्रति-पादन किया है।[8] इसी प्रकार जीवन में पुरुषार्थ (परिश्रम) और उत्तम चरित्र की शिक्षा का समर्थन उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है।[9]

हम सभी यह स्वीकार करते है कि मानव जीवन में प्रेम, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयान्धता की अपेक्षा अधिक महत्त्व एवं मूल्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर ने इन सद्गुणो को वेदान्त की शिक्षा के मूल्यों के रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नही वरन् शांकर दर्शन का यह सिद्धान्त कि—सभी जीव एक है, 'सब प्राणियों में एक ही आत्मा है' उपर्युक्त मूल्यों तथा सद्गुणों को जितना प्रेरित तथा विकसित कर सकता है उतना अन्य कोई सिद्धान्त नहीं। आचार्य शंकर ने समग्र

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (4–4–9), वही, पृ० 1076।
2. प्रश्नोपनिषद् (5-1) शां०भा०, वही, पृ०82।
3. वही (6–1) पृ०95-96।
4. मुण्डकोपनिषद् (3-1-6) शां० भा०, वही, पृ० 94।
5. प्रश्नोपनिषद् (5–3) शां० भा०, वही, पृ० 85।
6. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-5-1) शां०भा०, वही, पृ० 147-48।
7. बृहदारण्यकोपनिषद् (5–2–3) पर शां०भा० द्रष्टव्य।
8. श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी (श्लोक-21) वही, पृ० 19-20।
9. प्रश्नोत्तरी (श्लोक 5 तथा 8) द्रष्टव्य।

जीवन दर्शन तथा शिक्षा सिद्धान्त का आधार आत्म दर्शन या ब्रह्म साक्षात्कार को को स्वीकार किया है। यही उनके अनुसार शिक्षा का सर्वोच्च मूल्य तथा लक्ष्य है। उनके शिक्षा दर्शन की पृष्ठभूमि मे जीवन के लक्ष्यो तथा मूल्यों की मीमासा डॉ० बलदेव उपाध्याय के शब्दों मे यहाँ उल्लेखनीय है—"वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। जो आलोचक वेदान्त के ऊपर निष्क्रियता की शिक्षा देने का आरोप लगाते है वे सत्य से बहुत दूर है। वेदान्त विश्व के भीतर प्रत्येक जीव मे, प्रत्येक प्राणी मे विद्यमान ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाता है। जब सब जीव, ब्रह्म के ही रूप है और प्रकारान्तर से वे अपने ही अविभाज्य रूप ठहराते है, तब ईर्ष्या द्वेष के लिये स्थल ही कहाँ रहा ? वेदान्त विषय सुख को तुच्छ सिद्धकर जीवों को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। विषय का सुख क्षणिक होता है, परन्तु आध्यात्मिक सुख ही सच्चा तथा चिरस्थायी होता है और वेदान्त उसी की ओर बढ़ने के लिये जीवो मे स्फूर्ति भरता है। वेदान्त प्रत्येक जीव में अनन्त शक्ति सम्पन्न होने की शिक्षा देकर उसे आगे बढ़ने का उपदेश देता है। नर से नारायण बनने का अमूल्य आदर्श वेदान्त हमारे सामने रखता है। वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना वेदान्त की महनीय शिक्षा आज शुद्ध स्वार्थ की भावना से अस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिये अमृतमयी है। विषय विस्तार को दृष्टि मे रखते हुये इसका यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा है। आज के पश्चिमी संसार में, विशेषत: अमेरिका मे वेदान्त के प्रचुर प्रचार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छिपा है।"[1]

शांकर शिक्षा के उद्देश्यों तथा मूल्यों से सम्बन्धित निष्कर्ष बिन्दु निम्न-लिखित हैं—

1. शिक्षा के उद्देश्यों तथा मूल्यों के निर्धारण में भौतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिये।
2. शिक्षा के उद्देश्यों की परिकल्पना में जीवन-लक्ष्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।
3. आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्मदर्शन अथवा मोक्ष-प्राप्ति जीवन का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च लक्ष्य है।
4. मोक्ष शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य होने पर भी गौण एवं सहकारी रूप मे अन्य उद्देश्यों को भी शांकर शिक्षा-दर्शन में स्वीकार किया गया है।
5. आत्मानात्म विवेक का उद्देश्य ऐसा है जिसमें व्यक्ति के यथार्थ ज्ञान का भाव निहित है।

---

1. डॉ० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, बाराणसी, पृ० 384.

6. ब्रह्मनिष्ठा का उद्देश्य व्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रेतिरकर उसमें पूर्णता लाता है ।
7. आत्मनिष्ठा का उद्देश्य मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार द्वारा ब्रह्मात्मैक्य (अद्वैतभाव) की अनुभूति कराता है । आचार्य शंकर के अनुसार यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है ।
8. अद्वैतभावना के उद्देश्य का निर्धारण आचार्य शंकर के सामाजिक दृष्टि-कोण को इस रूप में प्रकट करता है कि वह शिक्षा द्वारा न केवल मानव समाज में वरन् समस्त प्राणी जगत में ऐक्य का भाव अनुभूति स्तर तक विकसित करना चाहते हैं ।
9. आचार्य शंकर के अनुसार धर्म मानव जीवन के अभ्युदय का मूल-भूत आधार होने से शिक्षा के उद्देश्यों में व्यक्तियों की धार्मिक भावना का विकास समाविष्ट करना वान्छनीय ही नहीं प्रत्युत आवश्यक भी है ।
10. ज्ञानार्जन तथा जीवन के साफल्य में वैराग्य के महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है । अत: शिक्षा द्वारा वैराग्यमूलक जीवन का विकास करना श्रेष्ठ मानव के निर्माण का मुख्य सोपान है ।
11. आचार्य शंकर की मोक्ष-कल्पना में वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास की वान्छनीय तथा कल्याणकारी दिशा का निर्धारण हुआ है । इसी कारण मुक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य को उन्होंने अन्तिम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है ।
12. सत्य, अहिंसा, दया, अपरिग्रह, एकता, प्रेम, सहानुभूति तथा तप एवं श्रद्धा आदि ऐसे जीवन मूल्य हैं जो भारतीय शिक्षा को सांस्कृतिक विरासत में प्राप्त हुए हैं । आचार्य शंकर ने इन सबको शिक्षा के मूल्यों के रूप में प्रतिपादित कर जिस शिक्षा-दर्शन का प्रणयन किया है, वह भारतीय शिक्षा-दर्शन की अमूल्यनिधि है ।

शिक्षा-पद्धतियाँ

पठितं श्रुतमादरात पुनः पुनरालोक्य रहस्य नूतनकम् ।
प्रविज्य निमज्जतः सुखे स विशेमान् विदयेयतां सुधी ।।[1]

तद् विद्धि विजानीहि येन विधिना प्राप्ते इति आचार्यान् अभिगम्य प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारः तेन कथ बन्धः कथ मोक्षः का विद्या का च अविद्या इति परिप्रश्नेन सेवया गुरुशुश्रूषया ।।[2]

ज्ञान की प्राप्ति के लिये केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्णसार है।[3]

शिक्षण विधि का चयन दर्शन पर निर्भर करता है। किल पैट्रिक (Kilpatrik) ने शिक्षा प्रणाली में दर्शन के महत्व को स्वीकार करते हुये 'प्रणाली का दर्शन (Philosophy of Method) शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी शिक्षक शिक्षा में जो प्रणाली प्रयोग करता है उसके पीछे उसका अपना शिक्षा-दर्शन होता है। वास्तव मे यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो प्रणाली क्या है, वह शिक्षक और शिक्षार्थी मे सम्पर्क स्थापित करने की प्रक्रिया है और जब तक इस प्रक्रिया का लक्ष्य स्पष्ट न हो तब तक इसका स्वरूप निश्चित नही किया जा सकता है। शिक्षा के निश्चित उद्देश्य अथवा समुचित जीवन-दर्शन के अभाव में किसी शिक्षक द्वारा अपनायी गई शिक्षण विधि छात्र का कल्याण नही कर सकती है। कोई भी

---

1. श्री शकर दिग्विजय (माधव कृत) (5-32)-श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० 137।
पढे हुये तथा सुने हुये पाठ का एकान्त मे बारम्बार आलोचना कर, सार तथा असार वस्तुओं का विवेचन करके अखण्ड ब्रह्म का अनुभव करने वाले विद्यार्थियों को विद्वान शंकर ने अद्वैत के आनन्द मे निमग्न कर दिया।
2 श्रीमद्भगवद् गीता शां०भा० (4-34) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 136।
वह ज्ञान जिस विधि से प्राप्त होता है वह तू जान यानी सुन। आचार्य के के समीप जाकर भली भाँति दण्डवत् प्रणाम करने से एवं किस तरह बंधन हुआ? कैसे मुक्ति होगी? विद्या क्या है? अविद्या क्या है? इस प्रकार (निष्कपट) प्रश्न करने से और गुरु की यथा योग्य सेवा करने से (वह ज्ञान प्राप्त होता है)।
3. स्वामी विवेकानन्द-शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर. पृ० 14।

शिक्षक दर्शन की अवहेलना नहीं कर सकता है[1] क्योंकि ऐसा करके वह अपनी शिक्षण-प्रणाली निश्चित नही कर पाता है।

शिक्षा-प्रणाली के निर्धारण में जहाँ पाठ्यविषयो का ध्यान रखा जाता है वहाँ शिक्षा के उद्देश्यों को ठीक प्रकार से प्राप्त करने के लिये उसके स्वरूप का भी निश्चय किया जाता है। वस्तुत: शिक्षा-प्रणाली वह साधन है जिससे शिक्षा के उद्देश्यो को प्राप्त किया जाता है। जैसे शिक्षा के उद्देश्य होते है उन्ही के अनुकूल शिक्षा प्रणालियाँ होती है। शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के आधार पर होता रहा है। इस संबंध में गत अध्याय मे पर्याप्त विवेचना हो चुकी है। यहाँ तो हमारे लिये इतना ही विवेच्य है कि विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराओं के फलस्वरूप शिक्षा-जगत् में किस-किस प्रकार की शिक्षण-विधियों का विकास हुआ है? आचार्य शंकर-द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणालियों पर विचार करने से पूर्व इस सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं पौवत्यि दृष्टिकोण का अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं अपितु वान्छनीय भी है क्यों कि प्रत्येक शिक्षा शास्त्री ने जिन शिक्षा-पद्धतियों का प्रतिपादन किया है उनका आधार एक विशिष्ट प्रकार का दर्शन होने से उनकी पृथक्-पृथक् मीमांसा करने से शंकराचार्य की शिक्षण-प्रणालियों का भली-भाँति मूल्यांकन तथा अवधारण करने मे सहयोग मिलेगा।

पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा-पद्धतियाँ :

आदर्शवाद तथा शिक्षण-विधियाँ—

शिक्षण-विधियों के सम्बन्ध में आदर्शवादियों का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक रहा है। विचारधारा के अनुसार ऐसी शिक्षा-प्रणाली होनी चाहिये जिससे बालक की आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास हो सके और वह परम मूल्यों का साक्षात्कार कर सकें। एच० एच० हार्न के शब्दों में—"शिक्षा ईश्वर के साथ शारीरिक एवं मानसिक रूप मे विकसित, स्वतन्त्र सचेतन व्यक्ति के श्रेष्ठ समायोजन की शाश्वत प्रक्रिया है जिसका प्रकाशन मनुष्य के बौद्धिक, साम्वेगिक तथा क्रियात्मक वातावरण में होता है।[2] आदर्शवादी शिक्षक अपनी विधि का स्वयं निर्धारण करता है। वह किसी एक विधि से बंधना पसन्द नहीं करता है। अत: उसका यह कथन है—"हम प्रयोग, क्रिया तथा प्रोजैक्ट में विश्वास करते हैं। हमारा आग्रह है कि क्रिया अनेक विधियों मे से एक है, कोई विधि नही है। बहुत सी विधियाँ है जिनमें से हम उनका

---

1 Rusk, R.R. *The Philosophical Bases of Education*, University of London Press, P. 12 ।

2. Horne H H. *The Philosophy of Education*, Revised Edition, Macmillan Co. New York, P.285. ।

चयन कर सकते हैं जो हमारे उद्देश्यों की पूर्ति समय पर सर्वोत्तम ढंग से कर सकें ।[1] आदर्शवादी शिक्षा-प्रणाली में आदेश (Instruction), क्रिया (Activity) तथा अनुभव (Experience) पर विशेष जोर दिया गया है। आदेश का आशय अध्यापक निर्देशन से है। क्रिया द्वारा छात्र को मानसिक एवं शारीरिक रूप में सक्रिय रखकर उसे आत्माभिव्यक्ति (Salf-expression) की ओर अग्रसर किया जाता है। शिक्षक को अपने अनुभव को बालक के मस्तिष्क में नही भरना है बल्कि स्वयं विद्यार्थी के अनुभवों से उसे अर्न्तदृष्टि प्राप्त करानी है। शिक्षक विद्यार्थी को जो अनुभव देता हैं उनसे उसकी निहित क्षमताओं की अभिव्यक्ति होती है। इन सबके आधार पर आदर्शवाद में निम्नलिखित तीन विधियों का बटलर के अनुसार महत्त्वपूर्ण स्थान है।[2]

(1) **प्रश्न तथा सामूहिक चर्चाविधि** (Question and Discussion Method)—सुकरात व्याख्यान, वाद-विवाद (Lecture Method, debating Method) और प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग किया करता था और उस समय के युवको को शिक्षा दिया करता था। सुकरात का शिष्य प्लेटो प्रश्नोत्तर विधि के साथ-साथ सम्वाद विधि (Dialectic Method) का प्रयोग करता था। उनका शिष्य अरस्तु आगमन-निगमन विधियों पर बल देता था। प्रश्न विधि का विकास परिचर्चा मे हो जाता है। छात्रपरस्पर किसी विषय को लेकर चर्चा करने लगते हैं।

(2) **व्याख्यान विधि**—आदर्शवाद यह नही कहता कि शिक्षक अपनी ओर से कुछ दे ही नहीं। अतः कही-कहीं व्याख्यान विधि अपनाने मे वह सकोच नही करता है। वह कक्षा में व्याख्यान करता है। वह सामूहिक चर्चा का आश्रय लेता है और कभी-कभी महत्त्वपूर्ण विषयों के स्पष्टीकरण मे वाद-विवाद विधि का आश्रय लेता है। शिशुओं को कहानी सुनाकर (Story telling Method) शिक्षा देना आदर्शवादियों को अभीष्ट है। किशोरों को वार्तालाप तथा नाटक विधि से शिक्षा देना भी आदर्शवाद में स्वीकार्य है। शिक्षकों अथवा महापुरूषो के आचरण का अनुकरण (Imitation), पत्र-व्यवहार, खेल द्वारा शिक्षा (Play way) हरबार्ट की पचपदी (Herbartian Five Formal Steps) तथा पेस्टालाजी की अभ्यास और आवृत्ति-विधि (Practice & Repetition Method) आदि प्रणालियाँ आदर्शवाद मे प्रचलित हैं

(3) **प्रोजेक्ट विधि** (Project Method)—इसमे छात्र एकाकी अथवा समूह में किसी रचनात्मक कार्य का सम्पादन करते है। इसमें छात्रो का शैक्षिक भ्रमण सम्मिलित हैं जिसमें छात्र विद्यालय के बाहर अपना ज्ञानवर्धन करते है।

---

1. Butler, J.Donald *Four Philosophies,* Harper & Row Publishers New York, Bvanston and London, P. 259.
2. Ibid, Page 259-61 ।

प्रकृतिवाद तथा शिक्षणविधियाँ

अध्यापक की क्रियाशीलता की अपेक्षा प्रकृतिवाद में छात्रों की क्रियाशीलता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। उनके अनुसार अनुभव तथा क्रिया शिक्षा के मूल आधार है। बालक को सीखने के लिए प्रेरित करना प्रकृतिवादी शिक्षक को अभीष्ट है। वह बालक के लिए ऐसी व्यवस्था करता है जिससे बालक यह समझता है कि वह खोज कर रहा है। प्रकृतिवाद शिक्षण-विधियों में खेल द्वारा शिक्षा-पद्धति (Play Method), प्रोजेक्ट विधि, स्काउट आन्दोलन, स्कूल यूनियन, बालक क्लब इत्यादि को महत्त्वपूर्ण मानता है। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक हरबार्ट स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित शिक्षणविधि के निम्न आठ सिद्धान्तों का बटलर ने अपनी पुस्तक 'फोर फिलास्फीज' में वर्णन किया है।[1] जिनका यहां विवेचन करना समीचीन होगा :—

1. शिक्षा मानसिक विकास तथा शारीरिक विकास के अनुकूल होनी चाहिए।
2. शिक्षा सुखमय होनी चाहिए।
3. शिक्षा में बालक को स्वयं क्रियाशील होना चाहिए।
4. ज्ञानार्जन शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।
5. शिक्षा मन और शरीर दोनों के लिये समानरूप से है।
6. शिक्षा प्राकृतिक विकास का अनुगमन करे।
7. शिक्षा में आगमनविधि का प्रयोग होना चाहिए।
8. दण्ड प्राकृतिक होना चाहिए।

इस प्रकार प्रकृतिवादी शिक्षक स्वयं करके सीखने तथा स्वानुभव द्वारा सीखने (Learning by doing & Learning by Experience) पर बल देता है। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी शिक्षा दार्शनिक रूसो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा (Education through senses) का प्रतिपादन करता है—"अपने शिष्य को किसी प्रकार का मौखिक पाठ न दो क्योंकि उसे केवल अनुभव द्वारा सीखना है।"[2] इस विचारधारा ने शिक्षण की अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों को जन्म दिया है। खोजविधि (Heuristic Method) तथा डाल्टन प्रणाली (Dalton Method) इन्हीं क्रियाओं पर आधारित है। भाषा शिक्षण की प्रत्यक्ष-विधि तथा भूगोल-शिक्षण की निरीक्षण-विधि (Direct & Observation Methods) प्रकृतिवादी विचारधारा की देन है। इन सभी विधियों में बच्चों की व्यक्तिगत रुचियो, रुझान, योग्यता एवं क्षमताओ पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार यह कहना उचित ही है कि प्रकृतिवाद ठोस दार्शनिक विचार-

---

1. Butler, J. Donald–*Four Philosophies*, Harper & Row Publishers, New York, Evanston and London, P. 110-12.
2. "Rousseau, J. J., *Emile*, New York Dent, P 57 & 59.

धारा के अभाव में भी शिक्षणविधियों की दृष्टि से बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि उसने मनुष्य की प्रकृति को महत्त्व दिया है और उसकी प्रकृति के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था की है।

यथार्थवाद तथा शिक्षण-विधियाँ

इस विचारधारा में ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार माना जाता है। प्रारम्भ से ही बालक की ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर बल दिया जाता है इसके लिये कमेनियस ने शिशुओं की शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण के महत्त्व को स्वीकार किया है। मिल्टन ने भ्रमण एवं यात्रा को महत्वपूर्ण बताया है और लाक ने निरीक्षण, देशाटन एवं अनुभव द्वारा सीखने की बात कही। यथार्थवादी विचारधारा वस्तु को अनुभूति का आधार मानती है। इसलिए उन्होंने वस्तुओं को शिक्षा के साधन के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ किया। उनके अनुसार पदार्थ वास्तविक होते हैं और शब्द उनके प्रतीक। शब्द और पदार्थ को संयुक्त करने से ही अर्थ की उत्पत्ति होती है इसलिए पहले पदार्थ दिखाना चाहिए फिर उसके लिए शब्द देना चाहिए। परिणामस्वरूप शिक्षा में दृश्य-श्रव्य साधन (Audio-Visual-aids) का प्रयोग होने लगा, भ्रमण को स्थान (Excursion) मिला और पाठ्यसहगामी क्रियाओं (Co-Curricular Activities) का महत्त्व बढ़ा।

शिक्षणविधियों के सम्बन्ध में यथार्थवादी विचारधारा में निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :—

1. ज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं। अतः शिक्षण में केवल तथ्यों पर बल देना चाहिए।
2. ज्ञान की अभिव्यक्ति में संकेतों का प्रयोग सीमित होना चाहिए।
3. भाषा भावों की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम है। अतः यह शिक्षण का प्रमुख माध्यम होना चाहिए।
4. पदार्थ यथार्थ होता है, भाषा के शब्द उसके प्रतीकमात्र होते हैं। अतः प्रतीक (शब्द) और मूलवस्तु से सम्बन्ध स्थापित करते हुए शिक्षा दी जानी चाहिए।
5. सत्यकथन से ही छात्र विषय का तथ्य समझ पाता है, इसलिये असत्य-कथन का सहारा शिक्षण में कभी नहीं लेना चाहिए।
6. प्रत्यक्ष-प्रमाण जनित ज्ञान पर अधिक बल देना चाहिए।
7. शिक्षा-प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए जो बालकों को यथार्थ ज्ञान के पास पहुँचा सके।
8. कक्षा में ऐसे वातावरण का निर्माण होना चाहिए जिससे तथ्यों का यथार्थरूप में ज्ञान प्राप्त हो सके।
9. सत्य-निरुपण में काल और स्थान सिद्धान्त की सापेक्षता को ध्यान में रखना चाहिए।

10. भागों का अपने-आप में अस्तित्व है। सम्पूर्ण तो भागों का परिणाम है। अतः शिक्षण-विधि ऐसी हो कि छात्र तथ्यों को तर्कपूर्ण ढंग से वर्गीकृत करने में समर्थ हो सके।

व्यवहारवाद तथा शिक्षणविधियाँ

व्यवहारिकतावादी ड्यूवी शिक्षा के दो अंग मानता है—एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञानिक अंग से तात्पर्य सीखने वाले की जन्मजात शक्ति, रुचि, रुझान और योग्यता से होता है। मनुष्य का विकास उसकी इन जन्म-जात शक्तियों के आधार पर ही होता है। इसीलिए व्यवहारिकतावादी शिक्षण-विधियों के विधान में बालक की जन्मजात शक्तियों, रुचियों, रुझान और योग्यता का ध्यान रखते है।

व्यवहारवादियों के अनुसार बच्चे जन्म से ही क्रियाशील होते हैं। वे सदैव क्रिया करते हैं और इन क्रियाओ के परिणाम विचारों को जन्म देते हैं। अतः बच्चों को स्वयं क्रिया करके अनुभव से सीखने देना चाहिए। यह विधि 'प्रयत्न और भूल' (Trial and Error) अथवा प्रायोगिक विधि (Experimental Method) के नाम से प्रसिद्ध है। प्रयत्न और भूल की क्रिया पर आधारित शिक्षण के सम्बन्ध में ड्यूवी का कथन है—"बालक पुस्तक पढकर नही सीखता अथवा व्याख्या सुनकर नही सीखता ···किन्तु स्वयं को प्रज्वलित और पोषित करके सीखता है, जिसका आशय क्रिया करने से है······हाथ, आँखें, कान वस्तुतः सारा शरीर सूचना के स्रोत बन जाते हैं, जबकि अध्यापक तथा पाठ्य पुस्तकें क्रमशः आरम्भक एवं परीक्षक ही रहती है।"[1] इस प्रकार व्यवहारवाद मे 'भूल और प्रयत्न' के आधार पर 'करके सीखने' की विधि का विकास हुआ है। अतः ड्यूवी के अनुसार किसी भी बात को सीधे नहीं सिखाया जाना चाहिए, अपितु क्रिया द्वारा सिखाना चाहिए।

शिक्षा के सामाजिक अंग को स्वीकार करते हुए व्यवहारवाद मे शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसका संचालन सामा-जिक वातावरण में ही सम्भव है। इसलिये व्यवहारवादियों ने क्रियात्मक स्वानुभव मूलक और प्रयोगात्मक पद्धतियों को शिक्षणविधियों के क्षेत्र मे महत्त्व दिया है। उनके शिक्षण सम्बन्धी इन सिद्धान्तों पर अनेक विधियों का निर्माण हुआ है जिनमें ड्यूवी के शिष्य किलपैट्रिक की प्रोजेक्ट विधि का विशेष महत्व है। उनके अनुसार योजना (Project) वह उद्देश्यपूर्ण कार्य है जिसे व्यक्ति पूर्ण मनोयोग से स्वाभाविक परिवेश मे पूरा करता है।

---

1. "Dewey, John–*Schools of Tomorrow*, Dent & Sons, London, P. 80-98.

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा-पद्धतियाँ

शिक्षणविधियों के सम्बन्ध मे प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियो का दृष्टिकोण बडा व्यापक तथा मनोवैज्ञानिक रहा है। इस सन्दर्भ मे अथर्ववेद का एक मन्त्र यहाँ पर उल्लेखनीय है[1] जिसमे यह कहा गया गया है कि शिक्षक शिष्य को देवीय मन से पढाए और इस प्रकार पढाए कि उसमें रमणीयता रहे और उससे सफलता मिले। इस मन्त्र को ध्यानपूर्वक देखने पर शिक्षणविधियो के सभी पहलुओं का स्पर्श हो जाता है, जैसे शिक्षक की मानसिक स्थिति देवीय अर्थात् निर्मल एवं स्वच्छ शिक्षार्थी की मानसिक स्थिति प्रसन्नचित्त और शिक्षण का परिणाम सफलता की प्राप्ति होना चाहिए। उपनिषद् साहित्य मे श्रवण, मनन, निदिध्यासन, स्मृतिकरण, प्रश्न अनुप्रश्न, व्याख्या, दृष्टान्त, आख्यायिका, व्युत्पत्ति, सम्वाद-विधि, सन्देपण विधि तथा प्रदर्शन-विधि अथवा प्रयोगशाला विधि अथवा प्रत्यक्षविधि प्रधान रूप मे प्रयोग की गई है।[2] इसके अतिरिक्त उस युग मे परिचर्चाविधि, आगमन और निगमन विधि (Inductive & Deductive Method) खेलविधि (Play Method) कहानी और नाटक विधियों (Story telling & Dramatic Methods) का भी प्रयोग होता था। न्यायदर्शन में आगमन विधि पर बल दिया जाता था। 'हितोपदेश' और 'पचतन्त्र' की रचना कहानी विधि के द्वारा हुई है। भरतमुनि ने नाटक की उपयोगिता जन-मनोरन्जन तथा हितोपदेश के लिए प्रतिपादित की है।

आधुनिक युग में भारतीय शिक्षाशास्त्रियों की विधियों मे प्राचीन विधियों तथा नवीन पाश्चात्य विधियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। 'मन की एकाग्रता' ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है चाहे विद्वान् अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है तो उसे उपर्युक्त प्रथा से ही काम लेना पडेगा।[3] मन की एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी।[4] एकाग्रता को सम्पादित करने हेतु स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर बल दिया है—"कडे ब्रह्मचर्य के पालन से कोई भी विद्या अल्पकाल मे ही अवगत की जा सकती

---

1 वाचस्पते देवन सह। वसोस्पते निरमय ॥ (अथर्ववेद–वाचस्पति सूक्त)।

2. R. N. Aralikatti, Tirupati, *Features of Upanishadic Methodology*—a comparative study, All India Oriental Conference, 1974, Kurukshetra University, Kurukshetra, P R—75, P. 309.

3 स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा–श्रीरामकृष्णआश्रम नागपुर, पृ० 14।

4. वही

है।"[1] वे बालक के स्वतन्त्र चिन्तन के पक्षपाती है—"तुम किसी बालक को शिक्षा देने में उसी प्रकार असमर्थ हो, जैसे कि किसी पौधे को बढाने में, पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है।"[2] इसी प्रकार सीखने में उन्होंने आत्मविश्वास और श्रद्धा के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का समर्थन करते हैं। बालकों को विशिष्ट प्रकार की आदतों का दास न बनाया जाय। अध्यापक को अपने शिक्षण की व्यवस्था यथार्थ जीवन की परिस्थितियो के द्वारा करनी चाहिए। अत: जहाँ तक सम्भव हो, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि का शिक्षण प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही प्रदान किया जाय। भ्रमण, दृश्य-दर्शन आदि प्रविधियों के द्वारा छात्रों को प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कराये जाने चाहिए। प्रकृतिवादियों तथा व्यवहारवादियों की भाँति टैगोर शिक्षण में क्रिया सिद्धान्त को स्वीकार करते है। उनके अनुसार बालक का चढ़ना, कूदना, बिल्ली के पीछे दौड़ना, फल तोड़ना, हंसना, चिल्लाना, ताली बजाना तथा अभिनय करना आदि ऐसी क्रियाएँ है जिनसे वे स्वयं बहुत कुछ सीख लेते है।

गाँधी जी ने शिक्षण के क्षेत्र में सबसे अधिक बल दिया है—'क्रिया पर' प्रकृतिवादी तथा व्यवहारवादी दार्शनिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर उन्होंने 'करके सीखना' और 'स्वय के अनुभव से सीखने' की विधि का प्रतिपादन किया था। अत: वह किसी हस्तकौशल अथवा उद्योग कार्य, प्राकृतिक पर्यावरण या सामाजिक पर्यावरण को शिक्षा का केन्द्र बनाने और समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं को उसके माध्यम से विकसित करने का समर्थन करते थे—"अध्यापकों को ग्रामीण बालकों को उनके ग्रामों में इस प्रकार से शिक्षित करना चाहिए जिससे अध्यारोपित प्रतिबन्धों तथा हस्तक्षेप से विमुक्त वातावरण में उनकी योग्यताओं का कतिपय चुने हुए हस्तकौशलों द्वारा विकास हो सके।"[3] इसके अतिरिक्त वह व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की विधियों का भी महत्त्व स्वीकार करते थे।

अरविन्द के अनुसार शिक्षा को मनुष्यो मे पहले से ही सुप्त शक्तियो का अनावरण और विकास करना है—"मस्तिष्क को ऐसा कुछ भी नही सिखाया जा सकता जो कि जीव की आत्मा के अनावरण में सुप्त ज्ञान के रूप मे पहले से ही गुप्त

---

1 वही, पृ० 17.

2. वही, पृ० 10–11.

3. Gandhi—M. K.—*Foreward to Basic National Education*, Published by the Hindustani Talimi Sangh.

न हो।"[1] अरविन्द ने ऐसी ही शिक्षण विधियों का समर्थन किया है जो बालक की सुप्त शक्तियों का जागरण करती है। उनकी शिक्षण विधियों मे निम्नलिखित तथ्यों की उपलब्धि होती है—

1 शिक्षण करते समय बच्चे की शारीरिक और मानसिक क्षमता तथा उसकी अपनी रूचियों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

2 बच्चों को क्रिया करने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए और उसे स्वयं-अनुभव से सीखने देना चाहिए।

3. बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने कार्य करने की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए।

4. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

5. शिक्षण में हर स्तर पर बच्चों का सहयोग लेना चाहिए।

आज शिक्षण के क्षेत्र में नई-नई विधियों के विकास से शिक्षा-शास्त्र अत्यन्त समृद्ध एवं उन्नत हुआ दिखाई पडता है। गत पृष्ठों में हमने जिन शिक्षण विधियों का उल्लेख किया है उनके सम्बन्ध में इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि उनके द्वारा शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति हो पाई है ? डा० दौलतसिह कोठारी के अनुसार "पिछले दशक में अध्यापक को मुख्य रूप से माध्यमिक स्तर पर नई शिक्षण पद्धतियों से परिचित कराने के लिये पुनश्चर्या पाठ्यक्रम, वर्कशाप तथा ग्रीष्म-कालीन संस्थानों के माध्यम से काफी प्रयास किए गये हैं। शहर के स्कूलों में दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग बढ़ रहा है और दिल्ली में तो अध्यापक की सेवा के लिए अध्ययन-कक्ष में टेलीविजन भी विद्यमान है, परन्तु फिर भी सामान्यतया यह मानना पडेगा कि हमारे अधिकांश स्कूलों की शिक्षण पद्धतियों पर ये क्रियाएँ कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही डाल पाई। ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषत: प्राथमिक स्कूलों की अवस्था इनसे कहीं अधिक शोचनीय है। सामान्य स्कूलों में आज भी शिक्षा एक यन्त्रवत् ढर्रे पर चल रही है तथा शाब्दिकता की पुरानी कुरीति से आक्रान्त है और इसलिये अब भी उतनी ही नीरस और प्रेरणाहीन है जितनी पहले थी।"[2] इन पंक्तियो के निष्कर्ष से स्पष्टत: यह विदित होता है कि आधुनिक शिक्षण विधियाँ समुचित रूप से फलदायी नहीं हो रही है। शिक्षण विधियों के निर्धारण में शिक्षा के स्वरूप, शिक्षा के उद्देश्यों तथा पाठ्यक्रमों इत्यादि सभी का ध्यान रखना चाहिए। आज

---

1. Sri Aurobindo—*The Synthesis of Yoga*. Sri Aurobindo Library Inc. New York, P. 2.
2. डा० दौलतसिह कोठारी—शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964–66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, 1968, पृ० 251–52।

शिक्षा का सम्बन्ध केवल मात्र व्यवसाय से जोड़ा जा रहा है। इसलिए शिक्षा को एक उद्योग के रूप में (Education is an Industry) प्रतिपादित करना इस युग का मुख्य नारा बन गया है। शिक्षक और शिक्षार्थी का प्रयोजन श्रमिकों की भाति श्रम द्वारा उत्पादन करना है। अत: आज शिक्षा सम्बन्धी विचारविमर्श के आयोजन को कार्यशाला (वर्कशाप) कहा जाता है। इस कार्यशाला में अध्यापक को सामान तैयार करके विक्रेता के रूप में माना जाता है और छात्र को क्रेता। आज शिक्षा को मात्र जीविकोपार्जन का साधन मानकर उसके उदात तथा प्राञ्जल स्वरूप की उपेक्षा की जा रही है जिसके कारण शिक्षा के उद्देश्यों तथा शिक्षण-विधियों का अवमूल्यन हो रहा है। अत: शिक्षा के उत्कर्ष तथा उन्नयन के लिए शिक्षा के आदर्शो, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के अनुरूप शिक्षा-प्रणालियाँ विचारणीय है।

शंकराचार्य तथा शिक्षण-पद्धतियाँ :

शिक्षण विधियो के निर्धारण में आचार्य शकर की स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। उन्होंने शिक्षा की अपनी संकल्पना के अनुरूप शिक्षण विधियों का निर्धारण किया है।[1] उनके द्वारा शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों तथा विधियों में कहीं भी असामन्जस्य नहीं दिखाई पडता है जबकि आधुनिक युग के शिक्षा शास्त्रियों मे यह दुर्बलता प्राय: देखने को मिलती है कि वे शिक्षण विधियों का निर्धारण शिक्षा की अपनी सकल्पना के अनुरूप नहीं कर पाये है। पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री फ्रोबेल शिक्षा का उद्देश्य अनेकता में एकता का विकास स्वीकार करते हैं किन्तु खेल विधि से उसकी उपलब्धि किस प्रकार सम्भव होगी? इसका समाधान उन्होंने कहीं नहीं किया है। इसी प्रकार अमेरिका का प्रसिद्ध शिक्षाविद् ड्यूवी सामाजिक कुशलता को शिक्षा का उद्देश्य मानता है किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए प्रोजेक्ट विधि की प्रस्तावना असामाञ्जस्यपूर्ण है। महात्मा गाँधी की क्राफ्ठ केन्द्रीय शिक्षण विधि से उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वर-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होना सम्भव नही दिखाई पड़ता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के उद्देश्य जितने श्रेष्ठ तथा उच्च होते हैं उनकी प्राप्ति के लिए उतनी श्रेष्ठ एवं उच्च शिक्षणविधियों की आवश्यकता होती है यदि हम ब्रह्म-विचार, आत्मज्ञान तथा ईश्वर-प्राप्ति जैसे महान् तथा श्रेष्ठ उद्देश्यों को लेकर शिक्षा-दर्शन का विकास करना चाहते है तो निश्चित रूप से हमें प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों से हटकर ऐसी विधियों का विकास करना

---

1. श्रोतव्य: पूर्वमाचार्यत आगमतश्च पश्चान्मन्तव्यस्तर्कत:, ततो, निदिध्यासितव्यो निश्चयेन ध्यातव्य: ह्यसो दृष्टो भवति श्रवणमननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितै: यदेकत्व·········बृहदारण्यकोपनिषद्, (2-4-5) पर शां० भा० दृष्टव्य।

होगा जिनके द्वारा छात्र ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सके। आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धतियों के विकास मे यही तथ्य निहित है। उनकी शिक्षा-पद्धतियो पर विचार करने से पूर्व उनकी ज्ञान मीमांसा विचारणीय है।

शांकर ज्ञान-मीमांसा :

आचार्य शंकर एकमात्र ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते है।[1] उन्होंने अपने ग्रंथों में ज्ञान का समालोचनात्मक विश्लेषण किया है। साथ ही ज्ञान के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार परम यथार्थ सत्ता अद्वैतरूप आत्मा है।[2] किन्तु समस्त निश्चयात्मक ज्ञान परम चैतन्य के परिवर्तन की इन विभागो में पूर्व कल्पना कर लेता है—

(1) एक ज्ञाता (प्रमातृ चैतन्य), बोध ग्रहण करने वाली चेतना, जिसका निर्णय अन्तःकरण के द्वारा होता है, (2) ज्ञान की प्रक्रिया (प्रमाण चैतन्य), बोध ग्रहण करने वाली चेतनता जिसका निर्णय वृत्ति अथवा अन्तःकरण के परिवर्तन के द्वारा होता है और (3) ज्ञात पदार्थ (प्रमेय विषय या विषय चैतन्य), यह वह चेतना है जिसका निर्णय ज्ञात विषय के द्वारा होता है। परम चैतन्य एक ही है,[3] जो सर्वव्यापी है, जो सबको प्रकाशित करता है, यह अन्तःकरण है, इसका परिवर्तित रूप विषय है। इसे अन्तःकरण का नाम इसलिए दिया गया है कि यह इन्द्रियो के व्यापारों का स्थान और उनके बाह्य गोलकों से भिन्न है। बाह्य इन्द्रियो से जो कुछ सामग्री इसे प्राप्त होती है उसे यह ग्रहण करता है तथा उसकी क्रमबद्ध व्यवस्था करता है।

आत्मा ही प्रकाश देने वाली है और अन्तःकरण इसी के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।[4] अन्तःकरण की आकृति में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन जो विषय को प्रकाशित करता है, वृत्ति कहलाती है। अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की है—अनिश्चय (संशय), निश्चय, गर्व (आत्म चेतना) और स्मरण। अन्तःकरण को तब मन कहते है जब यह संशय की स्थिति में होता है, निश्चयात्मक स्थिति में होने पर बुद्धि कहा जाता है, आत्म चैतन्य की स्थिति अहंकार कहलाती है, एकाग्रता और स्मरण की स्थिति चित्त कहलाती है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है। अतः हर मनुष्य का बोध भी भिन्न होता है।

---

1. गीता शां० भा० (9-1) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 226।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-4-6) वही, पृ० 1063।
3. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा०, (6-4-4), वही, पृ० 619।
4. उपदेशसाहस्री शंकरकृत (18-33-54) और तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1) पर शांकर भाष्य अवलोकनीय।

किसी वस्तु के बोध के समय हमारी इन्द्रियों का उस वस्तु से वास्तविक सम्पर्क होता है। इसी सम्पर्क से हमें वस्तु का बोध होता है। इसी को वेदान्त में प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जैसे मनुष्य जब किसी घड़े को देखता है तो उसकी आँखें उस घड़े पर जमती है और उसका अन्तःकरण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता है और इस प्रकार मनुष्य को घड़े का बोध होता है। मनुष्य का अन्तःकरण प्रकाश के समान कार्य करता है। एक विस्तृत-प्रकाश किरण के रूप में इसकी वृत्ति बाहर की ओर गति करती है। यह वृत्ति सूर्य की किरण के समान एक निश्चित दूरी तक ही जाती है। यही कारण है कि दूरस्थ पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान का आधार इसी वृत्ति को माना जाता है। वृत्ति ज्ञेय पदार्थ का रूप धारण करके पदार्थ के साथ एकाकार हो जाती है और इसका तादात्म्य अन्तःकरण में फैल जाता है। हमें जो कुछ प्रत्यक्ष होता है वह इसी वृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। यदि वृत्ति पदार्थ के वजन की आकृत्ति धारण करती है तो हमें वजन का प्रत्यक्ष होता है, रंग की वृत्ति हमें रंग का ज्ञान कराती है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्माकारवृत्ति उसे ब्रह्म का ज्ञान कराती है।

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षण-विधियाँ :

अन्तःकरण की वृत्ति को बोध का आधार मान लेने से शांकर वेदान्त में ज्ञान प्राप्ति के समस्त साधनों की प्रस्तावना में यही हेतु रहा है कि मनुष्य के अन्तःकरण में ब्रह्माकार वृत्ति का उदय किस प्रकार हो ? जिससे ब्रह्म-बोधरूप परम लक्ष्य की प्राप्ति मनुष्य को हो सके। इस दृष्टि से आचार्य शंकर ने विभिन्न विधियों का प्रतिपादन किया है। ये ही विधियाँ उनके अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का साधन होने से शिक्षा-पद्धतियों के अन्तर्गत आती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर की समस्त दार्शनिक विचार पद्धति का विकास उपनिषद्-दर्शन के आधार पर हुआ है।[1] उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण-विधियों का मूलोद्गम उपनिषद्-दर्शन है। आचार्य शंकर ने उपनिषद्-वर्णित शिक्षा-पद्धतियों को अपने सिद्धान्त के अनुसार विकसित, परिवर्द्धित एवं परिमार्जित करके प्रस्तुत किया है। इन पद्धतियों का विकास भले ही शांकर शिक्षा-दर्शन में मौलिक रूप से न हुआ हो किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में इन विधियों के उपयोग एवं महत्त्व की स्थापना में उनका प्रयास मौलिक ही नही वरन् स्तुत्य भी है। उनके द्वारा प्रतिपादित निम्नलिखित-शिक्षण विधियाँ हो सकतीहै—

1. श्रवण विधि,
2. मनन विधि,

---

1. मुण्डकोपनिषद् (1-1-5) शां० भा०, वही, पृ० 19।

3. निदिध्यासन विधि,
4. प्रश्नोत्तर विधि,
5. तर्क विधि
6. व्याख्या विधि
7. आध्यारोप-अपवाद विधि
8. दृष्टान्त विधि (उदाहरण विधि)
9. कथा-कथन विधि
10. उपदेश विधि

इन विषयों में प्रथम तीन विधियों—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को आचार्य शंकर ने ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से स्वीकार किया है।[1] शेष विधियों का उन्होंने प्रतिपादन प्रारम्भिक स्तर पर बोध कराने के लिए किया है। शिष्यों को ब्रह्म-बोध कराना कठिन होने से गुरु को अत्यधिक प्रयत्न की आवश्यकता है।[2] इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक विधियों का विकास हुआ है।

श्रवण-विधि

अध्यापक और छात्र के मध्य ज्ञान-प्राप्ति के लिए होने वाली क्रियाएँ शिक्षण-विधि के अन्तर्गत आती है। अतः शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा-प्राप्ति में शास्त्र और गुरु का उपदेश तथा छात्र की मानसिक तत्परता नितान्त अपेक्षित है।[3] सर्वप्रथम शिष्य (छात्र) को गुरु और वेद-वाक्य सुनना चाहिए।[4] शिक्षण मे गुरु शिष्य को ब्रह्म का उपदेश करता है। शिष्य शान्तिपूर्वक गुरु से उपदेश सुनता है। आचार्य शकर के अनुसार शिष्य की प्रथम स्थिति सुनने की होती है। श्रवण-विधि मे आचार्य, शास्त्र और शिष्य तीनो की प्रमुख भूमिका होती है। शिष्य को आत्मा का श्रवण आचार्य और शास्त्र के द्वारा करना चाहिए तथा मनन तर्क से करना चाहिए।[5]

ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप जब जिज्ञासु तथा अपेक्षित योग्यता सम्पन्न छात्र

---

1. श्वेताश्वतरोनिषद् (6-21) शां० भा० वही, पृ०257।
2. केनोपनिषद् शां०भा०, (1-3) वही, पृ०38-39।
3. "शास्त्राचार्योपदेशशमदमादि संस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्।" श्रीमद्भगवद्-गीता (2-21) शां० भा०, वही, पृ०46।
4. "श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्।" —श्री शंकराचार्य-प्रश्नोत्तरी, वही, पृ० 10।
5. "तत्र श्रोतव्य आचार्यागमाभ्याम्, मन्तव्यस्तर्कतः।" —बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा०, (2-5), वही, पृ०547।

जाता है तो उसे गुरु "तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो।[1]" आदि महावाक्य का उपदेश करता है। शिष्य इस उपदेश को सुनता है।उसका गुरु केउपदेश को शान्तिपूर्वक तथा श्रद्धा-पूर्वक सुनना ही श्रवण-विधि के अन्तर्गत आता है।[2] इस स्थिति में छात्र को तर्क-वितर्क आदि नहीं करना होता है। उसे एकमात्र गुरु से शास्त्र का उपदेश श्रवण करना होता है। छात्र को अध्यापक के निर्देशन को सुनना है और उसे अध्यापक से इस प्रारम्भिक सत्य से अवगत होना है कि आत्मा अनात्मा से भिन्न है। आत्मा को अनात्मा के रूप में पहचानना अज्ञान है। अज्ञान बन्धन का कारण है। इसका निराकरण ज्ञान से होता है।[3] यही सब कुछ श्रवण है। अतः जो अध्यापक छात्र को ज्ञान कराना चाहता है उसके द्वारा ज्ञानार्थी को ज्ञान का विषय ही दिखलाने पर विषय और प्रमाण के अनुसार उसको (छात्र) स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[4]

आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित श्रवणविधि आधुनिक युग की प्रवचन विधि (Lecture Method) की भाँति है। अध्यापक कक्षा में छात्रो के सम्मुख अपने विचार प्रकट करता है। छात्र शान्तिपूर्वक उनको सुनते हैं। लिखने योग्य सामग्री को लिखते रहते है। इसी प्रकार वेदान्त की श्रवण विधि में छात्र को वेदान्त विषय को अध्यापक से सुनना होता है। सुने हुए विषय पर युक्तिपूर्वक विचार करके छात्र बाद में मनन किये हुए पर स्थिर हो जाता है।[5]

मनन विधि

मनन का अर्थ विचार होता है। छात्र सुने हुए तक सीमित रहकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। श्रवण मनन की पूर्व भूमिका है। वेदान्त में श्रवण के पश्चात् मनन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।[6] छात्र अध्यापक से किसी विषय पर सुनकर तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकता है जब तक वह स्वय युक्ति (तर्क) द्वारा सुने हुए पर विचार नही कर लेता है। इस प्रकार मनन का आधार तर्क मानते हुए आचार्य शंकर का कथन है—"आत्मा का श्रवण तो आचार्य और शास्त्र के द्वारा

---

1. "तत्त्वमसि।"—छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
2. "Mukerji R. K. *Ancient Indian Education*, Sunder Lal Jain, Moti Lal Banarsidass, Bunglow Road, Delhi, p. XXXI.
3. Mookerji, R. K.—Ibid.
4. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (3-2-5-21), टेढीनीम, गोविन्दमठ, वाराणसी, पृ० सं० 626।
5. Ibid, P. XXXI.
6. ब्रह्मसूत्र शां०भा०, (1-1-4-4), वही, पृ०55।

करता चाहिए और मनन तर्क से करना चाहिए।[1]" शास्त्र (पाठ्यविषय) और युक्ति दोनों ही के द्वारा निश्चय किया हुआ अर्थ अव्यभिचारी होने के कारण श्रद्धेय होता है।[2] अतः छात्र के लिए केवलमात्र शास्त्र का अध्ययन ही पर्याप्त नही है बल्कि उसे अपने पढे हुए विषय को युक्तिपूर्वक विचारना चाहिए तभी उसका बोधपूर्ण हो सकता है।[3]

यहाँ इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर के अनुसार तर्क आदरणीय होकर भी केवलमात्र तर्क के लिए नही होता है। उसका प्रयोजन व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त कराना होता है। इसके अभाव में तर्क शुष्क हो जाता है और वह ग्राह्य नहीं रहता है। आचार्य शंकर श्रुति (वेद) से अनुगृहीत तर्क से मनन करने का प्रतिपादन करते है।[4] आचार्य शंकर तर्क के महत्त्व को वेद-प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में ही स्वीकार करते है।[5] छात्र को मनन करते समय वेदानुकुल तर्क का आश्रय लेना चाहिए। उसे शास्त्र और आचार्य के उपदेश का मनन करना चाहिए।[6] ऐसा करने पर ही उसे 'यह सब कुछ आत्मा ही है' इस भाव से आत्म साक्षात्कार हो पायेगा।[7] शिक्षण मे मनन के महत्त्व को प्रकाशित करने वाला आचार्य शंकर का यह कथन उल्लेखनीय है—"(पृथ्वी में गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिए जैसे) प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुष के कथन की, और फिर पृथ्वी को खोदने, कंकड़ पत्थर आदि को हटाने तथा (प्राप्त धन को) स्वीकार करने की आवश्यकता होती है—कोरी बातों से वह बाहर नही निकलता, उसी प्रकार समस्त मायिक प्रपञ्च से शून्य निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासन से ही प्राप्त होता है, थोथी बातों से नहीं।[8]"

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा०, (2-5) वही, पृ०580।
2. "आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थ श्रद्धेयो भवति।" वही (4-5), पृ०1128।
3. वही (3–1), पृ०619।
4. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-3-6) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०350।
5. ब्रह्मसूत्र (2–1–3–11) पर शां०भाष्य द्रष्टव्य।
6. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः, सम्पादक एच०आर० भगवत्, पृ० 40, पूना शहर।
7. छां०उ०(7-25-2) एवं गीता शांकर भाष्य (13-30), गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 346।
8. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि श्लोक (67), गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 24–25।

निदिध्यासन विधि

जिस प्रकार श्रवण की प्रक्रिया छात्र में मनन का उत्प्रेरण करती है उसी प्रकार मनन विद्यार्थी को निदिध्यासन की ओर उन्मुख करता है।[1] यह बोध की वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति का निश्चय स्थिर हो जाता है। उसका ध्यान परिपक्व हो जाता है यह शिक्षण की वह प्रक्रिया है, जिसका जाता है। आरम्भ छात्र की श्रवण क्रिया से होता है, और मनन जिसका मध्य होता है तथा जो निदिध्यासन तक पहुँचकर पूर्ण हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर छात्र का बोधपूर्ण विकसित हो जाता है। उसने अध्यापक के मुख से जिस ब्रह्मतत्त्व को सुना था, उसका भलीभाँति मनन करने के फलस्वरूप निदिध्यासन की स्थिति प्राप्त होने पर अब उस ब्रह्मतत्व का अनुभव छात्र को होने लगता है। इस प्रकार निदिध्यासन सीखने की वह स्थिति है जिसमे पहुँचकर शिक्षार्थी को सत्यानुभूति (ब्रह्म साक्षात्कार) हो जाती है।[2]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी को पहले शिक्षक से ब्रह्म तत्त्व का श्रवण करना होता है, फिर वह गुरु के उपदेश का तर्क एवं युक्ति से मनन करता है और उपदेश का भलीभाँति मनन कर लेने पर उसे ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में यह निश्चय हो जाता है कि यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार का नहीं है। उसका ऐसा निश्चय ही निदिध्यासन कहलाता है।[3] छात्र को शास्त्र ने जैसा निश्चय किया हो, वैसा ही तर्क से मनन करना चाहिए और जैसा तर्क से मनन किया गया है उस तर्क और शास्त्र से निश्चित किए हुए अर्थ का छात्र उसी प्रकार निदिध्यासन करता है।[4] अत: निदिध्यासन मे शिक्षार्थी श्रवण और मनन के आधार पर तथ्यों का ठीक-ठीक निश्चय कर लेता है। इसी कारण वेदान्त में आत्मज्ञान को पहले आचार्य से श्रवण करने योग्य एव पीछे तर्क द्वारा मनन करने योग्य तथा इसके पीछे निदिध्यासितव्य (अर्थात् निश्चय से ध्यान करने योग्य) माना गया है।[5]

वस्तुत: श्रवण-मनन-निदिध्यासन अलग-अलग तीन विधियाँ नही है वरन् ये तीनों एक ऐसी समग्र विधि के अंग है जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है।[6] इसीलिए आचार्य शंकर की मान्यता है कि जिस समय इन सब (श्रवण-

---

1. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-4-4), वही, पृ० 55।
2. Mookerji, R K.—*Ancient Indian Education*, Sunder Lal Jain, Moti Lal Banarsi Dass, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi–6, P.XXXI.
3. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 1133–34।
4. वही (2-5), पृ० 582।
5 व 6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (2-4-5) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 551।

मनन-निदिध्यासन) साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्व विषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है। अन्यथा केवल श्रवणमात्र से उसकी स्फुटता नहीं होती है।[1] श्रवण-मनन-निदिध्यासन विधि में मुख्यत: छात्र सक्रिय एव विचारशील रहता है। अध्यापक से श्रवण करने के पश्चात् उसे ही मनन करना होता है और वही निदिध्यासन की स्थिति को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रवण विधि मे छात्र के निष्क्रिय श्रोता के रूप में होने पर भी मनन तथा निदिध्यासन में उसकी सक्रियता इस विधि को छात्र-केन्द्रित होना प्रकट करती है। आधुनिक शिक्षा-विज्ञान भी ऐसे शिक्षण पर बल देता है जिससे छात्र की तर्क शक्ति का विकास होता हो और उसमें निर्णय की क्षमता दृढ़ होती हो। आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित श्रवण-मनन-निदिध्यासन की ऐसी शिक्षण विधि है जो न केवल वेदान्त के विद्यार्थी को उसका लक्ष्य (ब्रह्मात्मैक्य) प्राप्त कराती है वरन् उसमें मनन, चिन्तन एवं दृढ निश्चय का भी विकास करती है।

प्रश्नोत्तर विधि

आधुनिक शिक्षा-विज्ञान में शिक्षण की दृष्टि से यह विधि सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। प्रसिद्ध यूनानी शिक्षक तथा दार्शनिक सुकरात ने ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व इस विधि का प्रयोग किया था। वह दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिये प्रश्नो को बहुत महत्वपूर्ण मानता था। इसलिये कभी-कभी हम इसे 'सुकराती विधि' (Socratic Method) भी कह देते है किन्तु यह मान्यता ठीक प्रतीत नहीं होती है क्योंकि भारत में वैदिककाल से ही इस प्रणाली का प्रचलन रहा है। उपनिषदों में 'प्रश्नोपनिषद्' की रचना यही सिद्ध करती है कि उस युग में गुरु एवं शिष्य के प्रश्नोत्तर से ब्रह्म, आत्मा तथा जगत् का आध्यात्मिक रूप से विश्लेषण किया जाता था। विगत अध्यायो में हम इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हो चुके है कि भगवान् शंकराचार्य औपनिषद् परम्परा के अनुयायी थे।[2] अत: उन्होंने प्रश्नोत्तर विधि का एक सशक्त एव प्रभावशाली शिक्षण-प्रणाली के रूप में प्रतिपादन करके उसी प्राचीन औपनिषद् परम्परा को अग्रसारित किया है। इतना ही नही, उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक चूडामणि' की आद्योपान्त रचना इसी विधि का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'उपदेश साहस्री' का पूर्वार्द्ध गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर के रूप में लिखकर उन्होंने इस विधि के महत्व को शिक्षा के क्षेत्र में स्थापित करने में योगदान दिया है। इसी प्रकार उनकी एक रचना 'प्रश्नोत्तरी' के नाम से भी प्रकाशित है। जिसमें प्रश्नो

---

1. वही (2–4–5), पृ० 551।
2. डा० बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी–5, पृ० 384।

तथा उनके उत्तरों को श्लोक बद्ध लिखा गया है। इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शकर को शिक्षण की दृष्टि से इस विधि की प्रभावशालिता तथा सफलता पर पूर्ण विश्वास था।[1] अत: उन्होंने ऐसे गुरु का अनेक स्थलो पर वर्णन किया है जो छात्र के प्रश्नों का निराकरण करता है।[2]

अध्यापन में प्रश्न विधि का प्रयोग दो प्रकार से देखने को मिलता है—

(1) शिष्य गुरु से प्रश्न पूछता है और गुरु उसका उत्तर देता है। यह शैली प्राचीन काल में बहुत प्रचलित थी। उस युग में शिष्य गुरु की शरण मे जाकर उनकी चरण वन्दना करके अपने ज्ञातव्य के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछता था[3] और गुरु उसका उत्तर देते थे किन्तु आज के युग मे प्रश्न विधि के इस ढग को अच्छा नही माना जाता है। इसके विपरीत (2) प्रश्नविधि के दूसरे ढग में शिक्षक छात्रो की योग्यता का मूल्यांकन करने हेतु उससे प्रश्न पूछता है और छात्र उनका उत्तर देते हैं। आधुनिक युग मे प्रश्न पूछने का यही दूसरा ढग अधिक प्रचलित है। आचार्य शंकर ने पहले ढग का प्रयोग अधिकतर किया है।[4]

आचार्य शंकर के अनुसार छात्र अपना ज्ञातव्य प्रश्न के रूप मे गुरु के सम्मुख प्रकट करता है। इस लिये उन्होने प्रश्न का स्वरूप भी उपस्थित किया है—"बंधन क्या है? यह कैसे हुआ? इसकी स्थिति कैसे है? और इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है? अनात्मा क्या है? परमात्मा किसे कहते है? और उनका विवेक कैसे होता है? कृपया यह सब कहिए।"[5] छात्र अपने समस्त प्रष्टव्य को एक ही प्रश्न मे उपस्थित कर गुरु से उत्तर देने का निवेदन करता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शकर प्रारम्भिक स्तर पर ही छात्र द्वारा उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न पूछने की विधि की प्रस्तावना करते हैं। उच्च श्रेणीय छात्र के लिये ऐसे प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं है।

गुरु द्वारा छात्र से उसकी योग्यता एव ग्रहणशक्ति के मूल्यांकन हेतु प्रश्न पूछने की विधि का वर्णन भी आचार्य शकर ने किया है—"शंका किन्तु आचार्य होकर भी शिष्य से पूछता है—यह तो अनुचित है। समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'जो कुछ तू जानता है उसे बताकर तू मेरे प्रति उपसन्न हो, तब उसके आगे मै तुझे बतलाऊँगा' ऐसा न्याय देखा जाता है। इसके सिवाय अन्यत्र भी आचार्य

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4–5) वही, पृ० 1127.
2. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 18–19.
3. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 16.
4. श्रीमद्भगवद् गीता शां० भा० (4–34) वही, पृ० 136.
5. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 20.
6. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ०20.

अजातशत्रु का अपने प्रतिभाशून्य शिष्य मे प्रतिभा उत्पन्न करने के लिये 'तो फिर यह कहाँ उत्पन्न हुआ, और कहाँ से आया है ?' ऐसा प्रश्न करना देखा जाता है ।[1]'' इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य शंकर ने प्रश्नोत्तर विधि का दोनों ही प्रकार से प्रयोग किया है । आधुनिक शिक्षा विज्ञान में छोटे प्रश्नों का महत्व स्वीकार किया जाता है । इस दृष्टि से उनकी 'प्रश्नोत्तरी' में लिखित प्रश्न उनकी शिक्षण कला का परिचय देते है ।[2] प्रश्नोत्तरी विधि का ही विकसित रूप सम्वाद विधि है । उपनिषदों में स्थल-स्थल पर सम्वादविधि के माध्यम से आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया गया है ।[3] आचार्य शंकर ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उपदेश साहस्री' के प्रथम भाग का विकास गुरु-शिष्य-सम्वाद के रूप में किया है ।[4]

तर्क विधि :

मनन विधि में आचार्य ने तर्क के महत्त्व को स्वीकार किया है । उनके अनुसार श्रुति (वेद) भी तर्क का आदर करती है ।[5] मनन में छात्र व्यक्तिगत रूप में तर्क का आश्रय लेकर विषय को ग्रहण करने की चेष्टा करता है किन्तु तर्क विधि का मुख्य आधार सामूहिक है । जब छात्र गुरु अथवा अन्य विद्वान् के साथ बैठकर तर्क का आश्रय लेकर विचार विमर्श करते है तो उनका ज्ञानवर्धन होता है । उनको विषय का स्पष्टीकरण होता है । आचार्य के शब्दों में ''किसी विद्या में निष्णात पुरुषों का संयोग और उनके साथ वाद (तर्क) करना भी न्याय विधि में विद्या-प्राप्ति का उपाय देखा गया है ।''[6]

तर्क विधि आचार्य शंकर के अनुसार छात्रों के संशयों का निराकरण करती है तथा उनका ज्ञानवर्धन करती है । विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के साथ विचार विमर्श का प्रतिपादन करते हुये आचार्य शंकर का यह मत उल्लेखनीय है—''इस

---

1. छान्दोग्योपनिषद् शा०भा० (5–12–1) वही, पृ० 545-46 ।
2. देखिये-आचार्य शंकर प्रणीत 'प्रश्नोत्तरी' में श्लोकबद्ध प्रश्न तथा उनके उत्तर।
3. देखिये-बृहदारण्यकोपनिषद् में जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद, याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद आदि तथा छान्दोयोपदिषद् में दालभ्य और प्रवाहण का संवाद, उशस्ति और ऋत्विजो के संवाद आदि ।
4. आचार्य शकर प्रणीत उपदेश साहस्री में गुरु-शिष्य संवाद पठनीय ।
5. बृहदाराण्यकोपनिषद् शां० भा० (2–5) वही, पृ० 5801.
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (3–1) वही. पृ० 620.

प्रकार, जिन्हें विवक्षित अर्थ का ज्ञान है उन पुरूषों के पारस्परिक संवाद से विपरीत ग्रहण का नाश, अपूर्व ज्ञान की उत्पत्ति और संशय की निवृत्ति होती है। अतः उन-उन विषयों के ज्ञाता पुरूषों का साथ करना चाहिए।"[1] इस प्रकार तर्क विधि से छात्रों की मनन-चिन्तन तथा विचार करने की क्षमता का विकास होता है और उनके ज्ञान में बृद्धि होती है।

व्याख्या-विधि :

व्याख्या का तात्पर्य है सरल करना और किसी विषय को स्पष्ट करना। विषय को प्रकाशित करना व्याख्या है। किसी विषय का इस प्रकार स्पष्टीकरण होना कि वह लोगों को ठीक से समझ में आ जाय, व्याख्या कहलाता है। कुछ विचार क्लिष्ट एवं जटिल होते हैं और उनकी व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। व्याख्या में जटिल भावों, क्लिष्ट विचारों तथा दुरुह चिन्तन को बोधगम्य बना दिया जाता है। विषय की क्लिष्टता व्याख्या द्वारा ही दूर होती है। व्याख्याकार एक-एक शब्द को स्पष्ट कर देता है। इस प्रकार से यह विधि भाष्य अथवा टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है। भगवान् शंकराचार्य भारतीय दर्शन की आधारभूत प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-गीता) के सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार हैं।[2] उनके भाष्य, व्याख्या विधि के सर्वोत्तम उदाहरण है। उनकी भाष्य-रचनाओ को पढ़कर उपनिषद् साहित्य की दुरुहता, ब्रह्मसूत्र की क्लिष्टता तथा गीता की जटिलता का तुरन्त निराकरण हो जाता है। आचार्य शंकर की दृष्टि में व्याख्या शिक्षण की एक ऐसी आवश्यक एवं प्रभावशाली प्रविधि है जिससे छात्रों की विषयगत समस्त कठिनाईयों, क्लिष्टताओं, जटिलताओं एवं दुर्बोधताओं का निराकरण अध्यापक सरलतापूर्वक कर सकता है और फिर छात्र को प्रतिपाद्य विषय के ग्रहण करने में सरलता रहती है। आचार्य शंकर शिष्य के प्रति गुरु के कथन को उद्घृत, करते हुये, व्याख्या के लाभ का इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं—"इसलिये आओ, बैठ जाओ, मै तुम्हारे अभीष्ट अमृतत्व के साधन-भूत आत्मज्ञान की व्याख्या अर्थात् उपदेश करूँगा। मेरे व्याख्यान करने पर उसका निदिध्यासन करना, अर्थात् मेरे वाक्यों का अर्थतः निश्चय करके ध्यान करने की इच्छा करना।"[3] उनके इस कथन से स्पष्ट है कि व्याख्या विधि में अध्यापक की भूमिका छात्र की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है और उसका उद्देश्य छात्र के लिये विषय को सुबोध एवं सुग्राह्य बनाना होता है। अतः आचार्य शंकर ने स्वयं वेदान्त दर्शन केदुरुह एवं

---

1. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (1–8–1) वही, पृ० 108.
2. Dr. Radhakrishanan *Indian Philosophy Part* 2, George Allen & Unwin Ltd. New York, P. 466.
3. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2–4–4), वही, पृ० 547.

अरोचक विषय को अपनी प्रभावशाली तथा रोचक व्याख्या विधि से सुरुचिपूर्ण बनाकर इस विधि के महत्त्व को शिक्षण जगत् में स्थापित किया है ।

अध्यारोप-अपवाद विधि :

वेदान्त-शिक्षा का मुख्य विषय ब्रह्म साक्षात्कार है किन्तु शिक्षक ब्रह्म के निर्गुण निर्विकार एवं निराकर होने से उसका साक्षात्कार विद्यार्थी को किस प्रकार कराये ? इसका निराकरण अध्यारोप-अपवाद विधि द्वारा किया गया है ।[1] वेदान्त के विद्यार्थी के सम्मुख दो समस्याएँ रहती हैं—अप्रत्यक्ष ब्रह्म का दर्शन तथा प्रत्यक्ष जगत् का निराकरण । शंकर की दृष्टि में ब्रह्म वस्तु (यथार्थ) है और जगत् अवस्तु (अयथार्थ) है ।[2] वेदान्त शिक्षा का प्रधान लक्ष्य ब्रह्म की धारणा का छात्रों में विकास करना है । शिक्षक छात्र को तुरन्त ब्रह्म का उपदेश नहीं करता है बल्कि वह अध्या-रोप विधि का आश्रय लेकर वस्तु में अवस्तु का आरोप करता है जिस प्रकार रस्सी में सांप का अध्यारोप होने पर रस्सी वस्तु (यथार्थ) है और साप अवस्तु (अयथार्थ) है ।[3] इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का अध्यारोप होने पर ब्रह्म वस्तु (यथार्थ) और जगत् (अयथार्थ) रहता है ।[4] इस प्रकार इस विधि में अध्यापक छात्र के सामने यह प्रस्तुत करता है कि आत्मा ही शरीर है, आत्मा ही प्राण है, आत्मा ही मन है, आत्मा ही बुद्धि आदि समस्त पदार्थ है । अतः इस आरोपण विधि से छात्र को अवस्तु के अन्दर वस्तु का तथा जगत् के भीतर ब्रह्म का दर्शन करने के लिये उत्प्रेरित किया जाता है ।

आरोपण के पश्चात् निराकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । इस प्रक्रिया को अपवाद विधि कहते हैं । इसमें अध्यापक को युक्ति एवं तर्क की आवश्यकता होती है। तर्क तथा युक्ति के आधार पर उसे आत्मा पर आरोपित तत्वों को हटाना होता है । अर्थात् तर्क और युक्ति से छात्र को यह बोधगम्य कराना पड़ता है कि आत्मा शरीर नहीं है, आत्मा प्राण नहीं है, आत्मा मन नहीं है, आत्मा बुद्धि नही है, आत्मा अन्य कोई पदार्थ नहीं है ।[5] इस प्रकार अध्यापक उन गुणों को अपवाद विधि में धीरे-धीरे युक्तियों से हटाता चला जाता है जिनका अध्यारोपविधि में विषय की सुलभता के लिये आरोपण कर लिया था । अन्त में सभी आरोपित तत्वों के निराकृत हो जाने पर जो तत्त्व शेष रह जाता है वही शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म होता है ।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा० (1–3–13) वही, पृ० 326.
2. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि वही, पृ० 12.
3. 4 श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः, सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर पृ० 42.
5. श्री शंकराचार्य–विवेक–चूडामणि, वही, पृ० 126.

अध्यारोप तथा अपवाद विधियाँ वस्तुतः वेदान्त शिक्षण की एक ऐसी विधि के दो अंग है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष का बोध छात्र को हो जाता है। इस विधि मे आधुनिक युग के प्रमुख शिक्षण सूत्रों-ज्ञात से अज्ञात की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर तथा दृष्ट से अदृष्ट की ओर का उपयोग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः इस विधि से शिष्य को आत्मा या ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्द का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है। अज्ञात राशि के मूल्य तथा रूप को ज्ञात करने के लिये इस विधि का उपयोग आधुनिक बीजगणित में भी किया जाता है।[1]

दृष्टान्त (उदाहरण) विधि (Illustrations)

वेदान्त को शिक्षा में ब्रह्म की यथार्थता तथा जगत् की अयथार्थता को बोधगम्य बनाने के लिए दृष्टान्त विधि का सफल प्रयोग किया गया है। दृष्टान्त अथवा उदाहरण के द्वारा अध्यापक महत्वपूर्ण विचारों एवं दुरुह स्थलों को सुविधापूर्वक तथा प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट कर देता है। हम जानते हैं कि बालक अनेक वस्तुओं अथवा पदार्थों से परिचित रहता है। इन परिचित वस्तुओं के सहारे उसे नवीन ज्ञान सरलता से प्रदान किया जा सकता हे। मनुष्य मे ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। आचार्य शंकर मनुष्य के इस मनोविज्ञान से भली-भाँति परिचित थे। अतः उन्होंने अपने वेदान्त-शिक्षण मे उपयुक्त प्रभावकारी दृष्टान्तों का उपयोग करके जिस अद्वैतवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह मानवीय चिन्तन की आत्मा बन गया है।[2] उन्होंने स्वयं दृष्टान्त अथवा उदाहरण की महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की है—"······क्योंकि ऐसे विलक्षण रूप वाले सुषुप्त स्थान में आत्मा प्रवेश करना चाहता है, वह किस प्रकार, सो श्रुति बतलाती है—दृष्टान्त से इस अर्थ की स्पष्टता होती है, इसलिये इस विषय मे (श्येन) का दृष्टान्त दिया जाता है।"[3]

---

1. **बीज गणित की प्रक्रिया**
इस विधि का प्रयोग बीजगणित में इस प्रकार करते हैं-यदि $क^2 + 2क = 15$ इस समीकरण में अज्ञात 'क' का मूल्य ज्ञात करना है तो प्रथमतः दोनों ओर 1 संख्या जोड देते है और अन्त में जोड़ी गयी संख्या को दोनों ओर से निकाल देते हैं, तब 'क' का मूल्य 3 ज्ञात हो जाता है। समीकरणों में दोनों ओर। जोड़ने पर यह रूप होगा—
$$क^2 + 2क + 1 = 15 + 1$$
$$(क + 1)^2 = 16$$
$$(क + 1) = 4$$
$$(क + 1) - 1 = 4 - 1$$
$$क = 3$$

2. Verma, M.–*The Phylosophy of Indian Educatian* Minakshi-Prakashan, Meerut, P. 45.

3. वृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-3-18) वही, पृ० 958।

वेदान्त का शिक्षार्थी जब गुरू के पास ज्ञान-प्राप्ति हेतु जाता है तो वह आत्मा ब्रह्म तथा ब्रह्मात्मैक्य को स्पष्ट करने के लिए छात्र के समक्ष उपमा, उत्प्रेक्षा तथा तुलना आदि के प्रयोग द्वारा दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। जैसे वेदान्त के शिक्षक को जब छात्र को यह स्पष्ट करना होता है कि अविद्या के योग से अथवा अविद्या के निवृत्त होने से ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं आता है तो शिक्षक यह दृष्टान्त प्रस्तुत करता है—जैसे अन्धकार में पड़ी हुई किसी रस्सी मे सर्प समझकर कोई पुरुष भय से काँपता हुआ वहाँ से भागता है। उससे यदि कोई अन्य विज्ञ पुरुष कहे कि भय मत करो यह सर्प नहीं है किन्तु रस्सी है, तब वह पुरुष उसका वचन सुनकर सर्पज्ञान-जन्य भय, कंपन और पलायन त्याग देता है। अब इस दृष्टान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति रस्सी को सर्प समझ रहा था, अथवा जब सर्प नहीं समझ रहा था, तब इन दोनों ही अवस्थाओं मे रस्सी में कोई अन्तर नहीं था। इस प्रकार अज्ञान कालऔर ज्ञानकाल में ब्रह्म एक ही रहता है।[1]

दृष्टान्त विधि का उपयोग आचार्य शंकर ने स्थल-स्थल पर करके यह प्रकट कर दिया है कि दृष्टान्त का प्रयोग छात्र को विषय को सरलतापूर्वक समझाने के लिए किया जाता है।[2] रस्सी में[3] सर्प, सीपी में चाँदी[4] तथा जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब[5] आदि के अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग उन्होंने, अपने सिद्धान्त को बोधगम्य बनाने के लिए, करके अपने इस कथन की पुष्टि कर दी है—"विवक्षित अर्थ दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है।[6]" इस प्रकार हमें यह स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि शंकराचार्य ने दृष्टान्त विधि को शिक्षण का सशक्त एवं प्रभावशाली साधन माना है। आधुनिक युग में इस विधि का इतना विकास हुआ है कि आज छात्रों के समक्ष न केवल मौखिक उदाहरण (दृष्टान्त) ही उपस्थित किये जाते है (जैसा कि आचार्य शंकर ने किया है) वरन् प्रदर्शनात्मक उदाहरण प्रस्तुत करके शिक्षक अनेक प्रकार की श्रव्य-दृश्य सामग्रियों की सहायता से अपने शिक्षण को रोचक बनाने की चेष्टा करता है। यद्यपि शिक्षण के क्षेत्र मे आचार्य शंकर ने इतने व्यापक रूप में दृष्टान्त (उदाहरण) विधि का उपयोग नही किया है तथापि उन्होंने

---

1 ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–4–1–6) गोविन्दमठ टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 295।
2. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1–1–7) वही, पृ० 24।
3. श्री शंकराचार्य-अपरोक्षानुभूति, वही, पृ० 15।
4. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह :—सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 13।
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3-2-5-20) वही, पृ० 621।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (4-3-21) वही, पृ० 971।

इस विधि का सीमित उपयोग करके भी विषय को सरल, सरस एवं रोचक बनाने का प्रभावशाली तथा स्तुत्य प्रयास किया है।

कथा-कथन विधि

कथा कहकर छात्रों को विषय ग्रहण कराने की शिक्षण विधि का उपयोग उपनिषद् ग्रन्थों में देखने को मिलता है। यह विधि अल्पायु तथा स्वल्पबोध छात्रों के लिए तो इतनी प्रभावकारी है कि संस्कृत साहित्य में 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' जैसे कथा साहित्य की सृजना का उद्देश्य कथाओं के माध्यम से जनशिक्षण रहा है। इतना ही नहीं, विश्व की प्रत्येक भाषा के साहित्य में कथा-सृजना का प्रमुख स्थान है। यही कारण है कि आधुनिक युग में कथा को साहित्य की एक प्रमुख विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य शंकर ने अपने विवेचन में कथा को 'आख्यायिका' का नाम दिया है। उन्होंने स्वयं इस विधि को शिक्षण का प्रभावकारी साधन स्वीकार करते हुए लिखा है—"यहां जो (राजा जानश्रुति और ऋषिरैक्व की) आख्यायिका है वह सरलता से समझाने के लिए तथा विद्या के दान और ग्रहण की विधि प्रदर्शित करने के लिए है। साथ ही इसके द्वारा श्रद्धा, अन्नदान और अनुद्धतत्व (विनय) आदि का विद्या–प्राप्ति में साधनत्व भी प्रदर्शित किया जाता है।"[1] उनके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर अध्यापन में कथा-कथन विधि के महत्त्व से भलीभाँति परिचित थे। अतः उन्होने स्वयं 'मनुष्य का वास्तविक स्वरूप आत्मा है' इसका बोध कराने के लिए इस विधि का इस प्रकार प्रयोग किया है—"इस विषय में एक आख्यायिका कहते है, किसी मूढ मनुष्य से किसी ने, उससे कोई अपराध बन जाने पर कहा—'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' उसने मूढतावश अपना मनुष्यत्व निश्चित कराने के लिए किसी के पास जाकर कहा 'आप बतलाइये, मै कौन हूँ ?' वह उसकी मूर्खता समझकर उससे बोला—'धीरे-धीरे बतलाऊँगा' और स्थावरादि में उसके आत्मत्व का निषेध बतलाकर 'तू अमनुष्य नही है,' ऐसा कहकर चुप हो गया। तब उस मूर्ख ने उससे कहा—'आप मुझे समझाने के लिए प्रवृत्त होकर अब चुप हो गए।' समझाते क्यों नहीं ?"[2] इस कथा को प्रस्तुत करके आचार्य शंकर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो व्यक्ति 'तू अमनुष्य नहीं है' ऐसा कहने पर नही समझ पाता है वह 'तू मनुष्य है' ऐसा कहने पर भी अपना मनुष्यत्व नही समझ पायेगा। अतः आचार्य के अनुसार शास्त्र आत्मा का निषेधात्मक वर्णन करके व्यक्ति को उसका वास्तविक स्वरूप समझाने का प्रयास करता है।[3]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (4-1), वही, पृ० 352 तथा छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (5-11), वही, पृ० 536।
2. ऐतरेयोपनिषद् शां० भा० (2-1) वही, पृ० 77-78।
3. बृहदारण्यकोपनिषद् (3-9-26) तथा ऐतरेयोपनिषद् शां० भा० (2-1) वही, पृ० 78।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य शंकर ने कथा-कथन-विधि द्वारा विषय को बोधगम्य बनाने का स्तुत्य कार्य किया है। छात्र को विषय ग्रहण करने में जब कठिनाई का अनुभव हो रहा हो तो अध्यापक समुचित आख्यायिका का प्रयोग कर अपने शिक्षण को रोचक बना सकता है।

उपदेश विधि

शांकर शिक्षा दर्शन में उपदेश विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योकि यह विधि श्रवण-विधि की जन्मदात्री है। शिक्षार्थी शिक्षक की शरण में जाकर आत्मोद्धार के लिए उपदेश की याचना करता है—"मै इस संसार-समुद्र को कैसे तरूँगा ? मेरी क्या गति होगी ? उसका क्या उपाय है ? यह मै कुछ नही जानता। प्रभो ! कृपया मेरी रक्षा कीजिए और मेरे संसार-दुःख के क्षय का आयोजन कीजिए।[1]" ऐसी प्रार्थना करने वाले शिष्य को गुरु किस प्रकार उपदेश करे ? इसकी पूरी विधि का वर्णन आचार्य शंकर ने 'विवेक चूडामणि' तथा 'उपदेश साहस्री' में किया है। इन ग्रन्थों में दी गई विधि के अनुसार गुरु शरणागत शिष्य को अभयदान देकर कहता है—"वेदान्त-वाक्यों के अर्थ का विचार करने से उत्तम ज्ञान होता है, जिससे फिर ससार-दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।[2]" इस प्रकार जब गुरु शिष्य को ब्रह्मतत्त्व समझाता है तो यही उसका उपदेश होता है। इसमें शास्त्र के अभिप्राय को मूल शब्दो मे ही प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य शंकर के अनुसार श्रुति उपदेश और उसके अर्थ का ग्रहण करने में अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता दिखलाती है।[3]

वेदान्त दर्शन में महावाक्यों का सर्वोच्च महत्त्व है। इन चारों महावाक्यों का उद्देश्य जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करना है। ये चार महावाक्य है—(1) तत्वमसि[4] (वह तू है) (2) प्रज्ञानं ब्रह्म[5] (ब्रह्मज्ञान-स्वरूप है) (3) अहं ब्रह्मास्मि[6] (मैं ब्रह्म हूँ) और (4) अयमात्मा ब्रह्म[7] (यह आत्मा ब्रह्म है)। गुरु शिष्य को इन महावाक्यों का उपदेश करता है। विवेक चूडामणि के अनुसार इन महावाक्यों के अर्थ-ग्रहण द्वारा ब्रह्म और आत्मा की अखण्डता एवं एकता का बोध कराना उपदेश

---

1 श्री शंकराचार्य विवेक—चूडामणि, वही, पृ० 18।

2. श्री शंकराचार्य–विवेक चूडामणि, वही।

3. केनोपनिषद् (1-3) शां०भा०, वही, पृ० 38-39।

4. 'तत्त्वमसि' छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) पर शां०भा० द्रष्टव्य।

5. 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—ऐतरेयोपनिषद् (3-1-3)।

6. 'अहंब्रह्मास्मि'—बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10)।

7. 'अयमात्मा ब्रह्म' माण्डूक्योपनिषद् (1–2)।

है ।[1] आचार्य शंकर की उपदेश-विधि में वेदान्त के सारतत्व-जीव ब्रह्मैक्य को अनुभूति स्तर पर पहुँचाने का प्रयास किया जाता है क्योंकि गुरु का शिष्य को यह उपदेश कि 'तू ब्रह्म है[2]', शिष्य की अनुमति में 'मैं ब्रह्म हूँ[3]' में पर्यवसित होता है। आचार्य के शास्त्रानुकूल उपदेश से शिष्य शम-दम आदि साधन सम्पन्न होकर आत्मदर्शन कर लेता है ।[4] आधुनिक शिक्षा विज्ञान में इस प्रकार की उपदेश विधि की कोई व्यवस्था नहीं है क्योंकि आज के शिक्षा के उद्देश्य दिन-प्रतिदिन भौतिकता प्रधान होते जा रहे हैं जबकि उपदेश विधि का आधार शुद्ध आध्यात्मिक होने से व्यक्ति गुरु से विधिवत् उपदेश लेकर उसे आत्मसात करने में अपना समस्त जीवन समर्पित कर देता है। यह उपदेश विधि का ही फल है कि विश्व शिक्षा के इतिहास में यह अद्वितीय उदाहरण है कि आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित गुरु-शिष्य परम्परा हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी अविच्छिन्न रूप में अद्यावधि वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार में संलग्न है ।

उपर्युक्त विवेचना के निष्कर्ष बिन्दु निम्नलिखित है :—

1. आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षा केवलमात्र जीविकोपार्जन का साधन न होकर आध्यात्मिक साधना का एकमेव माध्यम होने से शिक्षा-पद्धतियों का स्वरूप आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों से भिन्न होना चाहिए ।
2. अन्तःकरण की वृत्ति बाहरी वस्तुओं का आकार धारण करके व्यक्ति को उसका बोध कराती है ।
3. अन्तःकरण की इस वृत्ति का ब्रह्माकार होना ही ब्रह्म ज्ञान कहलाता है ।
4. अतः ब्रह्म ज्ञान के सहायक साधन शंकर के अनुसार शिक्षा-पद्धतियाँ है ।
5. श्रवण, मनन, निदिध्यासन शांकर शिक्षा की प्रमुख विधियाँ है ।
6. श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनों का उत्तरोत्तर विकास होता है ।
7. सुने हुए गुरु के उपदेश का तर्कपूर्वक चिन्तन करके दृढ़ होना ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन विधियों का प्रमुख कार्य है ।
8. प्रश्नोत्तर विधि मे शिष्य अपना प्रष्टव्य विषय प्रश्न के रूप में गुरु के समक्ष रखता है किन्तु शिष्य के ज्ञान के मूल्यांकन-हेतु अध्यापक भी शिष्य से प्रश्न पूछ सकता है ।

---

1. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, वही, पृ०82 ।
2. तत्त्वमसि'—छान्दोग्योपनिषद् (6–8–7) महावाक्य, उपदेश वाक्य है । गुरु शिष्य को इसी का उपदेश करता है ।
3. 'अहं ब्रह्मास्मि'—बृहदारण्यकोपनिषद् (1–4–10)महावाक्य, अनुभूति वाक्य है । उपदेश की अनुभूति शिष्य को इस महावाक्य के अनुसार होती है ।
4. श्रीमद्भगवद्गीता (2-21). शां०भा०, वही, पृ०46 ।

9. तर्कविधि का आधार सामूहिक होने से गुरु-शिष्य परस्पर अथवा शिष्य अन्य विद्वान् के पास अथवा सभी शिष्य परस्पर किसी विषय पर विचार कर सकते है।
10. व्याख्या विधि की दृष्टि से आचार्य शंकर के ब्रह्मसूत्र-उपनिषद्-गीता के भाष्य-ग्रन्थों का प्रणयन शिक्षा जगत् की अमूल्य निधि है। उनके इन ग्रन्थो से शिक्षण के क्षेत्र में व्याख्या विधि की उपयोगिता एवं महत्ता स्पष्ट हो जाती है।
11. अध्यारोप-अपवाद-विधि में गुरु शिष्य की सरलता के लिये पहले जिन विशेषणो का आरोपण आत्मा में कर लेता है बाद मे युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार शिष्य को करा देता है।
12. आचार्य शंकर ने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये अथवा बोधगम्य बनाने के लिये अनेक प्रकार के दृष्टान्त प्रस्तुत कर शिक्षण के लिये दृष्टान्त विधि के महत्त्व की स्थापना की है।
13. कथा-कथन विधि का प्रयोग भी आचार्य शंकर ने वेदान्त की जटिल समस्याओं के निराकरण के लिए किया है।
14. आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु के उपदेश का अत्यधिक महत्त्व होने पर शांकर शिक्षा मे महावाक्यों का अर्थबोध तथा ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति उपदेश विधि के द्वारा होती है।

————

शिक्षक-शिक्षार्थी

उपक्रम्य स्तोतुं कतिचन गुणान् शंकरगुरोः
प्रमग्नाः श्लोकार्धे कतिचन तदर्धार्धंरचने ।
अहं तुष्टूषुस्तानहह कलये शीनकिरणं
कराभ्यामाहर्तुं व्यवसितमतेः साहसिकताम् ।।[1]
अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान् संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ।।[2]

The pupil is to the teacher what man is to the philosophor.[3]

अध्यापक तथा शिक्षार्थी शिक्षा के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। शिक्षा शिक्षक-शिक्षार्थी के मध्य सम्पन्न होने वाली अन्तःक्रिया है। अतः शिक्षा में गुरु-शिष्य-सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया माना है—शिक्षक एवं छात्र। उनके अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थी परस्पर व्यवहार द्वारा जिन अनुभवों का विकास करते हैं, वही शिक्षा है। वेदान्त की शिक्षा में गुरु शिष्य के अज्ञान का आवरण हटाकर उसे ज्ञान की प्राप्ति कराता है और शिष्य अपने

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत 1-12) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, पृ० 3 कुछ लोग गुरु शंकराचार्य के गुणों की स्तुति का आरम्भ कर एक श्लोक के आधे में ही डूब जाते हैं। आधे श्लोक के बनाने में ही उनका उत्साह समाप्त हो जाता है। कुछ लोग श्लोक के एक पाद को बनाने में ही हतोत्साह हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में मैं जब उनके समग्र गुणों की स्तुति करने जा रहा हूँ तो मैं इस प्रयत्न को चन्द्रमा को अपने हाथों से पकड़ने का उद्योग करने वाले बालक का दुःसाहस समझता हूँ।
2. श्री शंकराचार्य–विवेक-चूडामणि (श्लोक 8) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 10। इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगों की इच्छा त्यागकर सन्त शिरोमणि गुरुदेव की शरण में जाकर उनके उपदेश किये हुए विषय में समाहित होकर मुक्ति के लिये प्रयत्न करें।
3. Butler, J. Donald—*Four Philosophies and their practice in Edu. & Religion*, Harper & Row Publishers, New York, Evanston & London, P. 105.
   —छात्र शिक्षक के लिये वही है जो मनुष्य दार्शनिक के लिए है।

प्रयासों द्वारा गुरु से ज्ञानोपार्जन कर अपने जीवन के परम लक्ष्य-मुक्ति को प्राप्त करना है।[1] इसीलिये प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा धार्मिक भावनाओं से उत्प्रेरित रहते थे किन्तु आधुनिक युग में अध्यापक तथा छात्र की संकल्पना तथा इन दोनों की भूमिका के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विचारकों के अनुसार शिक्षक और छात्र का परस्पर सम्बन्ध व्यापार-रत विक्रेता तथा क्रेता जैसा ही है। जिस प्रकार कोई दुकानदार कोई वस्तु बेचता है और ग्राहक उसे खरीदता है, ठीक इसी प्रकार का अध्यापक और छात्र में सम्बन्ध है। शिक्षा में इस प्रकार का विचार अनुशासन एवं शिक्षण की दृष्टि से लाभकारी नहीं है।

शिक्षा के अन्य अंगों की भाँति शिक्षक तथा छात्र के प्रति विभिन्न युगों में विचारकों ने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। यदि किसी युग में शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से शिक्षा का स्वरूप अध्यापक केन्द्रित हो जाता है तो कभी बाल केन्द्रित शिक्षा को स्वीकार कर लेने से अध्यापक की अपेक्षा छात्र की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। शिक्षक और छात्र की संकल्पना हर युग में शिक्षा-दार्शनिकों के चिन्तन के लिये पहेली रही है। अपनी-अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षक-शिक्षार्थी के सम्बन्ध में अपनी व्याख्यायें की है। अतः जबकि हम शांकर दर्शन में शिक्षक तथा छात्र की संकल्पना की मीमांसा करने जा रहे है तो हमें विभिन्न प्रचलित पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दार्शनिक मतों की पृष्ठभूमि में इस सम्बन्ध में प्रथमतः विचार कर लेना चाहिये जिससे आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित शिक्षक-शिक्षार्थी के स्वरूप तथा दोनों के परस्पर सम्बन्ध इत्यादि की भली-भाँति विवेचना की जा सके।

शिक्षक-शिक्षार्थी के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन में शिक्षक को अत्यन्त उच्च स्थान दिया गया है। वह शिक्षार्थी के विकास के लिये विशेष प्रकार के परिवेश का निर्माण करता है। और उसे पूर्णता की ओर जाने में अधिक से अधिक निर्देश देता है। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षक के बिना शिक्षण-प्रक्रिया का सुचारु रूप से संचालन नहीं हो सकता है। अतः आदर्शवादी विचारक की यह मान्यता उचित प्रतीत होती है—"अध्यापक को छात्र के वर्गीकरण तक अथवा उसके मुख अथवा व्यवहार के बाह्य निरीक्षण तक नहीं रुकना चाहिये। उसे बालक के मस्तिष्क में ही प्रवेश करना चाहिये जहाँ उस (बालक) का जीवन एकत्र तथा केन्द्रित होता है।... उसे बालक के अन्दर अपने स्वैच्छिक तथा स्वतन्त्र उत्साह का अध्ययन नहीं करना चाहिये।[2]"

1. आचार्यवान् पुरुषोवेद—छान्दोग्योपनिषद् (6-4-2) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. As quoted by Merrit Moore Thompson in the *Educational Philosophy of Giovanni Gentile*, Los Angeles. University of Southern California Press, P.P.70-71.

आदर्शवाद में शिक्षक छात्र का पथ-प्रदर्शक, निर्देशक एवं अध्येता होता है। उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का जे० डोनाल्ड बटलर[1] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है:—

1. बालक के लिये शिक्षक स्वयं वास्तविकता है।[2]
2. अध्यापक को बालक का विशेषज्ञ होना चाहिये।[3]
3. अध्यापक को शिक्षण तकनीकी का श्रेष्ठ ज्ञाता होना चाहिए।[4]
4. शिक्षक को ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो छात्र से अपने गुणों के आधार पर सम्मान अर्जित करता है।
5. शिक्षक को छात्र का व्यक्तिगत मित्र होना चाहिए। अच्छा शिक्षक होने के लिये अच्छा मित्र होना चाहिए।[5]
6. शिक्षक को ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो छात्र में सीखने की इच्छा जाग्रत करता है। एच०एच० हार्न के शब्दों में वास्तविक शिक्षण "सीखने को इतना आकर्षक तथा रोचक बना देता है कि छात्र······सीखने की इच्छा करने लगते है।[6]"
7. शिक्षक को जीवन कला का स्वामी होना चाहिये जिससे वह छात्र का आध्यात्मिक प्रक्रिया में पथ प्रदर्शन कर सके।[7]

---

1. Butler J. Donald—*Four philosophies and their practice in Education & Religion*, Harper & Row Publishers, New York, Evanston, and London, pp. 241-43.
2. Thompson, M.M., *The Educational Philosophy of Giovanni Gentile*, Los Angeles : University of Southern California Press, p. 72.
3. Bogeslovsky, B. B.,—*The Ideal School*, New York, The Macmillan Company, p 42.
4. The Education of Free Men in American Democracy, Educational Policies Commission, Washington, 1941, P.63.
5. Horne, H.H.,—*This New Education*, New York: The Abingdon Press, P.75.
6. Horne, H.H; —*The Philosophy of Education*, Revised edition, New York: The Macmillan Company, P.274.
7. As quoted by Thompson, M.M.in the *Edcational Philosophy of Giovanni Gentile*, Los Angeles: University of Southern California Press, P.70.

8. शिक्षक को मानव को पूर्ण बनाने में ईश्वर के साथ सह कार्यकर्ता होना चाहिये। इस प्रकार वही छात्र की आत्मा का पिता अथवा माता होता है।[1]
9. शिक्षक को ऐसा होना चाहिए कि वह क्षमतापूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन कर सके। अतः आदर्शवादी विचारक शिक्षक को छात्र के मस्तिष्क तथा विषय के मध्य आदान-प्रदान का माध्यम मानते हैं।[2]
10. शिक्षक को ऐसा होना चाहिये कि वह शिक्षण विषय की प्रशंसा कर सके।
11. अध्यापक अपने अध्यापन के साथ-साथ सीखता रहता है।
12. शिक्षक प्रगति का दूत होता है। वह आध्यात्मिक रूप में नयी पीढ़ी को जन्म देकर इतिहास को नवगति प्रदान करता है।[3]
13. अध्यापक को प्रजातन्त्र का निर्माता होना चाहिये।
14. शिक्षक को आत्मोत्सर्ग का आदर्श प्रस्तुत करने के लिये उद्यत रहना चाहिये।

आदर्शवाद में छात्र आत्मा तथा आध्यात्मिक प्राणी है।[4] आदर्शवादी शिक्षक की दृष्टि में विद्यार्थी में ऐसा व्यक्तित्व निहित होता है कि वह केवल मात्र शरीर न होकर आध्यात्मिक वास्तविकता होता है।[5] अतः आदर्शवादी शिक्षक छात्र का ऐसी दिशा में विकास करता है कि छात्र अपनी प्रकृति के अनुरूप विकसित हो सके। रास के शब्दों में "प्रकृतिवादी जंगली गुलाबों से सन्तुष्ट हो सकता है परन्तु आदर्शवादी उत्तम गुलाब चाहता है। इसलिए शिक्षक अपने प्रयत्नों से शिक्षार्थी की सहायता करता है जो अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित हो रहा है ताकि उन स्तरों को प्राप्त कर सके जिनका उसके लिये अन्यथा निषेध किया जायेगा।[6]"

---

1. Horne H.H. *This New Education*, op. cit. P.75.
2. Horne H. H. *The Psychological Principles of Education*, Macmillan Company, New York, P.39.
3. Horne, H.H. *This New Education*, Ibid, P.75.
4. "The pupil is a self, a spiritual being."—Butler, J. Donald —*Four Philosophies and their practice in Education and Religion*, Harper & Row Publishers, New York, Evanston, and London, p.226.
5. Butler, J. Donald, Four Philosophies, Ibid, p 226.
6. Boss, J.S., *Ground work of Educational Theory*, George G. Harrap & Co., London, p.121.

प्रकृतिवादी विचारधारा में शिक्षक का परम्परागत स्वरूप मान्य नही है। उसका कार्य बालक को ऐसे अवसर प्रदान करना है जिनमें वह मुक्त रूप से आत्माभिव्यक्ति कर सके। उसे बालक को नई-नई खोज करने मे सहायता देनी चाहिए और कार्य करने की नई-नई प्रविधियाँ सिखानी चाहिए ताकि आगे चलकर छात्र स्वावलम्बी बन सके और स्वयं आगे बढ सके। प्रकृतिवाद में शिक्षक का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना आदर्शवाद में। प्रकृतिवादी व्यवस्था मे शिक्षक के स्थान को स्पष्ट करते हुए रास ने ठीक ही लिखा है—"उसका स्थान यदि कोई है, तो दृश्यों के पीछे है, वह सूचना, विचार, आदर्श अथवा संकल्प शक्ति देने वाला अथवा चरित्र निर्माण करने वाला न होकर बालक के विकास का निरीक्षक है। इसको बालक स्वय अपने लिए करता है, वह किसी भी शिक्षक से अधिक अच्छा यह जानता है कि उसे क्या सीखना चाहिए, कब और कैसे सीखना चाहिये, उसकी शिक्षा, उसकी रुचियो और प्रेरणाओं का मुक्त विकास है, एक शिक्षक के द्वारा उस पर किया हुआ कृत्रिम प्रयास नहीं है।"[1]

प्रकृतिवादी शिक्षक की दृष्टि मे बालक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राणी है। उसके लिए समस्त शैक्षिक व्यवस्था है। उसका स्वाभाविक विकास ही शिक्षा है। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी शिक्षा दार्शनिक हरबर्ट सपेन्सर के ये शब्द यहाँ उल्लेखनीय है—"बालक जो करना पसन्द करता है, वह उसकी उस प्रक्रिया के लिए महत्वपूर्ण है, जो उसके विकास की दी हुई स्थिति में शैक्षिक होती है।"[2] प्रकृतिवाद में बालक के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास एवं उसकी रूचियों, योग्यताओं, इच्छाओं, अभिरूचियों और अभिवृत्तियों पर पूरा ध्यान दिया जाता है। प्रकृतिवादी शिक्षक छात्र का मार्गदर्शक होकर उसके विकास का पथ-प्रशस्त करता है।

यथार्थवादो दर्शन के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया मे शिक्षक का महत्व तो है किन्तु आदर्शवादियों की भाँति इस विचारधारा के अनुयायी अध्यापक को उच्चतम स्थान प्रदान नहीं करते है। यथार्थवाद मे शिक्षक की परिकल्पना में इन विशेषताओं को सम्मिलित किया गया है—(1) शिक्षक का विज्ञान मे अटूट विश्वास होता है। (2) उसका दृष्टिकोण हर क्षेत्र मे वैज्ञानिक होता है। (3) वह कल्पना को महत्व न देकर वस्तुनिष्ठ ज्ञान का पोषक होता है। (4) अनुसन्धान करना उसका स्वभाव होता है। (5) उसकी दृष्टि में विश्व के सभी तत्त्व पूर्णतया ज्ञेय नहीं होते है, अतः तत्त्व विशेष का ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है। (6) छात्रों की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं, रूचियों तथा अभिरूचियों आदि का पता लगाकर यथार्थवादी शिक्षक शिक्षण कार्य

---

1. Ross, J.S., Ibid, pp.94-95.
2. Spencer, H.,—*Education,* Intellectual, moral and Physical. New York, Hurst & Company, P. 101।

करता है। (7) वह अपने विवेचन तथा शिक्षण में तटस्थ भाव से यथार्थ का प्रतिपादन करता है। (8) यथार्थवादी शिक्षक छात्र की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को पहचान-कर आकर्षक तथा रोचक विधियों के द्वारा शिक्षण करता है। अतः प्रसिद्ध यथार्थवादी रूसी शिक्षाशास्त्री अ० से० माकारैको का शिक्षक के सन्दर्भ में यह कथन ठीक ही है—"वाञ्छित शैक्षिक प्रभाव पैदा करने के लिए उसे अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति, संस्कृति और व्यक्तित्व से विद्यार्थियों को प्रभावित करते हुए निश्चित व्यावहारिक लहजे में अपनी अपेक्षाओं का उल्लेख करना चाहिए।"[1]

यथार्थवाद शिक्षा की प्रक्रिया में छात्र का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार करता है। इस विचारधारा के अनुसार बालक एक यथार्थ इकाई है जो अनेक भावनाओं, इच्छाओं और शक्तियों से परिपूर्ण है। वैज्ञानिक विधियों से इन शक्तियों को शिक्षक के मार्गदर्शन में विकसित करना चाहिए। यथार्थवादी शिक्षक प्रकृतिवादी शिक्षक की भाँति छात्र को सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ने का पक्षपाती नहीं होता है। अतः इस सिद्धान्त में छात्र-शिक्षक के सहयोग को बड़े महत्त्व का माना जाता है। इस विचार-धारा में छात्र की ये विशेषताएँ मानी जाती हैं—(1) छात्र अपने विवेक का प्रयोग करके यथार्थ तक पहुँचने का प्रयास करता है। (2) छात्र को अपने बुद्धि-विकास के लिए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता अपेक्षित होती है। (3) उसके ज्ञान के विकास का आधार तथ्य होते है, कल्पना नहीं। (4) उसके जीवन मे वास्तविक एवं उप-योगी ज्ञान का महत्त्व होता है। (5) छात्र सामाजिक प्राणी के रूप में मात्र मनुष्य होता है। इस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा में प्रत्येक बालक की निजी प्रवृत्तियों, आव-श्यकताओं तथा रूचियों पर उचित ध्यान दिया जाता।

व्यवहारवाद मे शिक्षक का कार्य केवल वातावरण को वश में रखना ही नही है वरन् उसे यह भी देखना है कि बालक में उचित आदर्शो का विकास होता है। आज सभ्यता की जटिलता में हुई वृद्धि के साथ शिक्षक का कार्य बढ़ गया है। अब अनियमित शिक्षा के स्थान पर नियमित शिक्षा को महत्व दिया जाने लगा है। अतः निश्चित एवं नियमित शिक्षा के आवश्यक हो जाने से शिक्षक और बालक के परस्पर सम्बन्धों की समीक्षा नवीन परिप्रेक्ष्य में करना अपेक्षित हो गया है जिससे रूढ़िवादिता तथा सामाजिक बन्धन को शिक्षक शिक्षार्थी दोनों के लिए हानिकारक तथा विकास में बाधक माना जाने लगा है। व्यवहारवादी विचारधारा में अध्यापक को एक सक्रिय निरीक्षक तथा पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया जाता है जिससे वह बालकों को ज्ञान देने के स्थान पर उन्हें कार्य करने एवं खोज करने के लिए प्रेरित करे और उन्हें ऐसा वातावरण प्रदान करे कि वे सही निष्कर्ष प्राप्त करने

---

1. अ० से० माकारेंको—सोवियत स्कूली शिक्षा की समस्याएँ, प्रगति प्रकाशन, मास्को (रूस) पृ० 22।

में समर्थ हो सकें। प्रसिद्ध व्यवहारवादी दार्शनिक जान ड्यूवी के शब्दों मे अध्यापक की भूमिका को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—"वह (अध्यापक) सीखने वाले समूह का सदस्य है जिसे छात्रों की क्षमताओं तथा आवश्यकताओं का मापन करना चाहिए और उसे उन परिस्थितियों का आयोजन भी करना चाहिए जो अनुभवों के लिए विषय सामग्री तथा विषय वस्तु देती है। ये अनुभव इन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करते है और इन क्षमताओं का विकास करते है।"[1]

यथार्थवादी एवं प्रकृतिवादी विचारधारा की भाँति व्यवहारवादी दर्शन बालक की जन्मजात शक्तियों, रूचियो, रुझानों और योग्यताओं में विश्वास करता है। अतः छात्र का इस प्रकार से विकास करना इस विचारधारा का उद्देश्य है कि उसकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं सामाजिक विशेषताएँ विकसित हों। इसी आधार पर व्यवहारवादी शिक्षक अपना ज्ञान बालकों पर नहीं थोपता है बलिक उनके लिए ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिससे छात्र क्रियाओं में भाग लेकर वाञ्छित विषयों का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर सकें। व्यवहारवाद मे व्यक्ति तथा समाज का उचित सामन्जस्य कर बालक की उच्चतम व्यष्टिगत योग्यताओ के विकास द्वारा उसे समाज के लिए उपयोगी बनाया जाता है।

शिक्षक-शिक्षार्थी के प्रति भारतीय दृष्टिकोण :

भारतीय दर्शन तथा शिक्षा में बालक का प्राचीनकाल से ही महत्व रहा है। उसे आध्यात्मिक प्राणी मानकर उसके समुचित लालन-पालन एवं शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था पर भारतीय शिक्षा शास्त्रियों ने बहुत अधिक बल दिया है। स्वामी विवेकानन्द इसी कारण इस मत का प्रतिपादन करते है—"शिष्य को बाल्यावस्था से ऐसे व्यक्ति (गुरु) के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे।"[2] उनके अनुसार शिष्य के लिए आवश्यकता है शुद्धता, ज्ञान की सच्ची पिपासा और लग्न के साथ परिश्रम की।[3] शिष्य का गुरु के साथ सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा पूर्वज के साथ उसके वंशज का। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रद्धा के बिना शिष्य में धर्मभाव पनप ही नही सकता।[4] स्वामी जी के शब्दों मे "गुरु को पूर्ण रूप से शुद्धचित होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा। वास्तव मे गुरु का काम

---

1. Devey, John—*Experience & Education*, New York, The Macmillan Company, P. 96.
2. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा–श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 20.
3. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा–वही, पृ० 21।
4. वही, पृ० 22।

ही यह है कि वे शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का सचार कर दे, ना कि शिष्य की बुद्धिवृत्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करे।"[1] अतः सच्चा गुरु तो वह है जो अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है तथा शिष्य के मन द्वारा देख और समझ सकता है।[2]

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर अध्यापक के विषय में पूर्णतः आदर्शवादी थे। अतः उनके अनुसार शिक्षक ज्ञानी, संयमी तथा आदर्श होना चाहिए। अध्यापक के ज्ञान की अपेक्षा उसके मनोभावों और आचरणों का प्रभाव छात्र पर अधिक पड़ता है। अतः वह चरित्रवान् अध्यापक को राष्ट्र की अमूल्यनिधि मानते थे। छात्र की व्यक्तिगत रूचियों, रुझानों, योग्यताओं तथा मनोवृत्ति के विकास को टैगोर बहुत महत्त्व देते थे। प्रकृतिवादी विचारधारा से प्रभावित होकर वह प्रकृति को छात्रों के लिए सर्वोत्तम पुस्तक मानते थे। उनका विश्वास था कि प्रकृति बालकों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है जिसको कभी लिखा गया है। जब वह युवा थे तब उनके अन्दर स्वय से भागने तथा प्रकृति मे हर वस्तु के साथ एक होने की लालसा थी।

प्रसिद्ध भारतीय शिक्षा-विचारक अरविन्द के अनुसार अध्यापक का स्थान बालक के पथ-प्रदर्शक तथा सहायक के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए। भारतीय वेदान्त की इस मान्यता को स्वीकार करते हुए कि मनुष्य का ज्ञान उसके अन्दर छिपा है और अध्यापक उसके आवरण को हटा देता है।[3] वह बालक में ही ज्ञान का स्रोत मानते है। अतः अरविन्द का विचार है कि अध्यापक न तो बच्चों को ज्ञान देता है और न ही उनके अन्दर के ज्ञान को विकसित करता है अपितु वह बालकों की इस बात में सहायता करता है कि वे स्वयं अपने अन्दर निहित ज्ञान का विकास करें। उनके अनुसार शिक्षा बालकेन्द्रित है। अतः छात्र की क्षमताओं, योग्यताओं एवं रूचियों आदि के विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता उपस्थित होती है। इस प्रकार अरविन्द के विचारों में शिक्षा का मुख्य केन्द्र बिन्दु बालक है। अध्यापक को उसे दृष्टि में रखते हुए अपना शिक्षण करना चाहिए।

भारतीय शिक्षा जगत् मे बेसिक शिक्षा के आविष्कारक महात्मा गाँधी में भारतीय आध्यात्मवाद, पाश्चात्य आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, व्यवहारवाद तथा यथार्थवाद का

---

1. वही, पृ० 22।
2. वही, पृ० 23।
3. तुलना कीजिए—"अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में। बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है। और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है तो हम कहते है कि 'हम सीख रहे है।' स्वामी विवेकानन्द वही, पृ० 9।

उचित सामन्जस्य होने से उनकी शिक्षक की कल्पना में उक्त विचारधाराओं का संगम दृष्टिगोचर होता है। उनके अनुसार अध्यापक को समाज का आदर्श व्यक्ति, ज्ञान का पुँज, सत्य का आचरण करने वाला, बालकों का पिता, मित्र, सहयोगी तथा पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। केवल मात्र व्यावसायिक दृष्टि से अध्यापन-कार्य को वह उचित नहीं मानते थे। उनके अनुसार एक आदर्श अध्यापक वही हो सकता है जो इस व्यवसाय को सेवाभाव से स्वीकार करता है। गाँधी जी के विचार से बालकों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास शिक्षा द्वारा होना चाहिए।[1] वह छात्र को अनुशासित तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले के रूप में देखते थे। उन्हीं के शब्दों मे—"हमारी भाषाओं में छात्र शब्द के लिए एक सुन्दर शब्द है—ब्रह्मचारी। इसका आशय है ईश्वर का अनुसंधान करने वाला, वह जो स्वयं ऐसे आचरण करता है कि कम से कम सम्भावित समय में ईश्वर के निकटतम स्वयं को पहुँचादे।"[2] इस प्रकार गाँधी जी छात्र के व्यक्तिगत, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विकास में ही अध्यापक की महत्त्वपूर्ण भूमिका की कल्पना करते थे।

आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षक-शिक्षार्थी :

उपर्युक्त विचारधाराओं से भिन्न भारत देश में शिक्षा के क्षेत्र में वैदिक विचारधारा का अजस्रस्रोत प्राचीनकाल से प्रवाहित है। इस विचारधारा के विकास में उपनिषद्-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आचार्य शंकर ने अपने सिद्धान्त का आधार इसी औपनिपद् दर्शन को स्वीकार किया है।[3] औपनिषद् दर्शन में गुरु शिष्य की कल्पना का विकास शुद्ध आध्यात्मिक आधार पर हुआ है। गुरु तथा शिष्य अपनी अन्तःक्रियाओं से ब्रह्म-दर्शन का विकास कर जीवन के सर्वोच्च लक्ष्यरूप मुक्ति को प्राप्त करते है। गुरु-शिष्य सम्बन्धी इन सभी आधारभूत औपनिषद् सिद्धान्तों एवं तत्त्वों को आचार्य शंकर ने ग्रहण कर नए सन्दर्भ में उनकी व्याख्या की है। अतः उनके अनुसार गुरु तथा शिष्य की पृथक्-पृथक् मीमांसा करना अपेक्षित है।

शिक्षक (गुरु) :

शाकर वेदान्त में गुरु का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृतिवादी शिक्षक के स्थान को महत्वपूर्ण नही मानते है। व्यवहारवादियों की दृष्टि में शिक्षक छात्र

---

1. Gandhi, M. K.,—*Harijan*, (31-7-37.)
2. Gandhi, M. K.,—*Young India*, September 8, 1927.
3. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2-1-3-11) गोविन्दमठ, टेढीनीम वाराणसी, पृ० 358।

का मार्गदर्शक एवं मित्र है किन्तु आदर्शवादी शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक के स्थान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान शांकर शिक्षा के सर्वोच्च उद्देश्य हैं।[1] इसी कारण आचार्य शंकर ने 'प्रश्नोत्तरी' में शिक्षा को ब्रह्मगति-प्रदा' कहा है।[2] यद्यपि जीवात्मा परमार्थतः ब्रह्म है तथापि आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति होना सहज कार्य नहीं है। इसी हेतु गुरु की शिष्य के लिए आवश्यकता होती है। छान्दोग्यपनिषद् (4-9-3) के शांकर भाष्य में गुरु के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—"आचार्य से प्राप्त हुई विद्या ही उत्कृष्टता को प्राप्त होती है।"[3] इस प्रकार वेदान्त दर्शन में गुरु के बिना ज्ञान-प्राप्ति न होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। शंकर के अनुसार आचार्यवान् शिष्य ही ब्रह्म को जानता है।[4]

शांकर साहित्य में शिक्षक के लिए गुरु, आचार्य तथा उपाध्याय[5] आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। आचार्य शंकर ने 'गुरू' तथा 'आचार्य' शब्दों का प्रयोग अध्यापक के लिए प्रायः किया है। 'गुरू' शब्द में गम्भीरता एवं महत्ता का भाव निहित है। शंकर ने 'गुरू' की परिभाषा करते हुए कहा है—"जिससे अज्ञान तथा मानसिक ग्रन्थियों से मुक्ति मिलती है, गुरु शब्द के अर्थ को जानने वाले उसे ही गुरू कहते हैं।"[6] आचार्य शंकर की गुरू की कल्पना में ऐसे व्यक्ति का भावनिहित है जो छात्र के अज्ञान का निराकरण करता है और उसे मानसिक द्वन्दों से मुक्तकर परमानन्द का अनुभव कराता है। यहाँ उनके अनुसार गुरु साक्षात् परमात्मा हो जाता है।[7] वह शिष्य का एकमात्र आध्यात्मिक पिता होकर उसके ज्ञान-विज्ञान का अक्षय स्रोत बन जाता है। 'आचार्य' शब्द में आचरण अथवा व्यवहार का भावनिहित होने से जो व्यक्ति शास्त्रों के अर्थ का (शिष्य में) संक्रमण करे और (उसे) स्वयं व्यवहार में लाए वह आचार्य कहलाता है।[8] उपाध्याय विधिवत् वेदादि शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण कर अध्यापन कार्य करने वाला होता है।[9] अतः शंकराचार्य शिक्षक में ऐसे तेजस्वी

---

1. वही (1-1-1-1) पृ० 29।
2. श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी (श्लोक 11) वही, पृ० 12-13।
3. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (4-9-3) वही, पृ० 399।
4. छान्दोग्योपनिषद् (6-14-2) पर शां० भा० द्रष्टव्य।
5. ब्रह्मसूत्र (1-2-6-23) के शांकर भाष्य में अध्यापक के लिए उपाध्याय शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।
6. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह :—सम्पादक, एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 152।
7. वही, पृ० 152।
8. देखिये परिशिष्ट सं० एक।
9. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1–2–6–23) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 184।

व्यक्तित्व की कल्पना करते है जिसमें विचार एवं चिन्तन की महत्ता, आचरण की उज्ज्वलता तथा विधिवत् प्राप्त शिक्षा की उत्कृष्टता समाहित होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षक प्रकृतिवादियों तथा व्यवहारवादियों की भाँति छात्र का केवल मात्र पथप्रदर्शक तथा मित्र ही नहीं अपितु इससे भी अधिक वह शिष्य की आत्मा है, उसकी प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। पाश्चात्य आदर्शवादियों की भाँति शंकर के अनुसार शिक्षक केवलमात्र शिक्षण ही नही करता है वरन् उसे आत्मानुभूति कराकर विश्व से तादात्म्य करने योग्य बना देता है।[1]

शिक्षक की योग्यताएँ

आचार्य शंकर ने 'विवेक चूडामणि' में गुरू की संकलपना पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"प्राज्ञ (स्थिर बुद्धि) गुरू के निकट जाय, जिससे उसके भव-बन्धन की निवृत्ति हो। जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) हों, निष्पाप हों, कामनाओं से शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हों ब्रह्मनिष्ठ हों, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हों और शरणपन्न सज्जनों के बन्धु हों, उन गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से भक्तिपूर्वक आराधना करके, उनके प्रसन्न होने पर निकट जाकर (शिष्य) अपना ज्ञातव्य पूछें।"[2] इसी प्रकार 'उपदेश साहस्री' में आचार्य के लक्षणों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—"ऊहापोह,[3] ग्रहण,[4] धारण,[5] शम, दम, दया एवं अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, ऐहिक (इस लोक में) एवं आमुष्मिक (परलोक के) भोगों से विरक्त, सब प्रकार के (स्त्रीधन एव यज्ञोपवीतादि) कर्म साधनों को त्यागने वाले, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, लोकमर्यादा का अतिक्रमण न करने वाले तथा दम्भ, दर्प, कुहुक

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-10) वही, पृ० 259।
2. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, वही, पृ० 15।
3. शिष्य के बिना कहे ही उसका भाव जान लेना अथवा उपदेश के समय शिष्य की समझ में आने योग्य नवीन युक्तियों की कल्पना करने की शक्ति 'ऊहा' है तथा शिष्य के मिथ्या ग्रहण को निवृत्त करने की अथवा स्वसिद्धान्त के विरोधी विचारों का निराकरण करने की सामर्थ्य 'अपोह' है। श्री शंकराचार्य उपदेशसाहस्री (1-1-6), भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, 1954, पृ० 6 पर अनुवादक की प्रथम टिप्पणी।
4. शिष्य के किए हुए प्रश्न और आक्षेपों को तुरन्त समझ लेने की शक्ति 'ग्रहण' है। वही, द्वितीय टिप्पणी।
5. शिष्य की शंका निवृत्त करने के लिए उसके सारासार का विचार करके निराकरण करते समय उन्हें स्मरण रखना 'धारण' है। उपदेश साहस्री (1-1-6) वही, तृतीय टिप्पणी।

(दूसरे को धोखा देना), कुटिलता, माया (दूसरे को मोह में डालना), मात्सर्य (गुण में दोषदृष्टि) मिथ्या भाषण, अहंकार और ममता आदि दोषों से रहित, केवल परोपकाररूप प्रयोजन वाले एवं अपनी विद्या का उपयोग करने की इच्छा वाले आचार्य को······उपदेश करना चाहिए।"[1] इसी प्रकार गुरू को शिष्य के हित का उपदेश करने वाला माना जाता है।[2]

उपर्युक्त उद्धहरणों में शिक्षक का एक स्वच्छ तथा स्पष्ट चित्र खीचा गया है। गुरू को केवल शास्त्रों (ग्रन्थों) का ज्ञाता होना ही पर्याप्त नही है वरन् उसे स्वयं ब्रह्मानुभूति सम्पन्न भी होना चाहिए। उसमे नैतिक गुणों का पूर्ण परिपाक होना चाहिए। मानसिक शान्ति एवं जितेन्द्रियता और सब प्रकार के भोगों से विरक्ति तथा अहंकार-शून्यता और परोपकारपरायणता गुरू के आभूषण हैं। इतना ही नही, उसे शिष्य के प्रश्न एवं शंका आदि का समाधान करने में कुशल होना चाहिए और ज्ञान को छात्र के अन्तम्तल में विकसित करने की कला का पारङ्गत होना चाहिए। भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा के लिए ऐसे शिक्षक की कल्पना की है जो अध्ययन-अध्यापन, नैतिक गुणों, आध्यात्मिक तथा धार्मिक विकास में उत्कृष्टता को प्राप्त किए हुए होता है। उसके सम्पर्क में आते ही शिष्य के अन्तस्तल में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का यह कथन भी उपयुक्त ही है—"सच्चा गुरू तो वह है जो क्षणभर में अपने आपको मानो सहस्र पुरुषों के रूप में परिवर्तित कर सकता है। सच्चा गुरू वह है जो अपने को तुरन्त शिष्य की सतह तक नीचे ले जा सकता है और अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है। ऐसा ही गुरू यथार्थ में शिक्षा दे सकता है, दूसरा नहीं।"[3]

शिक्षक के कार्य

आचार्य शंकर की उपर्युक्त शिक्षण की कल्पना मे जहाँ अध्यापक के उत्कृष्ट एवं महान् व्यक्तित्व का पता चलता है वहाँ उसके कर्त्तव्य तथा दायित्व भी उसमें निहित होकर प्रकाशोन्मुख है। शंकर के शब्दो में आचार्य का यह कर्त्तव्य प्रदर्शित किया गया है—"(उसे) किसी भी उपाय से शिष्य को कृतार्थ करना चाहिए।"[4] आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ दयासागर गुरुदेव की शरण मे जाकर जिज्ञासु (छात्र) को आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिए।[5]

वेदान्त-शिक्षा मे गुरू कृपा से प्राप्य ब्रह्मविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) को ही

---

1. श्री शंकराचार्य–उपदेश साहस्री (1-1-6) वही, पृ० 5।
2. श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी, वही, पृ० 9।
3. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा–श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 23।
4. श्रीमद्भगवत्गीता शां० भा० (18-71) वही, पृ० 478-79।
5. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही पृ० 15।

व्यक्तित्व की कल्पना करते हैं जिसमें विचार एवं चिन्तन की महत्ता, आचरण की उज्ज्वलता तथा विधिवत् प्राप्त शिक्षा की उत्कृष्टता समाहित होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में शिक्षक प्रकृतिवादियों तथा व्यवहार-वादियों की भाँति छात्र का केवल मात्र पथप्रदर्शक तथा मित्र ही नहीं अपितु इससे भी अधिक वह शिष्य की आत्मा है, उसकी प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। पाश्चात्य आदर्शवादियों की भाँति शंकर के अनुसार शिक्षक केवलमात्र शिक्षण ही नही करता है वरन् उसे आत्मानुभूति कराकर विश्व से तादात्म्य करने योग्य बना देता है।[1]

शिक्षक की योग्यताएँ

आचार्य शंकर ने 'विवेक चूडामणि' में गुरू की संकल्पना पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"प्राज्ञ (स्थिर बुद्धि) गुरू के निकट जाय, जिससे उसके भव-बन्धन की निवृत्ति हो। जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) हों, निष्पाप हों, कामनाओं से शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हों ब्रह्मनिष्ठ हों, ईधनरहित अग्नि के समान शान्त हों, अकारण दयासिन्धु हों और शरणपन्न सज्जनों के बन्धु हों, उन गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से भक्तिपूर्वक आराधना करके, उनके प्रसन्न होने पर निकट जाकर (शिष्य) अपना ज्ञातव्य पूछें।"[2] इसी प्रकार 'उपदेश साहस्री' में आचार्य के लक्षणों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—"ऊहापोह,[3] ग्रहण,[4] धारण,[5] शम, दम, दया एवं अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, ऐहिक (इस लोक में) एवं आमुष्मिक (परलोक के) भोगों से विरक्त, सब प्रकार के (स्त्रीधन एवं यज्ञोपवीतादि) कर्म साधनों को त्यागने वाले, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, लोकमर्यादा का अतिक्रमण न करने वाले तथा दम्भ, दर्प, कुहुक

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-10) वही, पृ० 259।
2. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, वही, पृ० 15।
3. शिष्य के बिना कहे ही उसका भाव जान लेना अथवा उपदेश के समय शिष्य की समझ में आने योग्य नवीन युक्तियों की कल्पना करने की शक्ति 'ऊहा' है तथा शिष्य के मिथ्या ग्रहण को निवृत्त करने की अथवा स्वसिद्धान्त के विरोधी विचारों का निराकरण करने की सामर्थ्य 'अपोह' है। श्री शंकराचार्य उपदेशसाहस्री (1-1-6), भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, 1954, पृ० 6 पर अनुवादक की प्रथम टिप्पणी।
4. शिष्य के किए हुए प्रश्न और आक्षेपों को तुरन्त समझ लेने की शक्ति 'ग्रहण' है। वही, द्वितीय टिप्पणी।
5. शिष्य की शंका निवृत्त करने के लिए उसके सारासार का विचार करके निराकरण करते समय उन्हें स्मरण रखना 'धारण' है। उपदेश साहस्री (1-1-6) वही, तृतीय टिप्पणी।

(दूसरे को धोखा देना), कुटिलता, माया (दूसरे को मोह में डालना), मात्सर्य (गुण में दोषदृष्टि) मिथ्या भाषण, अहंकार और ममता आदि दोषों से रहित, केवल परोपकाररूप प्रयोजन वाले एवं अपनी विद्या का उपयोग करने की इच्छा वाले आचार्य को……उपदेश करना चाहिए।"[1] इसी प्रकार गुरू को शिष्य के हित का उपदेश करने वाला माना जाता है।[2]

उपर्युक्त उद्धहरणों में शिक्षक का एक स्वच्छ तथा स्पष्ट चित्र खींचा गया है। गुरू को केवल शास्त्रों (ग्रन्थों) का ज्ञाता होना ही पर्याप्त नही है वरन् उसे स्वयं ब्रह्मानुभूति सम्पन्न भी होना चाहिए। उसमें नैतिक गुणों का पूर्ण परिपाक होना चाहिए। मानसिक शान्ति एवं जितेन्द्रियता और सब प्रकार के भोगों से विरक्ति तथा अहंकार-शून्यता और परोपकारपरायणता गुरू के आभूषण हैं। इतना ही नहीं, उसे शिष्य के प्रश्न एवं शंका आदि का समाधान करने में कुशल होना चाहिए और ज्ञान को छात्र के अन्तस्तल में विकसित करने की कला का पारङ्गत होना चाहिए। भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा के लिए ऐसे शिक्षक की कल्पना की है जो अध्ययन-अध्यापन, नैतिक गुणों, आध्यात्मिक तथा धार्मिक विकास में उत्कृष्टता को प्राप्त किए हुए होता है। उसके सम्पर्क में आते ही शिष्य के अन्तस्तल में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है। इस सन्दर्भ मे स्वामी विवेकानन्द का यह कथन भी उपयुक्त ही है—"सच्चा गुरू तो वह है जो क्षणभर मे अपने आपको मानो सहस्र पुरुषों के रूप में परिवर्तित कर सकता है। सच्चा गुरू वह है जो अपने को तुरन्त शिष्य की सतह तक नीचे ले जा सकता है और अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है। ऐसा ही गुरू यथार्थ में शिक्षा दे सकता है, दूसरा नहीं।"[3]

शिक्षक के कार्य

आचार्य शंकर की उपर्युक्त शिक्षण की कल्पना में जहाँ अध्यापक के उत्कृष्ट एवं महान् व्यक्तित्व का पता चलता है वहाँ उसके कर्त्तव्य तथा दायित्व भी उसमें निहित होकर प्रकाशोन्मुख है। शंकर के शब्दो मे आचार्य का यह कर्त्तव्य प्रदर्शित किया गया है—"(उसे) किसी भी उपाय से शिष्य को कृतार्थ करना चाहिए।"[4] आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ दयासागर गुरुदेव की शरण मे जाकर जिज्ञासु (छात्र) को आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिए।[5]

वेदान्त-शिक्षा मे गुरू कृपा से प्राप्य ब्रह्मविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) को ही

1. श्री शंकराचार्य–उपदेश साहस्री (1-1-6) वही, पृ० 5।
2. श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी, वही, पृ० 9।
3. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा–श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 23।
4. श्रीमद्भगवत्गीता शां० भा० (18-71) वही, पृ० 478-79।
5. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही पृ० 15।

परब्रह्म प्राप्ति का साधन माना गया है।[1] शांकर शिक्षा में गुरू का स्थान केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं है वरन् उसकी अनिवार्यता है। बिना गुरू के व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार गुरू शिष्य के लिए पथ-प्रदर्शक है। वह शिष्य को उन सब उपायों का सुझाव देता है जिसका अवलम्बन करके शिष्य आत्म-कल्याण की प्राप्ति कर लेता है। इस दृष्टि से भगवान् शंकराचार्य ने गुरू के कर्त्तव्यों का निरुपण करते हुए लिखा है—"अपने समीप नियमपूर्वक आए हुए योग्य जिज्ञासु (शिष्य) में प्रति विज्ञपुरुष (गुरू) को विद्या का उपदेश करना ही चाहिए तथा सभी अवस्थाओं में मिथ्या भाषण कभी नहीं करना चाहिए।"[2]

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षक को छात्र को कभी निरुत्साहित नही करना चाहिए। उसे सभी छात्रों का ध्यान रखना चाहिए। विपरीत ग्रहण करने वाले (उल्टा समझने वाले) शिष्यों की भी अध्यापक को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[3] शिक्षक को छात्र के व्यक्तित्व का सदैव आदर करना चाहिए। उसके लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[4]

अध्यापक को शिष्य के गुणों की परीक्षा करके उसे शरण में लेना चाहिए। शिष्य के गुणों को भली भाँति जान लेने पर ही उसे उपदेश किया जाना चाहिए। शंकर के शब्दों में—"इसलिए जो गुरू ब्रह्मविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) का उपदेश करना चाहता है उसे बहुत समय तक शिष्य की परीक्षा करके उसके गुणों को जानकर इसका उपदेश करना चाहिए।"[5]

गुरू शिष्य से तभी धन-प्राप्ति (गुरू-दक्षिणा) का अधिकारी है जबकि वह शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ कर दे। बृहदारण्यकोपनिषद् के शांकर भाष्य में याज्ञवल्क्य ऋषि का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है, "गुरू को शिष्य का अनुशासन किए बिना–उसे कृतार्थ किए बिना शिष्य से धन नहीं लेना चाहिए।[6] आचार्य शंकर गुरू से यह अपेक्षा रखते है कि उसे प्रलोभनहीन होकर शिक्षा-दान करना चाहिए। आचार्य की शरण में सांसारिक दुःखों से पीड़ित शिष्य जब आता है तो वह आत्मकल्याण के प्रति सशङ्कित होता है। अध्यापक को अपनी शरण में आये हुए समारानल-संतप्त शिष्य को करुणामयी दृष्टि से देखकर अभय प्रदान करना चाहिए।[7]

---

1. मुण्डकोपनिषद् (सम्बन्ध शां० भा०) वही पृ० 9।
2. प्रश्नोपनिषद् शां० भा० (6–1) वही, पृ० 96।
3. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (8-8-1) वही, पृ० 877।
4. छान्दोग्योपनिषद् (8-7-4) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां० भा० (6-22) वही, पृ० 260।
6, बृहदारण्यकोपनिषद् (4-1-2) शां० भा०, वही, पृ० 847।
7. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 18।

अध्यापक को छात्र को इन शब्दों में अभयदान देना चाहिए—"हे विद्वन् (शिष्य) तू मत डर, तेरा नाश नहीं होगा। संसार-सागर से तरने का उपाय है। जिस मार्ग से यतिजन पार गये हैं, वही मार्ग मैं तुझे दिखलाता हूं।"[1]

आचार्य का वेदान्त-शिक्षा मे यह कर्त्तव्य भी निर्धारित किया गया है कि जब तक शिष्य का ज्ञान सुदृढ़ न हो जाए तब तक अनवरत रूप से उसका शिक्षण अध्यापक को करते रहना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित आरुणि-श्वेतकेतु के उपाख्यान से भी यह तथ्य प्रकट होता है कि श्वेतकेतु को उसके पिता आरुणि ने नौ बार-'तत्वमसि' महावाक्य का उपदेश देकर ब्रह्मात्मैक्य का बोध कराया था।[2] आचार्य शंकर के अनुसार गुरू को चाहिए कि सम्पूर्ण अनित्य साध्य और साधनों से विरक्त, पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा का त्याग करने वाले परमहंस सन्यासाश्रम में स्थित, शम-दम एवं दयादि से युक्त, शिष्य के शास्त्र प्रसिद्ध गुणों से सम्पन्न, शुचि ब्राह्मण तथा शास्त्रोक्त विधि से गुरू की शरण में प्राप्त हुए शिष्य को उनकी जाति-कर्म स्वभाव विद्या और कुल के द्वारा परीक्षा करके, इस मोक्ष के साधनभूत ज्ञान का तब तक बारम्बार उपदेश करे जब तक कि उसे इसका सुदृढ़ ग्रहण होता है।[3]

शिष्य की प्रशंसा करने से उसका उत्साहवर्धन होता है। आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान के अनुसार छात्र को ज्ञानार्जन के लिये उचित प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है। इससे शिष्य में आत्मविश्वास जाग्रत होता है। उसे अपनी उपलब्धियों पर गौरवानुभूति होती है और उसमें नई प्रेरणा का उदय होता है। अतः शिक्षण के समय शिष्य की अनुकूल प्रतिक्रियाओं अथवा उपलब्धियों की प्रशंसा की जानी चाहिए। आचार्य शंकर शिक्षा मनोविज्ञान के इस तथ्य से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक छात्र के आत्म-कल्याण के प्रयत्न की प्रशंसा की है। उनके अनुसार आध्यात्मिक शिक्षार्थी की प्रशंसा अध्यापक को इन शब्दों में करनी चाहिए—"तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझसे पवित्र हो गया, क्योंकि तू अविद्या रूपी बन्धन से छूटकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होना चाहता है।[4]"

शिक्षार्थी (शिष्य) :

शिक्षक की भाँति शिक्षार्थी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः वेदान्त इस

---

1. वही, पृ० 18-19।
2. छान्दोग्योपनिषद् (शां० भा०) वही, पृ० 7 पर अनुवादक की प्रस्तावना द्रष्टव्य।
3. श्री शंकराचार्य–उपदेश साहस्री, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी, पृ० 2।
4. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०21।

विवाद को निरर्थक मानता है कि शिक्षा में अध्यापक का महत्त्व अधिक है अथवा छात्र का। पाश्चात्य आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, व्यवहारवाद तथा यथार्थवाद में यही रस्साकशी अब तक चल रही है कि शिक्षा को गुरुकेन्द्रित माना जाय अथवा छात्र केन्द्रित। वेदान्त की दृष्टि में गुरु और शिष्य दोनों का ही सापेक्षिक महत्त्व है। वस्तुत: यदि देखा जाय तो अध्यापक की समस्त क्रिया-प्रक्रियाएँ तथा पाठ्यक्रम की सम्पूर्ण योजनायें छात्र के लिये ही होती हैं। वेदान्त सूत्र का प्रारम्भ छात्र की दृष्टि से हुआ है (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)[1]। जिज्ञासा छात्र को होती है उसी की सन्तुष्टि करना समस्त शैक्षिक प्रक्रिया का मुख्य लक्ष्य होता है। अत: सीखने की प्रक्रिया में शिष्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हुए भगवान् शंकराचार्य लिखते हैं—"आचार्य के ऐसा कहने पर शिष्य ने एकान्त में बैठकर समाहित होकर आचार्य के बताये हुए आगम को अर्थ सहित विचार कर और तर्क द्वारा निश्चय कर आत्मानुभव करने के अनन्तर आचार्य के समीप आकर कहा—मैं ऐसा मानता हूँ कि अब मुझे ब्रह्म विदित हो गया है।"[2] इस प्रकार वेदान्त की शिक्षा में गुरु, शिष्य तथा शास्त्र (पाठ्यक्रम) का समान रूप से महत्त्व है[3] किन्तु ज्ञान का स्वरूप अनुभवमूलक होने से सीखने की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका शिष्य की रहती है।[4]

वेदान्त दर्शन छात्र को प्रकृतिवादियों, व्यवहारवादियों तथा यथार्थवादियों की भाँति मात्र शरीर नहीं मानता है। उसके अनुसार वह ब्रह्म अथवा आत्मा है।[5] वह अनन्तशक्ति सम्पन्न है। उसमें अनन्त ज्ञान की क्षमता है। विवेकानन्द के ये शब्द इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—"मनुष्य की आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है, चाहे वह जानता हो या न जानता हो। इसको जानना, इसका बोध होना ही इसका प्रकट होना है।"[6] आज जो बालक हमें कक्षा में दिखाई पड़ता है वह अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप अनेक संस्कारों से युक्त है।[7] इसीलिये बालकों में व्यक्तिगत

---

1. यह ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) का प्रथम सूत्र है। इस पर आचार्य शंकर का समस्त भाष्य शिक्षार्थी के सन्दर्भ में किया गया है। इसीलिये उन्होंने ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व साधन चतुष्ट्य (शमदमादि) पर बडा बल दिया है। ये चारों साधन चतुष्ट्य वस्तुत: शिष्य की योग्यताएँ हैं जिनकी यथास्थान प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचना की गई है।
2. केनोपनिषद् शां०भा० (2-1), वही, पृ०67।
3. गीता, शां०भा० (3-41) वही. पृ०104।
4. केनोपनिषद् (2-1) पर शांकर वाक्य भाष्य दृष्टव्य।
5. 'तत्वमसि' बृहदारण्यकोपनिषद् (6-8-7) पर शांकर भाष्य दृष्ट्व्य।
6. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 10।
7. तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा० (1-11), वही, पृ०91।

भिन्नताएँ होने से आचार्य शंकर के अनुसार "संसार में एक ही गुरु से श्रवण (अध्ययन) करने वालों में कोई (छात्र) तो ठीक-ठीक समझ लेता है, कोई ठीक नहीं समझता है, कोई उल्टा समझ बैठता है और कोई समझता ही नहीं।"[1] इस प्रकार एक बालक दूसरे से अपनी रुचि, योग्यता एवं क्षमता में भिन्न है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी व्यक्तिगत वैभिन्य को आधार बनाकर शिक्षा की प्रस्तावना करता है। इसके विपरीत वेदान्त का शिक्षा-दर्शन जगत् के नानात्व (वैभिन्य) को अज्ञानजन्य मानता है।[2] उसके अनुसार छात्रों में व्यक्तिगत भिन्नता भी माया या अविद्या के कारण है।[3] अविद्या का पर्दा हटते ही शुद्ध आत्मा के दर्शन होते है।[4] छात्र मूलतः आत्मा है और शुद्ध चैतन्यस्वरूप होने से स्वयं सच्चिदानन्द परब्रह्म है।[5]

जब तक छात्रों को ब्रह्मज्ञान नहीं होता है तब तक वे इस व्यावहारिक जगत् में ही निवास करते है और इस दृष्टि से उनका शरीर, जगत्, शास्त्र और गुरु सत्य माने जायेगे।[6] अतः जगत् में कुशलतापूर्वक जीवन-यापन की शिक्षा उन्हे मिलनी चाहिए। उन्हे कर्म की, उपासना की और ब्रह्म की शिक्षा क्रमशः मिलेगी जिससे कि वे उत्तरोत्तर आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर आगे बढ़ सके। अन्ततोगत्वा उन्हें ब्रह्म ही होना है।[7]

प्राचीन वैदिक साहित्य में जिस प्रकार शिक्षक के लिए गुरु, आचार्य तथा उपाध्याय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है उसी प्रकार छात्र के लिये शिष्य, ब्रह्मचारी तथा अन्तेवासी आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। वैदिक परम्परा के अनुयायी होने से आचार्य शंकर ने भी विद्यार्थी के अर्थ मे इन शब्दो का प्रयोग किया है। शमदम आदि साधन चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति शिष्य होता है।[8] ब्रह्मचारी ब्रह्म मे विचरण करने वाला अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला होता है।[9] ब्रह्मचारी शब्द की व्याख्या गाँधी जी ने बहुत सुन्दर ढंग से की है—"हमारी भाषाओं में

---

1. केनोपनिषद् शां०भा० (2-1), वही, पृ०62।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (4-3-21), वही, पृ०973।
3. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः—सम्पादक-एच०आर० भगवन्, पूना शहर, पृ०115।
4. गीता शां०भा० (18–73), वही, पृ० 479।
5. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (1–4–10), वही, पृ०257।
6. माण्डूक्योपनिषद् शां०भा० (आगम प्रकरण–18), वही, पृ०68।
7. बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
8. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः—सम्पादक एच०आर० भगवत्, वही, पृ०130-131।
9. "सर्वं ब्रह्मेतियो वेद ब्रह्मचारी स उच्यते।" वही, पृ०43।

विद्यार्थी शब्द के लिये एक सुन्दर शब्द—ब्रह्मचारी का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है ईश्वर का अनुसन्धानकर्ता जो कि कम से कम समय में ईश्वर के निकटतम पहुँचने के लिये आचरण करता है।"[1] गुरुकुल में निवास कर शिक्षा ग्रहण करने वाला अन्तेवासी कहलाता है। स्वामी विवेकानन्द 'गुरुगृहवास' को शिक्षा मानते हैं।[2] आचार्य शंकर शिक्षा में ऐसे छात्र की कल्पना करते है जो साधन चतुष्ट्य सम्पन्न होकर गुरु के सान्निध्य में रहता हुआ ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये विधिवत् शिक्षा ग्रहण करता है।

छात्र की योग्यताएँ :

वेदान्त की शिक्षा में ब्रह्मज्ञान का सर्वोच्च महत्त्व होने से गुरु तथा छात्र से अपेक्षाओं का स्तर अत्यन्त उच्चकोटि का हो जाता है। विद्यार्थी के सन्दर्भ में आचार्य शंकर का यह कथन समीचीन ही है—"जो पुरुष शमादि साधन से रहित तथा अभिमान और रागद्वेषादि से युक्त है उसका ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म बाह्य मिथ्या प्रतीतियों (अवभासों) के निरसन द्वारा ही ग्रहण किया जाने योग्य है।"[3] अत: शिक्षा ग्रहण करने के लिये गुरु के पास जाने से पूर्व छात्र कोकतिपय अपेक्षाओं की पूर्ति तथा विशिष्ट प्रकार की योग्यताओं का सम्पादन कर लेना चाहिए। आचार्य शंकर ने छात्र की इन योग्यताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इहलोक तथा परलोकस्थ विषय-भोगों से विराग, शम-दमादि स [illegible] और मुमुक्षुता (मोक्ष की इच्छा) इन साधनों (योग्यताओं) के होने पर ही धर्म-जिज्ञासा से पूर्व तथा पश्चात् भी ब्रह्म-जिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है अन्यथा नहीं।"[4] नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रभोग विराग, शमदमादि षट्साधन सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता छात्र की ऐसी चार प्रकार की योग्यताएँ हैं जिनके होने पर ही उसे ब्रह्मबोध की क्षमता प्राप्त होती है।[5] अत: उन चारों की व्याख्या करना यहाँ आवश्यक होगा—

(1) **नित्यानित्यवस्तुविवेक:**—ब्रह्म विद्या के छात्र को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेदकर सकने की शक्ति होनी चाहिए। क्या सत् है? क्या असत् है? ब्रह्म सत् है और जगत् असत् (मिथ्या) है, ऐसा निश्चय रखने वाला छात्र नित्यानित्यवस्तुविवेकी होता है।[6]

---

1. M.K. Gandhi—Young India, 8-9-1927.
2. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा-श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ०20।
3. केनोपनिषद् (31), शां०भा०, वही, पृ०92।
4. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०26।
5. श्री शंकराचार्य—विवेक चूडामणि, वही, पृ० 12।
6. वही, पृ०12।

(2) **वैराग्य :**—यह जगत् अनित्य अथवा मिथ्या होने से नश्वर है। इस लोक की वस्तुएँ भी असत्य हैं। भोगविलास सम्बन्धी सभी पदार्थ अनित्य है। अतएव दर्शन (नेत्र) और श्रवण (कर्ण) आदि के द्वारा शरीर से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग पदार्थों में जो घृणा बुद्धि है वही "वैराग्य" है।[1] ब्रह्म-जिज्ञासु शिष्य को ऐसे उत्कृष्ट वैराग्य से सम्पन्न होना चाहिए।

(3) **शम-दम आदि साधन :**—ब्रह्मविद्या के शिक्षार्थी में शम-दम आदि निम्नलिखित छः संयमों की अपेक्षा की जाती है:—

(क) **शम :**—इसका अर्थ है मन का संयम। ब्रह्म जिज्ञासु द्वारा बारम्बार दोषदृष्टि करके विषय समूह से विरक्त होकर अपने चित्त को अपने लक्ष्य में स्थिर करना ही 'शम' है।[2]

(ख) **दमः**—इसका अर्थ है इन्द्रियों पर नियन्त्रण। कर्मेन्द्रिय[3] और ज्ञानेन्द्रिय[4] दोनों को अपने विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है।[5]

(ग) **उपरति :**—छात्र की वृत्ति का बाह्य विषयों (यज्ञादि कर्मों) का आश्रय न लेना 'उपरति' है।[6]

(घ) **तितिक्षा :**—चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है।[7]

(ङ) **समाधानः**—अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना 'समाधान' कहलाता है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है।[8]

(च) **श्रद्धाः**—शास्त्र और गुरु वाक्यों में सत्यत्व बुद्धि करना श्रद्धा है।[9]

(4) **मुमुक्षा :**—ब्रह्मविद्या के शिक्षार्थी को मोक्ष की इच्छा रखना आवश्यक है। अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन है, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा शंकर के अनुसार 'मुमुक्षुता' है।[10] मोक्ष की इच्छा

---

1. वही, पृ॰13।
2. वही, पृ॰13।
3. हाथ, पैर, वाणी, मूत्रेन्द्रिय तथा मलद्वार पाँच कर्मेन्द्रिया है।
4. आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है।
5. वही, पृ॰ 13।
6. वही, पृ॰ 13।
7. वही, पृ॰13।
8. वही, पृ॰ 14।
9. वही, पृ॰ 14।
10. वही।

मन्द और मध्यम भी हो तो भी वैराग्य तथा शमादि षट्सम्पत्ति और गुरु कृपा से विकसित होकर फल उत्पन्न करती है।[1] आचार्य शंकर के अनुसार जिस शिक्षार्थी में वैराग्य तथा मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसी में शमादि का विकास होता है।[2]

उपर्युक्त साधन चतुष्टय के अतिरिक्त ब्रह्मविद्या के छात्र को क्रियावान् (यज्ञादि-धार्मिक क्रियाएँ करने वाला)···श्रोत्रिय (वेद का ज्ञानी) और ब्रह्मनिष्ठ··· तथा परब्रह्म को जानने का इच्छुक····· शुद्धचित्त होना चाहिए।[3] आचार्य शंकर के अनुसार शिष्य में ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन की सामर्थ्य भी होनी चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त शिक्षा में शिष्य का बुद्धिमान् होना तथा तर्क-वितर्क में कुशल होना भी आवश्यक माना गया है।[5]

छात्र के अपने वर्णानुसार, शास्त्रानुसार यथा समय यज्ञोपवीत संस्कार कराने पर ही वेदान्त की शिक्षा में उसके प्रवेश का उन्होंने प्रतिपादन किया है।

छात्र के कार्य तथा कर्त्तव्य :

वेदान्त-शिक्षा में गुरु की अनिवार्यता होने से शिष्य को विधिवत् गुरु की शरण में जाना चाहिये। शास्त्रज्ञ (विद्वान्) होने पर भी उसे स्वतन्त्रतापूर्वक ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण नहीं करना चाहिए। हाथ में समिधाओं का भार लेकर शिष्य को श्रोत्रिय यानी श्रवण और अध्ययन के अर्थ से सम्पन्न तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।[6]

गुरु के पास पहुँचकर प्रथम उसकी प्रार्थना करते हुए शिष्य को उनसे अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट करना चाहिए—"हे शरणागत वत्सल, करुणासागर प्रभो! आपको नमस्कार है। संसार-सागर में पड़े हुए मेरा आप अपनी सरल तथा अतिशय कारुण्यामृत-वर्षिणी कृपा-कटाक्ष से उद्धार कीजिए।"[7] अतः गुरु के प्रति शिष्य का पूज्यभाव होना चाहिए।

विद्यार्थी को गुरु के सम्मुख इस प्रकार प्रतिज्ञा करनी चाहिए—"हे पूजनीय मैं स्वाध्याय के ग्रहण के लिये ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में निवास करूंगा।"[8]

---

1. वही।
2. वही।
3. मुण्डकोपनिषद् शां०भा०, वही, पृ०115-16।
4. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (3-17-7), वही, पृ०336।
5. श्री शंकराचार्य—विवेक चूडामणि, वही, पृ०11।
6. मुण्डकोपनिषद् शां०भा० (1-2-12), वही, पृ०45।
7. श्री शंकराचार्य—विवेक-चूडामणि, वही, पृ०16।
8. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (4-4-1), वही, पृ०381।

शिष्य को गुरु के साथ प्रश्नोत्तर रूप में विचार-विमर्श द्वारा आत्मज्ञान को सुलभ करना चाहिए।[1] इसके लिए शिष्य में ब्रह्म विद्या के प्रति दृढ़ भाव होना चाहिए।[2]

शांकर शिक्षा-दर्शन में गुरु को साक्षात् ब्रह्म रूप माना जाता है। अतः शिष्य को गुरु सेवा करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए[3] क्योंकि जो छात्र गुरु आदि की निरन्तर परिचर्या करता है वही (भगवान्) की उपासना करता है।[4] शंकर के अनुसार शिष्य को सदैव वेदान्त का विचार करना चाहिए और गुरु की वन्दना करनी चाहिए।[5]

शिष्य को अपने उत्तम कुल, विद्या, आचार और नाना प्रकार के साधनों की सामर्थ्य रूप सम्पत्ति से होने वाले अभिमान को त्याग कर श्रेयः (मोक्ष) साधन की प्राप्ति के लिये साधारण व्यक्ति के समान गुरु के पास जाना चाहिये।[6] उसमें विनयशीलता भी होनी चाहिए।[7]

शंकराचार्य ने श्रद्धा, जितेन्द्रियता तथा तत्परता को ज्ञान प्राप्ति के साधनरूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार शिष्य को अपने अन्दर श्रद्धा तथा संयम के साथ ज्ञान के लिये तत्परता का भी विकास करना चाहिये।[8]

ब्रह्मचर्य तथा गुरु सेवा के साथ छात्र के लिये भिक्षा-भोजन को आचार्य शंकर ने उसके व्रतों में स्वीकार किया है। अतः शिष्य को भिक्षाटन द्वारा अपने अन्दर वैराग्य की भावना को दृढ़ करना चाहिये जिससे उसके जीवन में संन्यास ग्रहण की क्षमता का विकास हो जाये।

उपर्युक्त सन्दर्भ में आर० के० मुकर्जी ये के शब्द विचारणीय हैं—"ब्रह्मचारी (छात्र) का भिक्षा लाना अन्य कर्त्तव्य है। यह भिक्षा माँगना उसके लिए नहीं था

---

1. केनोपनिषद् शां०भा० (1/सं०भा०), वही, पृ०18।
2. केनोपनिषद् (2–2) पर शां०भा० दृष्टव्य।
3. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण—ग्रन्थसंग्रहः–सम्पादक–एच०आर० भगवत्, पूना शहर, पृ०25।
4. तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा० (1-3-4), वही, पृ०32।
5. "विचारणीया वेदान्ता वन्दनीयो गुरु सदा।"—श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण–ग्रन्थ संग्रहः, वही, पृ०25।
6. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (7–1), वही, पृ०712।
7. श्रीमद्भगवद्गीता (4–34) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
8. गीता शां०भा० (4–39), वही, पृ०138।

बल्कि विद्यालय की सहायता के लिए। इसके शैक्षिक महत्त्व को शतपथ ब्राह्मण (10-3-3-5) में स्पष्ट किया गया है जहाँ यह संकेत मिलता है कि इसका अभिप्राय है छात्र में मानवता एवं त्याग की भवना को उत्पन्न करना।"[1]

गुरू सेवा से अवशिष्ट समय में छात्र को वेदाध्ययन करना चाहिए। नियमवान् विद्यार्थी का अध्ययन किया हुआ वेद ही कर्म और ज्ञान का फल-प्राप्ति हेतु होता है।[2]

शिक्षा समाप्त होने पर छात्र को आचार्य के चरणों में पुष्पाञ्जलि प्रदानकर तथा सिर झुकाकर प्रणाम करके उनका पूजन करते हुए उनका आभार व्यक्त करना चाहिए—'हमारेनित्य, अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्म शरीर के जनयिता होने के कारण आप तो हमारे पिता हैं, जिन आपने विद्यारूप नौका के द्वारा हमे विपरीत ज्ञानरूप अविद्या से अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग और दुःख आदि ग्राहों के कारण जो अपार हैं उस अविद्यारूप समुद्र से उस ओर महासागर के पार के समान अपुनरावृत्ति रूप मोक्षसंज्ञक दूसरे पार पहुँचा दिया है। अतः आपका पितृत्व तो अन्य (जन्मदाता) पिता की अपेक्षा भी युक्ततर है क्योंकि दूसरा पिता केवल शरीर को ही उत्पन्न करता है तो भी वह लोक में सबसे अधिक पूजनीय होता है, फिर आत्यन्तिक अभय प्रदान करने वाले आपके पूजनीयत्व के विषय में तो कहना ही क्या है ?"[3]

शिक्षा-समाप्ति पर गुरू से आर्शीवाद लेकर शिष्य को गुरुदक्षिणा में अभीष्ट धन लाकर देना चाहिए[4] किन्तु शिष्य को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि इस विद्या का बदला चुकाने के लिए कोई व्यक्ति इस आचार्य को जल से परिगृहीत अर्थात् समुद्र से घिरी हुई और धन से परिपूर्ण यानी भोग की सामग्रियों से सम्पन्न यह सारी पृथ्वी भी दे तो भी वह इसका बदला नहीं हो सकता है।[5] अतः शिष्य में गुरू-कृपा की ऋणमुक्तता का भाव कभी नहीं आना चाहिए।

अन्ततः सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य शिष्य का यह है कि उसे गुरू के उपदेश का श्रवण, मनन एव निदिध्यासन कर ब्रह्म साक्षात्कार की क्षमता का विकास अपने अन्दर करते रहना चाहिए।[6]

---

1. Mookerji, R. K., *Ancient Indian Education, Sunder* Lal Jain Motilal Banarsidas, Banglow Road, Jawahar Nagar, Delhi-6 P. XXX.
2. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (8-15-1) वही, पृ० 844-45।
3. प्रश्नोपनिषद् शां० भा० (6-8) वही, पृ० 124-25।
4. तैत्तिरीयोपनिषद्–शां० भा० (1-11-1) वही, पृ० 73।
5. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (3-11-6) वही, पृ० 277।
6. श्री शंकराचार्य–विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह :—सम्पादक—एच० आर० भगवत्, पूनाशहर, पृ० 40।

गुरू-शिष्य-सम्बन्ध

वेदान्त की दृष्टि मे गुरू-शिष्य में कोई भेद नही है। दोनों ही परब्रह्म के रूप हैं। जिस प्रकार यह प्रपञ्च (जगत) माया और रज्जु-सर्प के सदृश है उसी प्रकार शिष्यादि भेद विकल्प भी आत्मज्ञान से पूर्व ही उपदेश के निमित्त से है। शंकर के अनुसार शिष्य, आचार्य और शास्त्र—यह भेद उपदेश के ही लिए है। उपदेश के कार्य-स्वरूप ज्ञान के निष्पन्न होने पर, अर्थात् परमार्थतत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान हो जाने पर द्वैत (गुरू-शिष्य-भेद) की सत्ता नहीं रहती है।[1]

आचार्य शंकर के अनुसार गुरू तथा शिष्य उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार ब्रह्म तथा जीवात्मा एकरूप हैं। यह दृष्टिकोण पारमार्थिक दृष्टि से है। शिक्षा की व्यवस्था के लिए पारमार्थिक दृष्टिकोण के स्थान पर व्यावहारिक दृष्टिकोण का आश्रय लेकर शंकर ने गुरू, शिष्य तथा शास्त्र आदि के भेद को स्वीकार किया है। वह शिक्षक को बोध कराने वाला तथा शिष्य को बोध करने वाला मानते हैं। गुरू यदि उपदेशक है तो शिष्य उपदेश ग्रहण करने वाला। गुरू शिष्य को जो कुछ प्रदान करता है शिष्य उसे ग्रहण करता है। इस कारण आचार्य शंकर ने गुरू को शिष्य का हितोपदेष्टा तथा शिष्य को गुरू भक्त के रूप मे माना है।[2]

आचार्य शंकर के अनुसार गुरू-शिष्य में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। गुरू विद्या के द्वारा शिष्य के नित्य, अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्म शरीर को जन्म देता है। अतः वह शिष्य का आध्यात्मिक पिता है।[3] आध्यात्मिक ज्ञान देकर गुरू ने शिष्य के जिस दिव्य जन्म की अवतारणा की है वह भौतिक जन्म देने वाले पिता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से शिष्य के लिए आचार्य पिता से अधिक पूजनीय एवं वन्दनीय होता है।[4] आचार्य के लिए शिष्य पुत्रवत् रक्षणीय तथा पालनीय होता है।[5] शिष्य आचार्यकुलवासी होकर गुरू के अत्यन्त निकट हो जाता है। दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता है। दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हो जाते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार 'ब्रह्म विद्या' (आध्यात्मिक शिक्षा) बिना गुरू-कृपा के प्राप्त होनी कठिन है।[6] अतः शंकर-दर्शन में मुमुक्षु व्यक्तियों (शिष्यों) के लिए गुरू को साक्षात् ब्रह्म मानकर सेवा करने का मत प्रतिपादित किया गया

1. माण्डूक्योपनिषद् (आगम प्रकरण—18) शां० भा० वही, पृ० 68।
2. श्री शकराचार्य-प्रश्नोत्तरी (श्लोक-7) वही, पृ० 9।
3. प्रश्नोपनिषद् (6-8) शां० भा० वही, पृ० 124।
4. वही, पृ० 125।
5. छान्दोग्योपनिषद् (8-7-4) शां० भा० वही, पृ० 874।
6. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां० भा० (6-23) वही, पृ० 263।

है।[1] दृष्टि से गुरू ईश्वरतुल्य हो जाता है और शिष्य उसकी सेवा करने वाला भक्त हो जाता है। शंकर के अनुसार भगवान्-भक्त जैसा सम्बन्ध गुरू और शिष्य के मध्य होना चाहिए।[2] इस सन्दर्भ में आचार्य शंकर की गुरू वन्दना के ये शब्द यहाँ पर उल्लेखनीय हैं—"जिसकी वन्दना से अखण्डानन्द स्वरूप ब्रह्म का बोध होता है उस सच्चिदानन्दस्वरूप गुरू गोविन्द को मै नमन करता हूँ।"[3]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरू–शिष्य का सम्बन्ध, चाहे शिक्षा देने वाले और शिक्षा लेने वाले जैसा हो, चाहे पिता-पुत्र जैसा हो, चाहे भगवान्-भक्त जैसा हो, किन्तु आचार्य शंकर दोनों के सम्बन्धो की मधुरता, सहजता, स्वाभाविकता तथा अन्योन्याश्रितता पर बल देते है। अतः उनके ये उद्‌गार आज की पृष्ठभूमि मे मनन करने योग्य है जबकि आज शिक्षक-छात्र-सम्बन्धों मे सौहार्दता तथा सौजन्यता एवं मधुरता का निरन्तर ह्रास हो रहा है—"हम आचार्य और शिष्य दोनों की साथ (वह ब्रह्म) रक्षा करे और हमारा साथ-साथ भरण करे। हम साथ-साथ वीर्य यानि विद्याजनित सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों तेजस्वियों का किया हुआ अध्ययन······अर्थ ज्ञान के योग्य हो तथा······ हम एक दूसरे से विद्वेप को प्राप्त न हों।"[4] इस प्रकार आचार्य शंकर ऐसे गुरू-शिष्य-सम्बन्धों की कल्पना करते है कि जिनका आधार विशुद्ध आध्यात्मिक होने से परस्पर सहकारिता, समन्वय, माधुर्य, स्वाभाविकता एवं सौजन्यता का परिपाक होकर शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों ही आत्मकल्याण तथा जनहित के मार्ग पर अग्रसरित होते रहते हैं।

आचार्य शंकर की दृष्टि से अनुशासन

गुरू-शिष्य सम्बन्धों की विवेचना के सन्दर्भ में वेदान्त की अनुशासन की धारणा पर विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा क्योंकि वेदान्त दर्शन में अनुशासित जीवन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। छात्र के सन्दर्भ में आचार्य शंकर का यह कथन विचारणीय है—"जो (शिष्य) पापकर्म और इन्द्रियों की चंचलता से हटा हुआ तथा समाहित चित्त और····· उपशान्तमना है, वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञान से आत्मा को प्राप्त कर सकता है।"[5] वेदान्त के छात्र के लिए विशिष्ट

---

1. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थसंग्रहः, सम्पादक—एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 25।
2. देखिये परिशिष्ट सं० 3।
3. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थसंग्रहः, सम्पादक–एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 130।
4. तैत्तिरीयोपनिषद् शां० भा० (2-1) वही, पृ० 95।
5. कठोपनिषद् शां० भा० (2-24) वही, पृ० 79।

प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है। मन एवं इन्द्रियों के संयम को आचार्य शंकर द्वारा अनुशासन मानकर छात्रों के लिये साधन-चतुष्ट्य को अनिवार्य रूप से प्रतिपादित किया गया है।[1]

वेदान्त के अनुसार बालक की प्रकृति की चार अवस्थाएँ बताई गई है—

1. क्षिप्त 2. विक्षिप्त 3. मुधा 4. एकाग्रता

क्षिप्त अवस्था में बालक इन्द्रियों का दास होता है। उसे इस दासत्व से मुक्त होने के लिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने के लिए अभ्यास करना पड़ता है। आंशिक रूप से नियन्त्रित होने की सफलता मिलने पर छात्र विक्षिप्तावस्था में पहुँच जाता है। शनैः-शनैः इन्द्रियों के नियन्त्रण से मानसिक एकाग्रता होने की अवस्था मुधा होती है किन्तु एकाग्रता का पूर्णविकास चतुर्थ अवस्था मे होता है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर ही शिष्य को ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना जाता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'।[2]

यह एकाग्रता वेदान्त-शिक्षा का सार है। इसकी आवश्यकता न केवल छात्र को ही है वरन् अध्यापक को भी है। एकाग्रता को प्राप्त करने के लिए आचार्य शंकर ने गुरू और शिष्य दोनों के लिए ही अनुशासन को आवश्यक माना है।[3] योगाभ्यास द्वारा अनुशासन का विकास होता है। वेदान्त-दर्शन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से नियन्त्रण में रखने की प्रस्तावना इसीलिए करता है कि मनुष्य संयमी होकर अनुशासित होता है और फिर उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे कठिनाई नहीं होती है। अतः इस दृष्टि से फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक वेदान्त के विद्यार्थी को मान्य नहीं है क्योंकि वे इन्द्रिय-संयम को विशेष महत्त्व नही देते है। संयमित जीवन के निर्माण के लिए संयम, त्याग, तप, उपासना, व्रत, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य तथा ध्यान आदि का विधान वेदान्त-दर्शन मे किया गया है।[4]

भगवान् शंकराचार्य का स्वयं का जीवन एक अनुपम आदर्श तथा उत्कृष्ट अनुशासन का ज्वलंत उदाहरण है। वह स्वयं बाल ब्रह्मचारी थे। ज्ञान, वैराग्य भक्ति तथा शम-दम आदि की प्रतिमूर्ति के रूप में उनकी अवतारणा से मानव जाति के इतिहास मे जिस अनुशासित तथा व्यवस्थित व्यक्तित्व के दर्शन होते है उसने अपनी बत्तीस वर्ष की आयु मे ही विश्व को ज्ञानामृत से सिन्चित शिक्षा-व्यवस्था प्रदान की थी। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मविद्या के शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों ही के

---

1. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 12।
2. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा–श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 14।
3. केनोपनिषद् शां० भा० (खं० 3) वही पृ० 92।
4. मुण्डकोपनिषद् (2-2-7) वही, पृ० 75-76।

लिए अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए यह व्यवस्था दी थी—"ब्रह्म विद्यार्थी को शम-दम आदि से युक्त होना चाहिए क्योंकि शान्त, दान्त, तितिक्षु और समाहित होकर (जिज्ञासु) आत्मा को देखता है।"[1] यहाँ शान्त का अर्थ इन्द्रियों के कार्यो से विरति, दान्त का अर्थ है अन्तःकरण की चञ्चलता से निवृत्ति, उपरति का अर्थ है सुख-दुःख आदि द्वन्द्व सहने वाला और समाहित का अर्थ है इन्द्रिय और अन्तःकरण से व्यावृत्त होकर एकाग्रचित होना। इस प्रकार आचार्य शंकर की अनुशासन की कल्पना में व्यक्ति के ऐसे संयम की ओर संकेत मिलता है जो किसी दबाव, प्रलोभन तथा प्रभाव आदि से उद्भूत नही होता है बल्कि अन्तः प्रेरणा से उद्भूत होकर व्यक्ति को ज्ञानार्जन में सहायता प्रदान करता है।

आचार्य शंकर की शिक्षक-शिक्षार्थी की मीमांसा के निम्नलिखित निष्कर्ष बिन्दु हैं—

1. शिक्षक-शिक्षार्थी, दोनों शिक्षा के प्रमुख अंग हैं।
2. शिक्षक अध्ययन-अध्यापन में कुशल, नैतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक गुणों में उत्कृष्टता सम्पन्न होता है। उसे वेदशास्त्रों का पारङ्गत तथा ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए।
3. वह छात्र का पथ-प्रदर्शक ही नहीं वरन् उसका आध्यात्मिक पिता भी है।
4. शिक्षक को छात्र को शिक्षा देने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।
5. शिक्षक को अपने शिक्षण से छात्र को आशान्वित तथा प्रसन्न रखना चाहिए।
6. छात्र को ज्ञान प्रदान करने में गुरु को तभी विश्राम लेना चाहिए जब छात्र का ज्ञान सुदृढ़ हो जाये।
7. शिष्य की उपलब्धियों की प्रशंसा करने से गुरु उसे प्रोत्साहित कर उसमें आत्मविश्वास का जागरण करता है।
8. ज्ञान का स्वरूप अनुभव मूलक होने से शिक्षा-ग्रहण करने की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका शिष्य की होती है।
9. वेदान्त-शिक्षा में छात्र मात्र शरीर न होकर ब्रह्म अथवा आत्मा है जो अनन्त शक्तियों का भण्डार है।
10. पूर्वजन्मों के कर्मानुसार छात्रों की रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं एवं इच्छाओं आदि में भेद होता है।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-4-23) तथा ब्रह्मसूत्र (3-4-6-27) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।

11. उक्त व्यक्तिगत भेद-वैभिन्य का निराकरण कर छात्र को शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कराना शिक्षा का कार्य है।
12. जो साधन चतुष्ट्य सम्पन्न होकर गुरु सान्निध्य में रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक शिक्षा ग्रहण करता है, छात्र कहलाता है।
13. छात्र की मुख्य योग्यताएँ साधन चतुष्ट्य के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनमें नित्यानित्य वस्तु-विवेक, वैराग्य, संयम, तथा मोक्ष की इच्छा—ये चार साधन सम्मिलित हैं।
14. छात्र को बिना गुरु के विद्या के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अतः उसे विधिवत् गुरु धारण करके ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त होना चाहिए।
15. गुरु के प्रति पूज्यभाव रखते हुए आदर के साथ प्रश्नोत्तर रूप में विचार-विमर्श करके छात्र को आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।
16. गुरुसेवा, भिक्षाटन, निरभिमानिता, श्रद्धा, संयम, ज्ञान के लिए तत्परता तथा ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना शिष्य के लिए मुख्य कर्त्तव्य है।
17. सेवा आदि उक्त कार्यों से अवशिष्ट समय में छात्र को वेदाध्ययन तथा आचार्य के उपदेश का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि करना चाहिए।
18. शिक्षा के अन्त में छात्र को गुरुपूजन करके तथा गुरुदक्षिणा देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए।
19. गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का मुख्य आधार आध्यात्मिक होने से दोनों में परस्पर मधुरता, सहजता एवं स्वाभाविकता का विकास स्वतः होता रहता है।
20. अनुशासन की आध्यात्मिक जीवन में महती आवश्यकता होने से गुरु तथा शिष्य दोनों ही के लिए वैराग्य, संयम तथा त्याग द्वारा उसके विकास का प्रावधान अचार्य शंकर के दर्शन में किया गया है।

———

पाठ्यक्रम

कामं यस्य समूलघातमवधोत् स्वर्गापवर्गापहं
रोषं यः खलु चूर्णपेषमपिषत्रिः शेषदोषावहम् ।
लोभादीनपि यः परांस्तृणसमुच्छेदं समुच्चिच्छिदे
स्वस्यान्तेवसतां सतां स भगवत्पादः कथं वर्ण्यते ।।[1]

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-
र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य
मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ।।[2]

"In the school curriculum all these activities should be represented. For these are the grand expressions of the human spirit, and theirs are the forms in which the creative energies of every generation must be disciplined if the movement of civilization is to be worthily maintained,"[3]

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत–4-66), श्री श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार, सं० 2000, पृ० 111—'जिन भगवान् शंकराचार्य ने अपने विद्यार्थियों के स्वर्ग तथा मोक्ष को नष्ट करने वाले काम को समूल उखाड़ दिया, सम्पूर्ण दोषों को उत्पन्न करने वाले क्रोध को आटे की तरह चूर-चूर कर दिया, जिन्होंने लोभ आदि शत्रुओं को तिनके की तरह काट डाला, उन शंकर का वर्णन किन शब्दों में किया जा सकता है ?
2. श्री शंकराचार्य-विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2030, पृ० 19 —श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग इनको श्रुति (वेद) की वाणी मुमुक्षु की मुक्ति के साक्षात् हेतु बतलाती है। जो इन्हीं में स्थित हो जाता है उसका अविद्याकल्पित देह-बन्धन से मोक्ष हो जाता है।
3. Nunn, T. P, *Education* : Its Data and First principles, Edward & Co., London, 1930, p. 211.
विद्यालय के पाठ्यक्रम में इन सब क्रियाओं (व्यक्तिगत, सामाजिक तथा रचनात्मक) का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। क्योंकि ये मानव आत्मा की महान् अभिव्यक्तियाँ हैं और वे ही ये रूप है जिनमें कि प्रत्येक पीढ़ी की रचनात्मक शक्तियों को अनुशासित किया जाना चाहिए ताकि सभ्यता की गति भली प्रकार बनाए रखी जाए।

प्राचीन आश्रम व्यवस्था :

वैदिक काल में शिक्षा-प्राप्ति के लिए जंगलों में प्रकृति की खुली गोद में आश्रम बने होते थे। ये आश्रम ऋषियों के घर होते थे और ये ही शिक्षा के केन्द्र होते थे। आचार्य का घर ही विद्यालय होता था। वैदिक काल में जितने ऋषि थे प्रायः सबका आश्रम एक शिक्षालय होता था। वहीं पर शिक्षार्थी आते थे और शिक्षा ग्रहण करते थे।[1] इस प्रकार की उस युग में अनेक संस्थाएँ थीं। शिक्षा का रूप उस समय व्यक्तिगत था। एक ही आचार्य अध्यापन कराने वाला होता था। आज की भाँति यह नहीं था कि एक विद्यालय में एक ही विषय को पढ़ाने वाले अनेक अध्यापक हों। आश्रम में शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था।[2] यह उपनयन एक प्रकार का प्रवेश समझा जाता था। आर० के० मुकर्जी के शब्द इस सन्दर्भ मे यहाँ पर उल्लेखनीय हैं—"यह (उपनयन संस्कार) अध्यापक तथा छात्र के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध होता है। उपनयन नामक धार्मिक उत्सव के द्वारा इस सम्बन्ध का उद्घाटन होता है। यह प्रवेश वैसा प्रवेश नहीं था जैसा कि आज विद्यालयों में है जहाँ विद्यार्थी निर्धारित शुल्क देकर स्कूल के रजिस्टर में अपना नाम लिखा लेते है। उपनयन का आध्यात्मिक अर्थ धार्मिक ग्रंथों मे किया गया है। इसके अनुसार' गुरु-शिष्य को मानो गर्भ में धारण करता है और उसे अपनी आत्मा से नया जन्म देता देता है।' नवजात शिशु की संज्ञा तब द्विज होती है, 'नया जन्म हुआ', पुनः नए अस्तित्व में जन्म ग्रहण करने वाला (शतपथ ब्राह्मण, 11-5-4) इस प्रकार प्रारम्भ की हुई शिक्षा के लिए विशिष्ट शब्द है—ब्रह्मचर्य जिसका संकेत है जीवन के नये ढंग से, अभ्यास की व्यवस्था से।"[3] इसलिए उपनयन संस्कार के बाद शिष्य आश्रम में रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने से ब्रह्मचारी कहलाता था।[4] उसे ब्रह्मचारी के निर्धारित कर्तव्यों का पालन करना होता था। ब्रह्मचारी को कुश, कमर मे तीन लडवाली मेखला, बैठने के लिए मृगछाला, लम्बे जटावाले केश हाथ में दण्ड तथा कमण्डल रखने पडते थे। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यह मेखला तन, मन और वचन को वश में रखने की उस (ब्रह्मचारी) की प्रतिज्ञा की चिह्न-स्वरूप थी।[5]

---

1 डा० ब्रजविहारी चौबे—वेदकालीन शिक्षा, विश्व ज्योति (शिक्षा अंक, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, पृ० 21।
2. "उस समय जिसका उपनयन संस्कार सम्पादित नहीं होता था, वह ज्ञान तथा धार्मिक विधि–सम्पादन से वचित ही रखा जाता था।"—डा० सरयुप्रसाद चौबे, भारतीय शिक्षा का इतिहास–रामनारायण लाल, इलाहबाद, पृ० 25।
3. Mookerji, R. K.—*Ancient Indian Education*, S, L Jain Moti Lal Banarai Dass, Bungalow Road, Delhi, P. XXV & XXVI.
4. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (4-4-1), वही, पृ० 381।
5. स्वामी विवेकानन्द-शिक्षा श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 20।

आश्रम की शिक्षा के दो स्तर थे। प्रथम स्तर में बहुत से शिष्य एक साथ आचार्य के पास बैठकर अध्ययन करते थे। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में शिष्यों के बैठने के ढंग एवं किस प्रकार पढ़ाई होती थी, इसका उल्लेख किया गया है। आचार्य पहले आसन पर बैठते थे। इसके बाद एक या दो शिष्य आचार्य के दाहिने बगल में बैठते थे। शेष शिष्य जहाँ स्थान हो, उसके अनुसार बैठते थे।[1] सर्व प्रथम सभी शिष्य गुरु के चरणों का हाथ से या सिर से स्पर्श करते थे और पाठ आरम्भ करने का निवेदन करते थे। तदनन्तर 'ओ३म्' शब्द से पाठ का आरम्भ होता था। पहले गुरु मन्त्र का उच्चारण करता था।[2] इसके बाद गुरु के दाहिने बगल में बैठा हुआ शिष्य उच्चारण करता था।[3] तत्पश्चात् सभी शिष्य उसका अनुसरण करते थे। अध्ययन आरम्भ हो जाने पर किसी कार्यवशात् बाहर जाने वाला छात्र आचार्य के दाहिनी ओर से जाता था।[4] पाठ के कण्ठस्थ हो जाने पर ही गुरु की आज्ञा से छात्र अपने कार्य पर जाते थे। दूसरे दिन नया पाठ प्रारम्भ होता था। इस प्रकार वैदिक युग मे शिक्षा के प्रथम स्तर पर वेदों के मन्त्रों को कण्ठस्थ करना एवं उनका सस्वर उच्चारण कराना सिखाया जाता था। अत:आचार्य शंकर जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाये उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायें वे वर्ण आदि ही उनके अनुसार शिक्षा हैं।[5] आश्रम वेदमन्त्रों के उच्चारण से गूँज उठता था। ऋग्वेद (7-103-5) में आचार्य का अनुसरण करके उच्च स्वर में वेद मन्त्रों का पाठ करने वाले शिष्यों का उल्लेख मिलता है। यही प्रथम स्तर की शिक्षा 'श्रवण' है।[6] इस प्रकार इस स्तर की शिक्षा के पाठ्यक्रम में संहिता एवं ब्राह्मणों का अध्ययन सम्मिलित था। वेदमन्त्रों एवं ब्राह्मणों का अध्ययन गुरुमुख से सुनकर होने से इन्हें 'श्रुति' कहा जाता है।

शिक्षा के द्वितीय स्तर पर मन्त्रों के अर्थ पर विचार होता था। अत: प्रथम स्तर की शिक्षा प्राप्त करने पर आचार्य शिष्यों की योग्यता को परखता था। जिसकी बुद्धि मन्त्रों के अर्थबोध में समर्थ नहीं हो सकती थी, उनको अन्य कार्य करने के लिये लौटा दिया जाता था। उनका प्रवेश दूसरे स्तर पर नहीं होता था। इस स्तर पर आकर शिक्षा का रूप व्यक्तिगत हो जाता था। प्रथम स्तर पर एक साथ बैठकर कई शिष्य मन्त्रों काउच्चारण सीखते थे और उन्हें कण्ठस्थ करते थे किन्तु इस

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य (15-3-3)।
2. वही (15-8)।
3. वही (15-21)।
4. वही (16-21)।
5. तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा० (1-2-1) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०25।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (2–4–5), वही, पृ० 549।

स्तर पर अपनी साधना एवं तपस्या के बल पर अर्थबोध करते थे। आचार्य केवल संकेतमात्र कर देता था। जो शिष्य साधना और तपस्या के बल पर मन्त्रों का अर्थ जान लेता है, उसके लिए वेदवाणी अपने रूप को उसी प्रकार अभिव्यक्त करती है, जिस प्रकार ऋतु-स्नाता पत्नी सुन्दर वस्त्र से सुसज्जित होकर अपने रूप को अपने पति के सामने खोल देती है किन्तु जो साधना एवं तपस्या से हीन है उसको मन्त्रों का अर्थबोध नहीं हो सकता। वह मन्त्रों को देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता।[1]

आश्रम में शिष्य अपने आचार्य के पास उसके परिवार का एक सदस्य होकर रहता था। यहाँ शिष्य अपने आचार्य के गुणों को आत्मसात् करने लगता था। जिस प्रकार परिवार में पिता का ध्यान अपने सभी पुत्रों पर समान रूप से होता है, उसी प्रकार आचार्य का ध्यान सभी शिष्यों पर व्यक्तिगत रूप से होता था। इस वातावरण में शिष्य का व्यक्तित्त्व आचार्य के व्यक्तित्त्व से बहुत कुछ समान होने लगता था। आचार्य के आदर्शों को प्राप्त करना ही शिष्य का उद्देश्य होता था। आचार्य अपने आचरण ही से शिष्य को आचारवान् बनाता था।[2] इस प्रकार आचार्य के नित्य सम्पर्क में रहने के कारण शिष्य के मन में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व नहीं आने पाता था।[3]

आश्रम के स्वस्थ वातावरण मे शिष्य बहुत कुछ ऐसी नैतिक शिक्षा ग्रहण कर लेता था जिसका उपदेश नही होता था। आश्रम नगर से दूर प्रकृति की शान्त गोद में बने होते थे जहाँ प्रकृति का सतत् सान्निध्य शिष्य को प्राप्त रहता था। अतः मातृहृदया प्रकृति उसे उपदेश करती रहती थी। प्रकृति से वह उस शाश्वत शिक्षा को ग्रहण करता था, जिसका उपदेश मानव नही कर सकता। आचार्य के लिये जगल से लकडी काटकर लाना, प्रातः साय अग्निहोत्र करना, दो बार सन्ध्यावन्दन करना और भिक्षाटन करना आदि ऐसे व्यावहारिक शिक्षा के पहलू थे जिनको तत्कालीन शिक्षा के पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था जिससे छात्र को न केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की प्राप्ति होती थी वरन् उसे व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का भी बोध होता था तथा उनके निराकरण के लिए उपयुक्त परिश्रम तथा सूझबूझ का विकास भी उसमे होता था। यही शिक्षा की वह पृष्ठभूमि है जिसमें आचार्य शंकर ने अपनी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत पाठ्यक्रम का निर्धारण किया था। आचार्य शंकर के अनुसार केवल शास्त्र (निर्धारित पाठ्यक्रम) और गुरु के उपदेश से ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।[4] उनके पाठ्यक्रम पर

---

1. ऋग्वेद (10–71–4)।
2. यास्काचार्य–निरुक्त (1-4)।
3. डा० ब्रजबिहारी चौबे–वेदकालीन शिक्षा–विश्वज्योति (शिक्षा अंक), पृ०24, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर।
4. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (6-1-2), वही, पृ०576।

विचार करने से पूर्व इस सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर विचार करना आवश्यक है। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में पूर्व तथा पश्चिम के विभिन्न शिक्षा-दार्शनिकों के विचार पहले प्रस्तुत करके फिर स्वामी शंकराचार्य के विचारों का अध्ययन किया जायेगा।

पाठ्यक्रम का स्वरूप :

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों का निर्धारण किया है उनकी प्राप्ति पाठ्यक्रम के द्वारा होती है। पाठ्यक्रम शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है। आजकल पाठ्यक्रम शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। पाठ्यक्रम का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'करीक्यूलम' है। इसकी उत्पत्ति जिस लैटिन शब्द से हुई है उसका अर्थ है ''दौड़ का क्षेत्र'। यह वह क्षेत्र है जिसका चक्कर लगाकर व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। शिक्षा के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों के प्रचलन के पूर्व पाठ्यक्रम में केवल ज्ञानात्मक विषयों को स्थान मिलता था। यह दोष अभी तक चला आ रहा है। आज भी विषयों का निर्धारण छात्र की योग्यता एवं उसके बोधस्तर के अनुसार नहीं हो पाता है। इसीलिए अभी तक 'सिलेबस' (Syllabus) और करीक्यूलम (Curriculum) को एक समझा जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि सिलेबस का निर्धारण अध्यापक की दृष्टि से होता है। सिलेबस से यह पता नही चलता है कि छात्र की कौन सी क्रियाएँ है ? करीक्यूलम में छात्र के अनुभवों को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार आज पाठ्यक्रम की धारणा में निरन्तर परिवर्तन होता जा रहा है। इस कारण इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन करना विषय के स्पष्टीकरण हेतु लाभप्रद होगा।

पाठ्यक्रम के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण :

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार मनुष्य की प्रमुख क्रियाएँ बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक हैं। बौद्धिक क्रियाओं के लिए पाठ्यक्रम में भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित और विज्ञान को स्थान दिया जाना चाहिए। कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक क्रियाओं के लिये कला और कविता का अध्ययन आवश्यक है। नैतिक क्रियाओं के लिये पाठ्यक्रम में धर्म, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन सम्मिलित होना चाहिये। इस प्रकार आदर्शवादी पाठ्यक्रम को शिक्षाके लक्ष्यों के आधार पर निर्धारित करते हैं। शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि उसमें मानव जाति के अनुभव और सभ्यता प्रतिचिन्हित हों। अत: प्रसिद्ध आदर्शवादी शिक्षा-शास्त्री एच०एच०हार्न के अनुसार उसकी ठोस आधार शिला ''मनुष्य का आदर्श चरित्र तथा किसी आदर्श समाज के गुण हैं।''[1] इन आदर्शों के लिये अनुभवों, क्रियाओं, जीवन

---

1. Horne, H.H.—*This New Education,* New York, The Abingdon Press, P.90.

परिस्थितियों तथा अध्ययनों का चयन करना चाहिए। इस प्रकार हार्न के अनुसार उदार एव व्यावसायिक (Liberal & vocational) दोनों प्रकार की शिक्षा की समस्त परम्परागत शाखाओं को पाठ्य विषयों में सम्मिलित किया जाना चाहिए किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि विविध प्रकार के विषयों का प्रयोग होगा—"जीवन-अवगति के द्वारा सम्प्रगत: जीवित रहने के महान् लक्ष्य के साधन के रूप में सूचना ज्ञान होगा, इसके साधन होगी तथा सर्वोत्तम विचार आदर्श होंगे।[1]"

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री टी० पी० नन ने आदर्शवादी दृष्टिकोण के आधार पर पाठ्यक्रम के लिये दो प्रकार की क्रियाओं की कल्पना की है। एक ओर वे क्रियाएँ हैं जो कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का स्तर बनाए रखने की दशाएँ उत्पन्न करती हैं। इस वर्ग में शारीरिक स्वास्थ्य, तौर-तरीके, सामाजिक संगठन,नीति, शिष्टाचार, धर्म आदि सम्मिलित है। इनके लिये पाठ्यक्रम मे शारीरिक शिक्षा, व्यायाम की शिक्षा, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। दूसरे प्रकार की रचनात्मक क्रियाएं हैं जो सभ्यता के ताने-बाने को बनाये रखती है। इनमें साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र विषयक और सामान्य क्रियाएँ आती हैं। इन क्रियाओं के लिए साहित्य, कला, संगीत, नाना प्रकार की हस्तकलाओं, विज्ञानों, गणित, इतिहास और भूगोल आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो कि व्यक्ति को मानव समाज की विशेषता से परिचित कराये और दूसरी ओर उसे उस विरासत मे योगदान देने योग्य बनाये। टी० पी० नन के शब्दों में, "विद्यालय के पाठ्यक्रम मे इन सब क्रियाओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। क्योकि ये मानव आत्मा की महान् अभिव्यक्तियाँ है और उनके ही रूप हैं जिनमें कि प्रत्येक पीढ़ी की रचनात्मक शक्तियों को अनुशासित किया जाना चाहिए ताकि सभ्यता की गति भली प्रकार बनाये रक्खी जाए।"[2]

प्रसिद्ध प्रकृतिवादी हरबर्ट स्पेन्सर ने पाठ्यक्रम का वर्णन मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाओं के अनुरूप ही किया है। विज्ञान के अध्ययन को प्रमुखता देने का उसका यही कारण दिखाई पड़ता है कि प्रकृतिवाद में ज्ञानप्राप्ति को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।[3] उसके शिक्षा के पाँच उद्देश्यों मे किसी न किसी प्रकार के विज्ञान का अध्ययन निहित है। मनुष्य को जीवन की रक्षा करनी है,

---

1. Horne, H.H., Ibid , P.120.
2. Nunn, T.P.—*Education : Its Data & First Principles*. Edward & Co., London, P. 211.
3. Butler, J. Donald—*Four Philosophies & their Practice in Education & Religion*, Harpar & Row Publishers, New York, Evanston & London, P.111.

इसलिये उसे शरीर विज्ञान तथा स्वास्थ्य विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। हरबर्ट का कहना है कि अधिकांश मनुष्य "वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय अथवा वितरण (Exchange)"[1] के व्यवसाय से अपनी जीविकोपार्जन करते हैं। अतः गणित, यान्त्रिकी, भौतिकी, रसायन विज्ञान तथा प्राणि विज्ञान (Mathematics, Mechanics, Physics, Chemistry, Biology) का ज्ञान व्यावसायिक सफलता की अच्छी गारन्टी है। गार्हस्थ जीवन हेतु तथा अच्छे माता-पिता बनने के लिये विद्यार्थियों को स्कूल में शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन हेतु छात्रों को समाजशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। अवकाश का आनन्द लेने के लिये उन्हें वास्तुकला, चित्रकला, संगीत, नाटक तथा काव्य आदि की शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृतिवादियों ने व्यापक रूप में पाठ्यक्रम-निर्माण का प्रयास किया है। जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर विविध विषयों के पठन-पाठन की आवश्यकता पर बल देने से उनका पाठ्यक्रम वैविध्यपूर्ण होने पर भी प्रकृतिवाद में आध्यात्मिक विचारों के अभाव में धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विषयों के ज्ञान की उपेक्षा इस दर्शन की न्यूनता ही प्रकट करती है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण की आधारभूत मान्यता है कि पाठ्य-विषय विविध और विस्तृत होने चाहिए। छात्रों को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार उनमें से चयन करने का अधिकार होना चाहिये। इस सम्बन्ध में यथार्थवादी [illegible] की अन्य मान्यताएँ हैं—(1) उपयोगी विषयों का ही निर्धारण होना चाहिए, (2) सर्वाधिक विषयों के चयन में अध्यापक तथा माता-पिता का उचित मार्गदर्शन छात्रों को मिलना चाहिए, (3) छात्र ऐसे विषयों का चयन करें जिनमें परस्पर सम्बंध हो, (4) विषयों के चयन में सामाजिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए, (5) उपयोगिताहीन विषयों का बहिष्कार करना चाहिए, (6) आधुनिक भाषाओं का ही अध्यापन होना चाहिए, (7) साहित्य का अध्यापन छात्रो के सुख के लिये ही किया जाना चाहिए, (8) कला एवं संगीत आदि ललित कलाओ के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है, (9) जीवन अति उपयोगी होने से विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। इस प्रकार यथार्थवादी विचारधारा जीवन तथा जगत् के लिये जो यथार्थ एवं उपयोगी है, उन्हीं विषयों के अध्ययन-अध्यापन का समर्थन करती है। प्रसिद्ध यथार्थवादी दार्शनिक हैरी ब्राउडी के अनुसार तो पाठ्यक्रम का उद्देश्य सत्य को प्राप्त करने के लिए, उसका उपयोग करने के लिये और उसका आनन्द लेने के लिए

---

1. Spencer, Herbert : *Education—Intellectual Moral & Phisical*, New York : D. Appleton & Co., P.41.

आदतें अथवा प्रवृत्तियाँ हैं ।[1] उसके अनुसार प्रतीकात्मक आदतें, अध्ययन की आदतें, अनुसन्धान कुशलताएँ जैसे पुस्तकालय की कुशलताएँ, निरीक्षण तथा प्रायोगिकता, ज्ञान के उपयोग की आदतें जैसे प्रायोगिक विधि, विश्लेषणात्मक अथवा आलोचनात्मक चिन्तन, समूहचर्चा की स्वतः कुशलता, सिद्धान्तों का प्रयोग, मूल्यांकन और अन्ततः आनन्द की आदतें—ये सब किसी तरह पाठ्यक्रम की संरचना करती है और इसलिए महत्त्वपूर्ण है ।[2] अतः डा० ब्राउडी प्रारम्भिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के लिये प्रस्तावना करता है कि भौतिक विज्ञानों, सामाजिक अध्ययनों तथा ऐसे क्षेत्रों में कोर्स होने चाहिए जिनका सम्बन्ध 'स्वयं के साथ जीवित रहने' का होता है ।···भौतिक विज्ञानों में रसायन विज्ञान, भौतिकी तथा प्राणि-विज्ञान के कोर्स इन विज्ञानों के ज्ञान के उपयोग के लिए समस्या कोर्सों के साथ होने चाहिए । सामाजिक अध्ययनों का अधिक विभाजन नहीं होना चाहिए । आत्म-विज्ञान में वह मनोविज्ञान को सम्मिलित करता है किन्तु कला, काव्य, साहित्य, आत्मकथा, दर्शन और धर्म को भी पाठ्यक्रम में वह इसी दृष्टि से सम्मिलित करता है ।[3]

निश्चित उद्देश्यों के अभाव में व्यवहारवादी किसी निश्चित पाठ्यक्रम का नियोजन करने में असमर्थ रहे हैं । उनका विचार है कि मनुष्य के अनुभव एवं आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं । अतः पाठ्यक्रम को भी बदलते रहना चाहिए । बालक को समयानुकूल अनुभव दिया जाना चाहिए । इसके लिये पाठ्यक्रम में ऐसे विषय सम्मिलित किये जाने चाहिए जो छात्र को आवश्यक कुशलता प्रदान कर सकें । भाषा, स्वास्थ्य विज्ञान, इतिहास, भूगोल, शारीरिक प्रशिक्षण, विज्ञान तथा कृषि विज्ञान बालक के लिए तथा गृहविज्ञान (Domestic Science) को बालिका के लिये पाठ्यक्रम में रखना चाहिए । व्यवहारवादियों के अनुसार पाठ्यक्रम-निर्धारण में सर्वाधिक महत्त्व बालक की रुचि को दिया जाना चाहिए । इस प्रकार पाठ्यक्रम में बालक ही महत्त्वपूर्ण है, पुस्तकें, विषय तथा अध्यापक नहीं । यदि छात्र को अच्छा अनुभव दे दिया जाता है तो उसकी सर्वोत्तम शिक्षा होगी । प्रसिद्ध व्यवहारवादी ड्यूवी ने बालक की रुचियों को चार वर्गों में विश्लेषित किया है—"(1) वार्तालाप अथवा आदान-प्रदान में रुचि, (2) वस्तुओं की जाँच अथवा खोज में रुचि, (3) वस्तुओं के बनाने अथवा निर्माण में रुचि और (4) कलात्मक

1. —Broudy Harrys, *Building a Philosophy of Education*, New-York Prentic-Hall, Inc., P.181.
2. Bulter, J. Donald—*Four Philosophies and their Practice in Education and Religion*.—Harper & Row Publishers New York, Evanston, and London, PP.368–369.
3. Butler, J. Donald,—*Four Philosophies and their Practice in Education & Religion*, Ibid, PP.369–370.

अभिव्यक्ति में रुचि।"[1] ये ड्यूवी के लिये प्राकृतिक स्रोत है जिन पर बालक की वृद्धि निर्भर करती है। बालक को इन रुचियों के विकास के लिए वाचन, लेखन, तथा गणना करने की कला आनी चाहिए। अतः प्रारम्भिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में वाचन, लेखन, गणना करना, प्रकृति-अध्ययन, हस्त कार्य (Hand work) तथा चित्र-रेखण (Drawing) को सम्मिलित करना चाहिए। इनमें हस्तकार्य तथा चित्र-रेखण बालक की रचना और कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये होंगे और अन्य उसकी स्वाभाविक रुचियों के लिए। इस प्रकार व्यवहारवादी पाठ्यक्रम का सम्बन्ध बालकों की प्रकृति तथा जीवन की वास्तविकताओं से होता है।

पाठ्यक्रम के प्रति भारतीय दृष्टिकोण :

इस अध्याय के प्रारम्भ में 'प्राचीन आश्रम व्यवस्था' के अन्तर्गत हमने इस तथ्य को हृदयंगम करने का प्रयास किया है कि भारतीय जीवन में धर्म एवं अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण स्थान होने से शिक्षा का स्वरूप पाश्चात्य शिक्षा से भिन्न रहा है। यहाँ प्राचीन काल में गुरुकुल प्रणाली का शिक्षा में प्रचलन था। अतः इसका प्रभाव यहाँ के शिक्षा शास्त्रियों के चिन्तन पर पडना स्वाभाविक था। यही कारण है कि सुदूर प्राचीन (वैदिक) काल से लेकर अद्यपर्यन्त जितने शिक्षा-दार्शनिक इस देश में हुए है उनके चिन्तन पर किसी न किसी प्रकार का तथाकथित 'आश्रम-व्यवस्था' का प्रभाव रहा है। आधुनिक युग के महान् समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती का समस्त शिक्षा-दर्शन इसी विचारधारा से प्रभावित है। उनकी शिक्षा व्यवस्था मे वेदों के पठन-पाठन पर अत्यधिक बल दिया गया है। उनके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी के लिए लगभग समान पाठ्यक्रम होना चाहिए। चारों वर्णो के लिये सामान्य पाठ्य-क्रम के अतिरिक्त उन्होंने वर्णानुरूप शिक्षा का भी प्रतिपादन किया है। दयानन्द विद्यार्थियों को चाहे जो ग्रन्थ पढने देने के पक्ष में नहीं है। सबसे पहले विभिन्न ग्रन्थों की परीक्षा की जानी चाहिए और जो-जो ग्रन्थ परीक्षा के विरुद्ध ठहरे उनको नहीं पढाया जाना चाहिए। सबसे पहले पाणिनी के व्याकरण-अष्टाध्यायी का बालकों को यथायोग्य बोध कराया जाय। यास्कमुनि प्रणीत निघन्टु और निरुक्त, पिंगलाचार्य प्रणीत छन्द ग्रन्थ, मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, महाभारत के उद्योग पर्वान्तिर्गत विदुर नीति, पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त का अध्ययन कराना चाहिए। वेदान्त सूत्रों से पहले ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक, इन दस उपनिषदों को पढ़ाया जाय। इसके बाद चार ब्राह्मण सहित चारों वेद पढ़ाये जाने चाहिए।[2] इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने

1. Dewy John, *The School and Society* (Revised Edition) University of Chicago Press, Chicago, P.47.
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती—सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय [illegible]-वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, पृ० 63-64।

पाठ्यक्रम की एक व्यापक योजना प्रस्तुत की है। इसके द्वारा वह शिक्षार्थी को समस्त भारतीय वाङ्मय का बोध कराना चाहते थे।

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने एक शिक्षा-शास्त्री की दृष्टि पाठ्यक्रम पर क्रमबद्ध विचार नहीं किया है तथापि उन्होंने शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन का अंग मानकर अपने भाषणों में पाठ्यक्रम पर भी स्फुट विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसमें निषेधात्मकता न हो। हमें छात्रों के समक्ष विधायक या भावात्मक विचार रखने चाहिए। निषेधात्मक या अभावात्मक विचारों से लोग दुर्बल बन जाते हैं।[1] देश को सफल बनाने वाले विषयों के अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता होने से छात्रों को वेदों का अध्ययन कराया जाय जिससे उदात्त वैदिक मन्त्रों की मेघगर्जना से भारत में प्राणों का संचार हो जाय। श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर (श्री हनुमान्) तथा श्रीरामकृष्ण आदि के जीवन चरित का अध्ययन होना चाहिए।[2] मुरलीधर वृन्दावन बिहारीकृष्ण की अपेक्षा गीता रूपी सिंहनाद करने वाले कृष्ण की आज उपासना करनी चाहिए।[3] संगीत भी सिखाना है किन्तु वंशीनाद, ढोल और करताल बजा-बजाकर तथा कीर्तन की मस्ती में नाच-नाचकर सारी जाति अवनत हो गई है।[4] उन्हीं के शब्दों में आज छात्रों को इस प्रकार के संगीत की शिक्षा देनी है—"अब तो डमरू और सिंगी बजाना है—नगाड़े को पीटना है, ताकि युद्ध की गम्भीर तुमुल ध्वनि उठे और 'महावीर-महावीर' तथा 'हर-बम बम के', गम्भीर नाद से सारी दिशाओं को गुंजाना है। मनुष्य के केवल कोमल भावों को जगाने वाले संगीत को कुछ समय के लिए अब बन्द कर देना है। लोगों को ध्रुपद राग सुनने के आदी बनाना है।"[5] धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था पाठ्यक्रम में आवश्यक है किन्तु विद्यालयों में किसी मत या सम्प्रदाय की शिक्षा न देकर सभी धर्मों के सारभूत तत्त्वों की जानकारी दी जानी चाहिए। उनके अनुसार प्राचीन धर्म में उसे नास्तिक कहा गया था जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था। नये धर्म में नास्तिक वह है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता। यह महान् विश्वास ही संसार का सुधार करेगा। अपने आप में विश्वास रखने का आदर्श ही हमारा सबसे बड़ा सहायक है।[6] इस नये धर्म को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। पाठ्यक्रम में सत्यरूप आत्मा के अन्वेषण के लिए उपनिषदों का अध्ययन होना चाहिए। उनके अनुसार 'उपनिषद्' शक्ति की विशाल खान हैं। उनमें ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान् है कि वे संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा संसार पुनरुज्जीवित एवं शक्ति और वीर्यसम्पन्न हो सकता है। वे

---

1. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा—श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 12।
2. वही, पृ० 30।
3. वही, पृ० 30।
4. वही, पृ० 31।
5. वही, पृ० 31–32।
6. वही, पृ० 32।

तो समस्त जातियों को, सभी मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दु:खी और पददलित लोगों को उच्च स्वर से पुकारकर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने और मुक्त हो जाने के लिए कहते हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता-दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता—यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।[1] इसी प्रकार पाठ्यक्रम में भाषा, साहित्य इतिहास, के साथ खेलकूद को भी उचित स्थान मिलना चाहिए। पाठ्यक्रम में अतीत, वर्तमान और भविष्य के उचित सामन्जस्य की आवश्यकता है। अत: उन्हीं के शब्द यहाँ उल्लेखनीय है—"अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य मे आने वाली बातों को ग्रहण करने के लिए अपने हृदय के सारे दरवाजों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो-जो भविष्य मे आएँगे, उन सबको प्रणाम।"[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, अध्यात्मवाद, मानवतावाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा आदर्शवाद आदि सभी का सामन्जस्य दृष्टिगोचर होता है। उन्हे प्रकृति से बड़ा अनुराग था। अत: वह प्रकृति को बालक की शिक्षा में बड़ा महत्त्व देते थे। उनका विश्वास है कि प्रकृति बालकों के लिए सर्वोत्तम पुस्तक है जिसे कभी लिखा गया है। जब वह युवा थे उनमे स्वयं से भागने और प्रकृति के साथ एक होने की लालसा थी। ऐसे विचारों को ही उन्होंने शान्ति निकेतन में मूर्तरूप दिया था और उसके लिए क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम तैयार किया था। उनके द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम को निम्नलिखित क्रम में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. विषय-भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, प्रकृति-अध्ययन और विज्ञान आदि।
2. क्रियाएँ बागवानी, कृषि-कार्य, क्षेत्रीय अध्ययन, भ्रमण, चित्रकला, मौलिक-रचना, विभिन्न वस्तुओं का संग्रह, प्रयोगशाला कार्य, नाटक, संगीत और नृत्य आदि।
3. अन्य क्रियाएँ—खेलकूद, समाज सेवा और छात्र-स्वशासन आदि।

आज तो विश्वभारती के पाठ्यक्रम में इतनी व्यापकता है कि उसमें उदार एवं तकनीकी सभी प्रकार की शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था है। इस प्रकार टैगोर का पाठ्यक्रम अनुभव केन्द्रित है।

महायोगी अरविन्द के अनुसार—"बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अंतरंग और जीवनपूर्ण है, उसको व्यक्त करना होनी चाहिए। मनुष्य की क्रिया और विकास जिस साँचे मे ढलने चाहिएँ, वह उसके अन्तरंग गुण और शक्ति का साँचा है, उसे नई वस्तुएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिएँ, परन्तु वह उनको

---

1. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा—श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 35-36।
2. वही, पृ० 39।

सर्वोत्तम रूप से और सबसे अधिक प्राणमय रूप में स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरंग शक्ति से आधार प्राप्त करेगा।"[1] इस प्रकार बालक की सच्ची शिक्षा वही है जो उसके सम्पूर्ण पहलुओं का विकास करे। इससे स्पष्ट है कि श्री अरविन्द मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास पर बल देते थे। अतः पाठ्क्रम में उन सभी विषयों एवं क्रियाओं के समावेश पर वह बल देते थे जिससे यह विकास होता है। उनके अनुसार पाठ्यक्रम को रोचक तथा आध्यात्मिक बनाया जाना चाहिए। श्री अरविन्द आश्रम के स्कूल के पाठ्यक्रम से उनके विचारों का आभास हो सकता है—प्राथमिक स्तर-मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, गणित सामाजिक अध्ययन और चित्रकला।

माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक स्तर—मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जन्तु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, सामाजिक अध्ययन और चित्रकला।

विश्वविद्यालय स्तर—अंग्रेजी साहित्य, फ्रेंच साहित्य, गणित, भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, विज्ञान का इतिहास, सभ्यता का इतिहास, जीवन का इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भारतीय व पाश्चात्य दर्शन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और विश्वएकीकरण। इस प्रकार श्री अरविन्द की कल्पना मे पाठ्यक्रम का विस्तृत रूप ही समाहित है। वह इसी प्रकार के ज्ञान द्वारा पूर्णमानव की कल्पना करते थे।

गाँधी जी के विचार से ऐसा पाठ्यक्रम नहीं होना चाहिए कि उसमें केवल बौद्धिक विकास ही हो। बौद्धिक विकास तो केवल साहित्यिक विषयों से हो सकता है किन्तु उनसे शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव नही है। प्रचलित शिक्षा में शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा करके केवल मस्तिष्क को शिक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। गाँधी जी के अनुसार यदि पाठ्यक्रम में किसी क्राफ्ट को केन्द्रीय स्थान दिया जाय तो प्रचलित शिक्षा के दोष दूर हो सकते है।[2] अतः उन्होंने क्रिया प्रधान पाठ्क्रम की योजना बनाई। अपने द्वारा निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने निम्नलिखित पाठ्यक्रम की प्रस्तावना की—

1. हस्तकला एवं उद्योग (कताई, बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठकला, चर्म-कार्य, पुस्तक-कला, मिट्टी का काम, मछली पालन, गृहविज्ञानादि)।
2. मातृभाषा।
3. हिन्दुस्तानी (आजकल राष्ट्रभाषा हिन्दी, उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी नही है)।

---

1. Sri Aurobindo–*Essays on the Gita*, Arya Publishing House, Calcutta P. 319.
2. Dr. Zakir Hussain Committee, *Educational Reconstruction*, P. 120.

4. व्यावहारिक गणित (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, नापतोल आदि)।
5. सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र एवं समाज का अध्ययन)।
6. सामान्य विज्ञान (बागवानी, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायनविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान और गृहविज्ञान)।
7. संगीत।
8. चित्रकला।
9. स्वास्थ्य विज्ञान (सफाई, व्यायाम एवं खेलकूद आदि)।
10. आचरण शिक्षा (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा एवं अन्य कार्य)।

गाँधी जी का यह पाठ्यक्रम प्राथमिक एवं लघुमाध्यमिक स्तर तक ही सीमित है। उन्होंने सर्वाधिक विचार इसी स्तर के लिए किया। उनकी नवीन शिक्षा योजना बेसिक शिक्षा या बुनियादी तालीम के नाम से सामने आई। पाँचवी कक्षा तक बालिकाओं तथा बालकों का समान पाठ्यक्रम होना चाहिए। इसके बाद बालिकाओ को सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृहविज्ञान पढ़ाना चाहिए।

आधुनिक युग में पाठ्क्रम के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ स्थापित हो रही है। प्रचलित पाठ्यक्रम के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति तथा उसमे वान्छनीय सुधार की आवश्यकता का प्रतिपादन आधुनिक शिक्षाविदों के विचारों में मिलता है। इस सम्बन्ध में डा० डी० एस० कोठारी के शब्द यहाँ उल्लेखनीय है—"पाठ्यचर्या में किताबी ज्ञान और रटने पर अधिक बल दिया जाता है, कार्यकलापों तथा कार्य अनुभवो की पर्याप्त व्यवस्था नहीं की जाती है और बाह्य व आन्तरिक परीक्षाओं को महत्त्व दिया जाता है। इसके अलावा उपयोगी कौशलों के विकास और उचित रूचियो, अभिवृत्तियों और मूल्यों की भावना जगाने पर पर्याप्त बल नहीं दिया जाता है, जिसके कारण पाठ्चर्या न केवल आधुनिक ज्ञान से दूर पड़ जाती है, अपितु लोगों के जीवन से भी उसका सम्बन्ध कट जाता है। इसलिए इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि स्कूल पाठ्यचर्या का स्तर ऊँचा उठाया जाए और उसमे आवश्यक सुधार किये जायें।"[1] इस प्रकार आधुनिक शिक्षा शास्त्री ऐसे पाठ्यक्रम की कल्पना करते है जिसमें बालक के उपयोगी कौशलों के विकास और उसकी उचित रूचियो, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं एवं क्षमताओं तथा जीवन-मूल्यों का जागरण होता है।

---

1. डा० डी० एस० कोठारी—शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1968, पृ० 204।

आचार्य शंकर की दृष्टि में पाठ्यक्रम

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा-उद्देश्यों के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्धारण होता है। शिक्षा के जैसे उद्देश्य होते हैं वैसा ही पाठ्यक्रम होता है। किसी विषय की आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का निर्धारण जीवन-दर्शन के आधार पर ही होता है। इसी कारण ब्रिग्स का यह कथन उपयुक्त ही है—"यहीं पर शिक्षा को गम्भीर रूप से नेताओं की आवश्यकता है ऐसे नेता जो कि एक उपयुक्त व्यापक दर्शन रखते हों जिससे वे दूसरों को विश्वास दिला सकें और जो कि उपयुक्त पाठ्यक्रम निर्धारित करने में उसके समीचीन उपयोग को निर्देशित कर सकें।"[1] आचार्य शंकर की अवतारणा भारतीय इतिहास में वैदिक धर्म के एक ऐसे नेता के रूप में हुई थी जिसने वैदिक धर्म को नई गति प्रदान की थी और वेदान्त की शिक्षा को नया स्वरूप प्रदान किया था। उस समय वेदों की अवमानना, औपनिषद् दर्शन की उपेक्षा तथा श्रुतिसम्मत आचार पद्धति की अवहेलना अपने चरम शिखर पर पहुँच गई थी। अतः आचार्य शंकर ने अवतीर्ण होकर वैदिक दर्शन पर आधारित शिक्षा-पद्धति का विकास कर लोगों को वेदोपनिषद्, वेदान्त तथा गीता आदि सच्छास्त्रों के पठनपाठन की ओर प्रेरित किया। वर्णाश्रम व्यवस्था[2] तथा प्राचीन (गुरुकुल) आश्रम प्रणाली का प्रतिपादन कर उन्होंने समस्त वैदिक वाङ्मय के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया।[3] आचार्य शंकर ने पाठ्यक्रम के प्रति अपना दृष्टिकोण आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। वेदान्त में मोक्ष-प्राप्ति को शिक्षा का प्रधान लक्ष्य स्वीकार किया गया है।[4] समस्त शैक्षिक प्रक्रिया का आयोजन इसी लक्ष्य को लेकर किया गया है। अतः आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो व्यक्ति को परमपुरुषार्थ रूप मुक्ति की प्राप्ति कराता है। मुक्ति प्राप्ति की प्रक्रिया में सहायक होने वाली सभी साधनाएँ शांकर वेदान्त में

---

1. Briggs, B. H., *Curriculum Probloms,* The Macmillan Co., New York.
2. चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) वैदिक संस्कृति के प्राण हैं। वेदशास्त्रों में प्रतिपादित इसी वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा के लिये आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ था। उनका समग्र शिक्षा-दर्शन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है।
3. "श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्।" श्री शंकराचार्य–प्रश्नोत्तरी, गीता-प्रेस, गोरखपुर, पृ० 10।
4. "विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदा या।"–श्री शंकराचार्य–वही, पृ० 12।

मननीय एवं पठनीय मानी गई हैं। शंकर को ऐसा एक भी शब्द अथवा अक्षर शिक्षा की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है जो वेदविरुद्ध हो अथवा मोक्ष प्राप्ति में सहायक न हो। इस प्रकार उपनिषद्गम्य ज्ञान ही मोक्ष का कारण होने से शांकर वेदान्त में ग्राह्य माना जाता है।[1]

शांकर शिक्षा में पाठ्यक्रम (शास्त्र) का महत्वपूर्ण स्थान है।[2] गुरु और शिष्य के मध्य सम्पन्न होने वाली हर क्रिया का आधार पाठ्यक्रम है। गुरु शिष्य को जो उपदेश देगा, वह और शिष्य जिस उपदेश को ग्रहण करेगा वह, सब शास्त्रानुकूल होगा। इस प्रकार शांकर दर्शन में हर शैक्षिक प्रक्रिया शास्त्र (पाठ्यक्रम) से नियन्त्रित होती है। इसीलिए आचार्य शंकर ने गुरु के समान ही शास्त्र (पाठ्यक्रम) को भी शिक्षार्थियों के लिए महत्वपूर्ण माना है। उन्हीं के शब्दों में—"शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मानात्मा और विद्याविद्या आदि पदार्थों का बोध होता है उसका नाम 'ज्ञान' है।"[3] इतना ही नहीं, आचार्य शंकर शिक्षार्थियों के युक्तिपूर्वक विचार को तभी फलदायी मानते हैं जब शास्त्र और युक्ति दोनों ही आत्मैक्त्व प्रदर्शित करने के लिए प्रवृत्त हों। ऐसा होने पर ही व्यक्ति को हथेली पर रखे हुए बिल्व फल के समान ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है।[4] अतः ब्रह्म प्राप्ति में शास्त्र और गुरु दोनों के ही उपदेश की आवश्यकता होती है।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में ऐसे पाठ्यक्रम की नितान्त आवश्यकता ही नहीं वरन् अनिवार्यता है जिसके आधार पर शिक्षार्थी गुरु से उपदेश ग्रहण कर अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर सके।[6]

आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्यक्रम (शास्त्र) शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का उद्घाटक होने से स्थिर एवं अपरिवर्तनीय है। उसके सिद्धान्तों का अपलाप नहीं हो सकता है। वैदिक सिद्धान्त भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों काल में यथार्थ होने से नित्य ज्ञान के उत्पादक हैं।[7] वेदशास्त्र (पाठ्यक्रम) उनके अनुसार पवित्र एवं धार्मिक वस्तु हैं जिनके आधार पर जीवन की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है। जीवन को कर्तव्याकर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, औचित्यानौचित्य एवं ग्राह्याग्राह्य

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2–1–3–11) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 358।
2. श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा० (16–24) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 391।
3. वही शां० भा० (3–41), पृ० 104।
4. बृहदारण्वकोपनिषद् शां० भा० (3-1-1) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 619।
5. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (6-1-2) वही, पृ० 576।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (2-5) वही, पृ० 580।
7. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2-1-3-11)वही, पृ० 358।

आदि सभी आचार सम्बन्धी, व्यवहार सम्बन्धी एवं विचार सम्बन्धी व्यवस्थाओं का बोध शास्त्र से ही होता है।[1] शकर के अनुसार शास्त्र विधि का उलंघन करने वालों को जीवन में सफलता प्राप्त नही होती है।[2] इस प्रकार आचार्य शकर का पाठ्यक्रम के प्रति दृष्टिकोण धर्म एव अध्यात्म पर आधारित होने से उनकी कल्पना मे पाठ्यक्रम कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जो व्यक्ति जब चाहे परिवर्तित करले और अपनी मन की भावना के अनुसार उसमें संशोधन करले। शकर के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का प्रकाशक हो तथा मनुष्य को उसका परम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कराने में सहायक हो।[3] ऐसा पाठ्यक्रम वेदोपनिषद् ही हो सकते है अत: आचार्य शकर के अनुसार इनका ही पठन-पाठन श्रेयस्कर है। किन्तु इसकी व्यवस्था भी उन्होंने शास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्मानुसार ही प्रतिपादित की है। सभी के लिये एक ही प्रकार का पठन-पाठन उन्हें स्वीकार्य नही है। शास्त्र प्रतिपादित अधिकार-भेद एवं विधि-निषेध को दृष्टि में रखकर अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था का उन्होंने प्रतिपादन किया है।

यद्यपि भगवान् शकराचार्य ने वेदोपनिषद् को पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकार कर ब्रह्मज्ञान के लिए उनके अध्ययन-अध्यापन की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है तथापि उन्होंने तीन दृष्टियों से पाठ्यक्रम-विषयों का निर्धारण किया है। ये तीन दृष्टियाँ उनके द्वारा प्रतिपादित जगत्-सिद्धान्त की व्याख्या करने वाली तीन प्रकार की सत्ताओं पर आधारित है। उनकी दार्शनिक विचारधारा का विवेचन करते समय इस तथ्य पर हमने पर्याप्त प्रकाश डाला था कि शंकर के अनुसार जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है और पारमार्थिक दृष्टि से असत्य। ब्रह्म सभी दृष्टियों से सत्य होने से एकमात्र सत् पदार्थ है। इस प्रकार उन्होंने तीन प्रकार की सत्ताओं (अस्तित्व) का उल्लेख किया है। इन तीनों सत्ताओं के आधार पर तीन प्रकार के पाठ्यक्रम का शांकर शिक्षा-दर्शन मे पता चलता है। अत: निम्नलिखित सत्तात्रयी की संक्षेप में विवेचना विषय के प्रतिपादन में सहायक होगी—

(1) **प्रातिभासिक सत्ता।**
(2) **व्यावहारिक सत्ता।**
(3) **पारमार्थिक सत्ता।**

(1) **प्रातिभासिक सत्ता**—ऐसी सत्ता जो प्रतीतिकाल में सत्य दृष्टिगोचर होती है किन्तु आगे चलकर दूसरे ज्ञान से वाधित हो जाती है। जैसे—रज्जु में सर्प की

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता शां० भा० (16-24) वही, पृ० 391।
2. वही, (16–23), पृ० 391।
3. तैत्तिरीयोपनिषद् शा० भा० (1-11) वही, पृ० 86।

भावना अथवा सीपी में चाँदी की भावना। घनघोर अन्धकारमयी रात्रि में मार्ग मे पड़ी हुयी रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम हो जाता है। प्रकाश में दिखाई देने पर सर्प की प्रतीति का बाध होकर रस्सी का यथार्थ स्वरूप दिखाई देने लगता है। यहाँ जब तक रज्जु ज्ञान नहीं होता तब तक सर्प ज्ञान बना रहता है।[1] इसी प्रकार सीपी में चाँदी की प्रतीति उत्तरकालीन ज्ञान से बाधित होकर चाँदी न रहकर सीपी का यथार्थ बोध हो जाता है।[2] यही स्वप्न के पदार्थों की स्थिति होती है।[3] इस प्रकार इस स्तर पर कल्पना, भ्रम, स्वप्न आदि की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती हैं।

(2) **व्यावहारिक सत्ता**—शकराचार्य के अनुसार यह वह सत्ता है जो व्यवहार के लिए सत्य है। ससार के समस्त पदार्थो मे यह व्यवहार दशा में विद्यमान रहती है। सांसारिक पदार्थो को अपनी विशिष्टताएँ दो ही है—नाम और रूप। अतः भौतिक पदार्थों का कोई न कोई नाम और कोई न कोई रूप है। इस प्रकार नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता से हमारा व्यवहार प्रवर्तित होता है परन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है और जगत् सत्य नहीं रहता है। व्यवहारकाल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थो की सत्ता व्यावहारिक है और हमारा समस्त लौकिक एवं वैदिक व्यवहार ऐकान्तिक सत्य सत्य नहीं है।[4] इस स्तर पर सांसारिक पदार्थो का महत्त्व होता है और उनके आधार पर यथार्थ सत्ता (ब्रह्म) तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

(3) **पारमार्थिक सत्ता**—भौतिक पदार्थो से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है जो शाश्वत सत्य होने के कारण व्यावहारिक सत्ता से ऊपर होता है, वह ब्रह्म है।[5] वह एकान्त सत्य होने से भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनो कालो मे एक रूप रहने वाला है। इसका कभी विरोध तथा बाध नहीं होता है। संसार के समस्त पदार्थों की प्रतीति का यह आश्रय स्थान है। यही एकमेव सत्य है।[6] यही ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता कहलाती है। इस स्तर पर अन्य सभी भौतिक पदार्थो के ज्ञान का बाध होकर एकमात्र ब्रह्म की प्रतीति अवशिष्ट रह जाती है।

---

1. माण्डूक्यकारिका (3-37) शां० भा०, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 161-62।
2. श्री शंकराचार्य-विरचित प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रहः—सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 13।
3. वही, पृ० 13।
4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (2-1-14), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 365-66।
5. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः, वही, पृ० 18।
6. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 12।

आचार्य शंकर की दृष्टि से देखा जाए तो पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें इन तीनों प्रकार की सत्ताओं से सम्बन्धित विषय सम्मिलित हों। स्वामी शंकराचार्य ने प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है। इसमें भ्रम अथवा अज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। अज्ञान के ही कारण जगत् की पृथक् रूप से अनुभूति भ्रान्तिमात्र है। भ्रान्ति के सम्बन्ध मे भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने सूक्ष्म रूप से विचार किया है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रान्ति विषयक सिद्धान्त ख्याति के नाम से प्रचलित है। भारतीय दर्शन में निम्नलिखित प्रमुख ख्यातियों का प्रचलन है—

1. सत् ख्याति, 2. अख्याति, 3. अन्यथाख्याति, 4. आत्मख्याति, 5 असत् ख्याति और 6. अनिर्वचनीय ख्याति।

आचार्य शंकर अनिर्वचनीय ख्याति को मानते है। उन्होंने सत् ख्याति (जिसका प्रवर्तन रामानुजाचार्य ने किया है) के अतिरिक्त आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति और अन्यथा ख्याति का खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की स्थापना अपने ब्रह्मसूत्र—भाष्य में की है।[1] भ्रम के सम्बन्ध में उपर्युक्त सभी भारतीय सिद्धान्तों तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान के भ्रम और मतिविभ्रम की प्रक्रिया को पाठ्यक्रम में रखना चाहिए। भ्रम के सम्बन्ध में जितना ज्ञान छात्र को होगा वह उतना ही आचार्य शंकर के ऐसे सिद्धान्तों को समझने में सफल हो सकेगा जिनमे भ्रम के दृष्टान्त देकर तथ्यों का विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है। रज्जु मे सर्प, सीपी में चाँदी और मृगमरीचिका के आधार पर आचार्य शंकर ने जगत् का मिथ्यात्व तथा ब्रह्म का सत्यत्व प्रतिपादित किया है।[2] अतः सिद्धान्त को समझने से पूर्व सम्बन्धित दृष्टान्तों को समझना आवश्यक है। इस कारण वेदान्त का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें जीवन मे होने वाले सभी अज्ञान अथवा भ्रम की परिस्थितियों को स्पष्ट किया जाए। भ्रम के मनोवैज्ञानिक कारण तथा निराकरण आदि सभी का ज्ञान छात्रों को देने के लिए पाठ्यक्रम मे प्रावधान रखना चाहिए। इसी प्रकार स्वप्न के आधार पर भी जगत् की व्याख्या वेदान्त में की गई है। आचार्य शंकर जगत् को स्वप्न के समान कहते है जो कि सोते हुए तो सत्य प्रतीत होता है किन्तु जागने पर असत्य हो जाता है।[3] इस प्रकार शांकर वेदान्त मे स्वप्त का बहुत

1. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (उपोद्घात) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ० 7।
2. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः—सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 13।
3. श्री शंकराचार्य विरचितप्रकर ग्रन्थसंग्रह : वही, पृ० 13।

विचार किया गया है। अतः छात्रों को स्वपन के विज्ञान से परिचित कराने के लिये पाठ्यक्रम में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें स्वपन विचार का वेदान्त की दृष्टि से विश्लेषण किया गया हो। स्वप्न सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त ही छात्र जगत् और स्वप्न की तुलना कर सकेंगे। भौतिक पदार्थो तथा स्वप्न गत पदार्थों की समानता एवं असमानता का ज्ञान उन्हे हो सकेगा।

व्यावहारिक दृष्टि से पाठ्य विषयों का निर्धारण :

आचार्य शंकर ने प्रत्यक्ष सांसारिक सत्ता को अस्वीकार नही किया है। यह सारा दृश्य जगत् हमारी इन्द्रियों के लिये तो अवश्य सत्य है। कान से जो कुछ सुनते हैं और आँख से जो कुछ देखते है वह कान और आँख के लिये सत्य है। संसार की व्यावहारिक सत्ता विद्यमान है।[1] ज्ञान की दृष्टि से देखने पर यह असत्य दिखाई पड़ेगा किन्तु व्यावहारिक दृष्टि कोण से तो यह सत्य ही है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो जाये तब तक व्यावहारिक दृष्टिकोण रखना ही उचित और व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। व्यावहारिक सत्ता को आधार मान कर जिस अपरा विद्या (भौतिक शिक्षा) का प्रतिपादन आचार्य शंकर ने किया है उसमें भौतिक विषयों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-ये छः वेदाङ्ग अपरा विद्या के विषय है।[2] "अपरा विद्या (भौतिक शिक्षा) का सम्बन्ध हमारे व्यावहारिक जीवन से है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान नही होता है तब तक उसे अपरा विद्या के विषयों को पढ़ना चाहिए। इसी लिए श्वेतकेतु[3] ने तत्त्वमसि[4] (ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान) के उपदेश से पूर्व ऋग्वेदादि को ग्रन्थतः तथा अर्थतः जाना था।[5]

आचार्य शंकर ने जब व्यावहारिक दृष्टि से पाठ्य विषयों का निरूपण किया है तो उन्होंने अपरा विद्या (भौतिक शिक्षा) के अन्तर्गत उन सभी विषयों को स्थान दिया है जिनका भौतिक जगत् में आचार, विचार, उपासना, ध्यान तथा लोक व्यव-

---

1. ब्रह्मसूत्र शां० भां० (2-2-5-28) गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी. पृ० 447–48।
2. मुण्डकोप निषद् (1-1-5) शां० भां० वही, पृ० 17।
3 व 4 छान्दोग्योपनिषद् के छटे अध्याय में आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु का आख्यान वर्णित है। श्वेतकेतु के वेदादिशास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर उसके पिता आरुणि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से नौ बार तू वह (ब्रह्म) है, इस महाकाव्य का उपदेश दिया था। इस लिये उसका वेदादि का अध्ययन व्यावहारिक शिक्षा का ही परिचायक है।
5. छान्दोग्योपनिषद् शां० भां० (6-7-4) वही, पृ० 636।

हार आदि की दृष्टि से महत्त्व है ।[1] वेदान्त की शिक्षा के लिये जितने पाठ्य विषय हो सकते है उन सबको आचार्य शंकर ने व्यावहारिक दृष्टि से पठनीय माना है । इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित नारद-सनत्कुमार का प्रसङ्ग उल्लेखनीय है । नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर आत्म ज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की थी । इस पर सनत्कुमार ने उनके अध्ययन के विषय में पूछा । नारद ने जो उत्तर दिया है उसमें उन सभी विषयों का समावेश है जो व्यावहारिक दृष्टि से पठनीय है। इस प्रकरण का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर लिखते है "हे भगवन्, मै ऋग्वेद का अध्ययन कर चुका हूँ" तथा यजुर्वेद, सामवेद, और चौथा आथर्वण (अथर्व) वेद जानता हूँ । इतिहास पुराण रूप पाँचवा वेद महाभारत सहित पाँचों वेदों का वेद अर्थात् व्याकरण-क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही पदादि के विभाग पूर्वक ऋग्वेद आदि का ज्ञान होता, पित्रय-श्राद्धकल्प, राशि-गणित, देव-उत्पात ज्ञान, निधि-महाकालादि निधि शास्त्र, वाकोवाक्य-तर्क शास्त्र, एकायन-नीतिशास्त्र, देवविद्या-निरुक्त, ब्रह्मविद्या ब्रह्म अर्थात् ऋग्यजुः सामसंज्ञक वेदों की विद्या यानी शिक्षा, कल्प, छन्द और चिति, भूत-विद्या-भूत शास्त्र, क्षत्र-विद्या-धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या-ज्योतिष, सर्प-देवजन विद्या अर्थात् सर्पविद्या-गारुड और देवजन-विद्या गन्ध युक्ति तथा नृत्य-गान, वाद और शिल्पादि विज्ञान-ये सब मै जानता हूँ "।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्यक्रम में निम्न लिखित विषयों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था होनी चाहिये—

1. संहिता :—वैदिक शिक्षा में संहिताओं को कण्ठस्थ करने कीपरम्परा रही है। आचार्य शंकर इसी परम्परा के अनुयायी होने से संहिताओं के अध्ययन-अध्यापन का समर्थन करते है । अतः उनके अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, (शुक्ल एवं कृष्ण) सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों को अध्ययन-अध्यापन के लिये शिक्षा मे सम्मिलित किया जाना चाहिए । इनके अध्ययन से ही छात्रों को वह योग्यता प्राप्त होगी जिसके द्वारा वे वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हो सकेगे ।

2. इतिहास पुराण :—अध्ययन के विषय के रूप मे इनका उल्लेख सर्वप्रथम अथर्व-वेद (15-6-4) में हुआ है । शतपथ ब्राह्मण (13-4-3,12,13), जैमिनीय उपनिषद् (1-53), बृहदारण्यकोपनिषद (2-4-10) तथा (4-12) और छान्दोग्योप-निषद (3-4-1-2) में इतिहास का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख हुआ है । शतपथ ब्राह्मण (9-5-6,8, 79) में दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है। पुराण के अन्तर्गत सृष्टि विषयक कथाएँ तथा इतिहास के अन्तर्गत पूर्व कालीन वीरों की कहानियाँ आती है। श्रीमद्भगवत्पुराण आदि अठारह पुराण महर्षि वेदव्यास-प्रणीत हैं और वाल्मीकि-

---

1. "मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-2-0) वही पृ० 28 ।
2. "छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (7-1-2) गीता प्रेस, गोरखपुर पृ० 713-14

रामायण एवं व्यास-प्रणीत महाभारत इतिहास के ग्रन्थ माने जाते है। स्वामी शंकराचार्य ने महाभारत को पाँचवा वेद भी माना है।

3. व्याकरण:—वेदों का वेद है। इसके द्वारा ही पदादि का विभाग करके ऋग्वेदादि का ज्ञान होता है।
4. पित्रय:—आचार्य शंकर ने इसके अन्तर्गत पितरों के श्राद्ध की शिक्षा को स्वीकार किया है। अत: समस्त 'श्राद्धकल्प' ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते है।
5. **राशि :**—इस विषय के अन्तर्गत गणित को आचार्य शंकर ने स्वीकार किया है। अत: गणित की शिक्षा का प्रावधान छात्रों के लिये होना चाहिए।
6. **दैव:**—इस विषय के अन्तर्गत उत्पात ज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए। समस्त शकुन विचार की शिक्षा इस विषय के अन्तर्गत दी जायेगी जिससे शिक्षार्थी भावी उत्पात आदि के सम्बन्ध में पहले से ज्ञान प्राप्त कर सके।
7. **निधि:**—आचार्य शंकर के अनुसार इस विषय के अन्तर्गत देव-दर्शन-विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए।
8. **वाकोवाक्य:**—यह तर्क शास्त्र की शिक्षा का विषय है जिससे छात्रो को शास्त्रार्थ करने, परस्पर विचार-विमर्श करने तथा किसी समस्या पर साङ्गोपाङ्ग विचार करने की क्षमता का विकास हो सके।
9. **एकायन:**—इसे आचार्य शंकर ने नीति शास्त्र माना है। अत: इसके अन्तर्गत छात्रों को नैतिकता की शिक्षा दी जानी चाहिये।
10. **देवविद्या:**—यह देवताओं के ज्ञान से सम्बन्धित विषय है। अत: इसके अन्तर्गत निरूक्त का अध्ययन कराकर छात्रों को देवताओं का ज्ञान कराया जायेगा।
11. **ब्रह्मविद्या**:—यह ऋग्वेद, सामवेद और और यजुर्वेद का ज्ञान प्रदान करने वाली शिक्षा है जिसके अन्दर छात्रों को उच्चारण का अभ्यास, कल्प तथा छन्द का बोध कराया जाता है।
12. **भूत विद्या**.—इस विषय के अन्तर्गत छात्रों को भूत-प्रेतों से सम्बन्धित मन्त्र तथा यन्त्र-तन्त्र आदि का ज्ञान कराया जाता है। यह एक प्रकार की तन्त्र विद्या है।
13. **क्षत्र विद्या**:—धनुर्वेद की शिक्षा इसके अन्तर्गत आती है। छात्रों को युद्ध संबधी कला-कौशल सीखना और उन्हें युद्ध करने मे सक्षम बनाना इस विषय का मुख्य उद्देश्य है यह आज कल के सैन्य-विज्ञान जैसा विषय है।
14. **नक्षत्र विद्या**:—ज्योतिष वेद का अंग माना जाता है। और इसमें नक्षत्रों की गति-विधि का अध्ययन किया जाता है। अत: नक्षत्र विद्या के अन्तर्गत ज्योतिष के पठन-पाठन की व्यवस्था का प्रतिपादन आचार्य-शंकर ने किया है।

15. **सर्प-विद्या:**—सर्प के विष के प्रभाव को दूर करना इस विषय के अन्तर्गत आता है। अनेक प्रकार के मन्त्र तथा औषधियाँ जो सर्पविष का शमन करती है, इस विषय के अन्तर्गत छात्रों को पढ़ाये जायेंगे।
16. **देवजनविद्या:**—स्वामी शंकराचार्य के अनुसार इस विषय के अन्तर्गत छात्रों को श्रृंगार, नृत्य, संगीत वाद्य आदि ललित कलाओं तथा शिल्प कलाओं की शिक्षा दी जायेगी।

प्रस्थानत्रयी का अध्ययन :

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त वेदान्त के शिक्षार्थी को प्रस्थानत्रयी का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा। प्रस्थानत्रयी में उन सब विषयों की गणना की गई है जो वेदान्त की शिक्षा के लिये आधार-भूत विषय है। 'प्रस्थान' शब्द का साधारण अर्थ है 'गमन' परन्तु 'प्रस्थानत्रय' मे प्रस्थान का अर्थ है मार्ग, जिसके द्वारा गमन किया जाय। वेदान्त के तीन प्रस्थान है–1. श्रौत प्रस्थान 2. स्मार्त प्रस्थान और 3. न्याय प्रस्थान। श्रौत प्रस्थान या मार्ग ये हैं। श्रुतियाँ अर्थात् उपनिषद् 2. स्मृति अर्थात् गीता आदि और 3. प्रस्थान में सूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र। इन तीनों स्थानों से यात्रा करने पर आध्यत्मिक मार्ग का पथिक ब्रह्म तक पहुँचाता है।[1] उपनिषद् और स्मृतियों के भली-भाँति अध्ययन कर लेने पर ही ब्रह्मसूत्र के अध्ययन की योग्यता प्राप्त होती है। श्रौत सिद्धान्तों के परस्पर विरोध का परिहारकर उनमें समन्वय स्थापित करने के लिये ही ब्रह्मसूत्र का प्रणयन हुआ था।[2] अतः ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पूर्व मंत्र ब्राह्मण, आरन्यक तथा उपनिषद् और शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, तथा ज्योतिष और मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार वेदान्त की शिक्षा के पाठ्यक्रम में शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् साहित्य का अध्ययन सर्वप्रथम होना चाहिये। उपनिषदों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु आचार्य शंकर ने बारह प्रमुख उपनिषदों पर ही भाष्य किए है[3]– 1. ईश 2. केन .. कठ 4. प्रश्न 5. मुण्डक 6. माण्डूक्य 4. तैत्तिरीय 8. ऐतरेय 9. छान्दोग्य 10. बृहदारण्यक 11. श्वेताश्वतर 12. नृसिह तापिनी। इन उपनिषदों को शांकर भाष्य सहित छात्रों को पढ़ाया जाय। साथ में अन्य उपलब्ध उपनिषदों का अध्ययन भी कराया जाये।

स्मार्त प्रस्थान के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय श्री शंकराचार्य हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० सं० 150।
2. वही, पृ० सं 258।
3. देखिये–डा० राधाकृष्णन्-भारतीयदर्शन भाग-2 पादटिप्पणी 1. राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली पृ० 444।

अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शंकर ने स्मृति प्रमाण में अधिकतर गीता को उद्धृत किया है। गीता पर उनका स्वतन्त्र भाष्य भी उपलब्ध है।[1] अतः श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन-अध्यापन(शांकर भाष्य सहित) की व्यवस्था पाठ्यक्रम में की जानी चाहिए। मन्वादि उपलब्ध समस्त स्मृतियों का अध्ययन भी अपेक्षित है। इसके पश्चात् ब्रह्मसूत्र का अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये किन्तु ब्रह्मसूत्र में अनेक दार्शनिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मतों की आलोचना आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में की है। ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पूर्व छात्र को उन-उन मतो से परिचित कराना आवश्यक एवं उपयोगी होगा। इसीलिये निम्नलिखित विषयों का समावेश पाठ्यक्रम में ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पूर्व होना चाहिये।

1. **सांख्य-दर्शन**—महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यसूत्रों में प्रकृति को सृष्टि का स्वतन्त्र कारण माना गया है और एकात्मवाद के स्थान पर अनेकात्मवाद की स्थापना की गई है। आचार्य शकर की युक्तियों को भली-भाँति समझने के लिये सांख्यसूत्रों का अध्ययन अपेक्षित है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में युक्तिपूर्वक सांख्यमत का खण्डन किया है।[2]

2—**न्याय-वैशेषिक दर्शन**—ये दोनों दर्शन वेदान्त सम्मत आत्मा के स्वरूप को नहीं मानते है। अतः आचार्य शंकर ने इन दोनों को असंगत बताते हुए लिखा है—"इच्छादि को आत्मा का धर्म मानने की कल्पना करने वाले वैशेषिक तथा न्याय मतावलम्बियो की औपनिषद्-शास्त्र-तात्पर्य से सङ्गति नहीं होती है।"[3] इसी प्रकार आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैशेषिक के परमाणुवाद को वेदविरुद्ध मानते[4] हुए यह मत व्यक्त किया है—"कुनर्क के योग, वेदविरुद्ध और शिष्ट पुरुषों से अस्वीकृत होने से वैशेपिक सिद्धान्त अपेक्षा करने योग्य नही है।"[5] इस प्रकार ब्रह्मसूत्र का यथावत् अध्ययन करने वाले शिक्षार्थी को न्याय-वैशेषिक के विधिवत् अध्ययन की आवश्यकता होने से इन दोनों दर्शनों को पाठ्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने से छात्र को उनके सिद्धान्तों को समझना सहज होगा।

3. **योग-दर्शन**—इस दर्शन में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप तथा सृष्टि रचना की प्रक्रिया पर वेदान्त का मतभेद है। अतः आचार्य शंकर के अनुसार सांख्य दर्शन के

---

1. डा० राम मूर्ति शर्मा-शंकराचार्य-साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृष्ठ 18.
2. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-1-1), गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, पृ०340।
3. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (4-3-22) गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 985।
4. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-4-12), वही, पृ०359-360।
5. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-2-4-18), द्रष्टव्य।

समान योगदर्शन भी उक्त दृष्टियों से मान्य नहीं है।[1] इस प्रकार वेदान्त के विद्यार्थी को योग-दर्शन का अध्ययन भी अपेक्षित है। योगसाधना के महत्त्व को आचार्य शंकर ने मोक्ष प्राप्ति के लिये स्वीकार किया है।[2] इस दृष्टि से भी योगदर्शन को वेदान्त के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

4. मीमांसा दर्शन—इस दर्शन की प्रमाण मीमांसा शांकर वेदान्त को मान्य है और मीमांसा द्वारा प्रतिपादित एकमात्र कर्म की श्रेष्ठता शंकर को स्वीकार्य नहीं है। आचार्य शंकर मोक्ष को ज्ञानमूलक स्वीकार कर वेदान्त के छात्रों की जिज्ञासा को इस दृष्टि से जागृत कर देते हैं कि कर्म अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय की अपेक्षा एकमात्र ज्ञान ही क्यों श्रेयष्कर है ? इसके लिये पाठ्यक्रम में मीमांसा दर्शन के पठन-पाठन की व्यवस्था अपेक्षित है।

5. बौद्ध-दर्शन—आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में बौद्धमत का खण्डन किया है। उन्हीं के शब्दों में—"बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीनों वादों का उपदेश करते हुए सुगत (बुद्ध) ने अपना असम्बद्ध प्रलापित्व स्पष्ट किया है, अथवा विरुद्ध धर्म प्रतिपत्ति से ये प्रजाएँ मोह को प्राप्त हों, इस प्रकार प्रजा के प्रति अति विद्वेष किया है। इसलिए श्रेयकामी पुरुषों से सब प्रकार यह सुगतमत (बौद्धमत) अनादरणीय है।"[3] अतएव आचार्य शंकर द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रस्थापित मतों का निराकरण करने के लिये जिज्ञासुओं को इसके विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा है।

6. जैन दर्शन—बौद्धमत के समान जैनमत की समीक्षा करते हुए[4] आचार्य शंकर ने इसको भी असंगत होने से उपेक्षणीय बताया है।[5]

7. पाशुपत सिद्धान्तः—इस सिद्धान्त में ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण माना जाताहै किन्तु वेदान्त ईश्वर को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानता है। अतः भगवान् शंकराचार्य ने पाशुपत मत को असंगत बताया है।[6] इस कारण वेदान्त के पाठ्यक्रम में पाशुपत सिद्धान्त के अध्ययन की आवश्यकता स्वतः उपस्थित हो जाती है।

8. पंचरात्र सिद्धान्तः—यह वैष्णव सिद्धान्त है। इसमें आचार्य शंकर के

---

1. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-2-3) दृष्टव्य।
2. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-2-3) दृष्टव्य।
3. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-2-6-32), गोविन्दमठ, वाराणसी, पृ०454-55।
4. वही, (2-2-6-33) पृ०455।
5. वही, (2-2-6-36) पृ०461।
6. वही, (2-2-7-41) पृ०466।

अनुसार वेद-विरोधी तथा अवैदान्तिक सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है।[1] अतः ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में इस मत की आलोचना होने से वेदान्त के शिक्षार्थी के लिए इसके अध्ययन की आवश्यकता होगी।

धर्मशास्त्रों का अध्ययन :

उपर्युक्त दार्शनिक मतों के अध्ययन के अतिरिक्त शांकर शिक्षा का प्रधान आधार धार्मिक होने से स्रोत एवं स्मार्त कर्मों तथा वर्णाश्रम धर्म को जानने के लिये पाठ्यक्रम में स्मृति ग्रन्थों के पठन-पाठन की व्यवस्था शंकराचार्य को मान्य है। मनुस्मृति के सम्बन्ध में अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में तैत्तिरीय संहिता को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है—"जो कुछ मनु ने कहा है वह औषध है।"[2] अतः धार्मिक सिद्धान्तों, परम्पराओं एवं क्रियाकलापों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्मशास्त्रों का अध्ययन शंकराचार्य के अनुसार आवश्यक है।[3] ये धर्मशास्त्र (स्मृति) अठारह है—(1) मनुस्मृति, (2) याज्ञवल्क्य स्मृति, (3) अत्रिस्मृति, (4) पाराशर स्मृति, (5) आङ्गिरस स्मृति, (6) व्यास स्मृति, (7) यमस्मृति, (8) दक्षस्मृति, (9) गौतमस्मृति, (10) वाशिष्ट स्मृति, (11) हारीत स्मृति, (12) शातातप स्मृति, (13) विष्णु स्मृति, (14) कात्यायन स्मृति, (15) बोधायन स्मृति, (16) आपस्तम्ब स्मृति, (17) शंख स्मृति, (18) लिखित स्मृति या प्राचेतस स्मृति। इन सब स्मृतियों का अध्ययन धार्मिक शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। यद्यपि आजकल ये सब स्मृतियाँ व्यवहार में नहीं आती है, केवल मनु, याज्ञवल्क्य एवं पाराशर स्मृतियों का अधिक प्रचलन है तथापि आचार्य शंकर ने अपने भाष्य ग्रन्थों में उपर्युक्त स्मृतियों को उद्धृत कर इनके अध्ययन की आवश्यकता को स्वीकार किया है। इन सबका अध्ययन करने के पश्चात् वेदान्त के शिक्षार्थी को ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करना चाहिए। साथ में समस्त पुराणों तथा बाल्मीकि रामायण एवं महाभारत को भी इतिहास के रूप में उन्होंने पठनीय माना है।

अध्ययन-क्रम :

आचार्य शंकर प्रणीत भाष्य ग्रन्थों अथवा प्रकरण ग्रन्थों में किसी स्थान पर उपर्युक्त विषयों के अध्ययन के क्रम के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है। अतः यह कहना बहुत कठिन है कि स्वामी शंकराचार्य को अध्ययन का कौनसा क्रम मान्य था? ब्रह्म-सूत्र की आन्तरिक रचना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वेद, उपनिषद्, गीता,

---

1. वही, (2-2-8-45) पृ०168–70।
2. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (2-1-1-1) द्रष्टव्य।
3. श्रीमद्भगवद् गीता शां०भा० (16–24) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०391।

विभिन्न पुराण, विविध धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ) तथा दार्शनिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मत-मतान्तरों के अध्ययन के पश्चात् ही ब्रह्मसूत्र का अध्ययन होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इसीलिये ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने श्रुति, स्मृति तथा पुराण इत्यादि को तो उद्धृत किया है किन्तु अपने उपनिषद् एवं गीता भाष्य में उन्होंने ब्रह्मसूत्र को उद्धृत नहीं किया है। प्रायः प्रस्थानत्रयी के क्रम में भी विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र को अन्तिम प्रस्थान माना है।[1] शांकर वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् स्वामी करपात्री जी का इस सम्बन्ध में भिन्न मत है। उनके अनुसार वेदान्त में प्रवेश के लिए सर्वप्रथम विद्यार्थी को वेदान्त की परिभाषा, पंचदशी, सांख्यतत्त्वकौमुदी, तर्क-संग्रह और मुक्तावली को पढ़ना चाहिए। तत्पश्चात् उपनिषदों का शांकर भाष्य पढ़कर ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करना चाहिये और ब्रह्मसूत्र पढ़ लेने के बाद गीता का शांकर भाष्य पढ़ना चाहिये किन्तु उपनिषदों में माण्डूक्योपनिषद् और बृहदारण्यकोप-निषद् के शांकर भाष्य को गीता के अध्ययन के पश्चात् पढ़ना चाहिए। इन सबका अध्ययन करने पर आचार्य शंकर प्रणीत स्तोत्र, उपदेश-साहस्री और विवेक चूडामणि तथा प्रपञ्चसार इत्यादि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।[2] अध्ययन का क्रम कोई भी हो, इतना स्पष्ट है कि व्यवहारिक दृष्टि से आचार्य शंकर पाठ्यक्रम को इतना विविधतापूर्ण तथा विभिन्न प्रकार के विषयों के अध्ययन से परिपूर्ण बनाने के पक्ष में है जिससे वेदान्त के छात्र की ब्रह्म जिज्ञासा को उद्भूत एवं उत्प्रेरित किया जा सके।[3] इस स्तर के पाठ्यक्रम में साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान तथा धर्मशास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का पठन-पाठन भी होगा। यद्यपि आचार्य शंकर ने संस्कृत पढ़ने या न पढ़ने का कहीं कोई संकेत नहीं दिया है तथापि उपर्युक्त विषयों के संस्कृतबद्ध होने से तथा आचार्य शंकर के स्वयं संस्कृत में ग्रन्थ-प्रणयन से संस्कृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

पारमार्थिक दृष्टि से विषय-निरुपण

ब्रह्म जिज्ञासा के उपरान्त छात्र पारमार्थिक स्तर में प्रवेश कर जायेगा। आचार्य शंकर के अनुसार विभिन्न शास्त्रों, धर्मग्रन्थों तथा दार्शनिक मीमांसाओं को ही पढ़ लेना पर्याप्त नहीं है। उनके अनुसार समस्त वेदों का अध्ययन और अन्य सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी जब तक पुरुष आत्मतत्त्व को नहीं

---

1. श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० 150।
2. परिशिष्ट सं० 1 द्रष्टव्य।
3. Mookerji, R.K.—*Ancient Indian Education,* Sunder Lal Jain Moti Lal Banarsidass, Bangalow Road, Delhi-6. P. 262.

जानता, तब तक अकृतार्थ ही रहता है ।[1] छात्रों के पूर्ण विकास के लिये उन्हें पारमार्थिक सत्ता से परिचित कराना आवश्यक है । इस स्तर पर विभिन्न विषयों के अध्ययन की आवश्यकता नही रहती । क्योंकि इनमें तो शिक्षार्थी ने व्यावहारिक स्तर पर ही निष्णातता प्राप्त कर ली है । अब तो उसे आत्मानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करनी है तभी उसके मानसिक सन्ताप का शमन होकर अकृतार्थता की समाप्ति होगी ।[2] अतः गुरु शिष्य को निम्न महावाक्यों[3] का उपदेश करेगा—

(1) **तत्वमसिः**—यह महावाक्य छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) का है । इसका अर्थ है, 'तू वह है' । तत् = वह, त्वम् = तू और असि = है । यहाँ तत् या वह का अर्थ है ब्रह्म, त्वम् जीव के लिए आया है । अर्थात् जीव ही ब्रह्म है । तुम शरीर मात्र नहीं हो, वरन् साक्षात् चैतन्यस्वरूप हो जिसकी नित्य सत्ता है । जीव और ब्रह्म की अखण्डैकरसता का बोध कराने के लिये इस महावाक्य से गुरु शिष्य को जीव की एकता का उपदेश करेगा ।[4]

2. **प्रज्ञानं ब्रह्म**—यह महावाक्य ऐतरेय उपनिषद् (3-6-3) का है । इसका अर्थ है—ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है । ब्रह्म का स्वरूप लक्षण यह है कि उसकी नित्य सत्ता है और वह ज्ञान या चित् के रूप में है ।

3. **अयमात्मा ब्रह्म**—यह महावाक्य माण्डूक्योपनिषद् (1/2) का है । इसका अर्थ है 'यह आत्मा ब्रह्म' है । इस महावाक्य में आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य दिखाया गया है । आत्मा ही परमात्मा है ।[5] सच्चा ज्ञान होने पर भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है ।

4. **अहं ब्रह्मास्मि**—यह बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) का महावाक्य है । इसका अर्थ है 'मै ब्रह्म हूँ' । यह ब्रह्मानुभूति का वाक्य है ।[6] अर्थात् ब्रह्म ज्ञान होने पर जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ।[7]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (6–1–3) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०577 ।
2. छान्दोग्योपनिषद् शां०भा० (7-1-3), वही, पृ०717–18 ।
3. "जिन उपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म का अपरोक्ष निर्देश किया जाता है वे ही महावाक्य कहलाते है ।" डा० नरेन्द्र देवसिंह शास्त्री–वेदान्तसार की भूमिका साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ शहर, पृ०20 ।
4. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 79 ।
5. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-10) वही, पृ० 257 ।
6. "उन्होंने (सदानन्द) 'तत्त्वमसि' को उपदेश वाक्य और 'अहं ब्रह्मास्मि' को अनुभव वाक्य कहा है ।" डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री-वेदान्तसार की भूमिका, वही पृ० 21 ।
7. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (3-2-9) वही, पृ० 114 ।

इस स्तर पर शिक्षार्थी का एकमात्र सम्बन्ध परमात्मा से रह जाता है।[1] परमात्मा ही एक मात्र शिक्षा का विषय रहने से इस स्तर की शिक्षा को पराविद्या अथवा आध्यात्मिक शिक्षा कहते हैं और धर्म, अधर्म के साधन और उनके फल से सम्बन्ध रखने वाली शिक्षा को अपरा विद्या अथवा धार्मिक शिक्षा कहते हैं।[2] पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से शिक्षार्थी को ब्रह्मानुभूति करनी होती है। उसकी श्रवण (सुनने अथवा पढ़ने) की स्थिति व्यवहारिक सत्ता के स्तर तक ही रहती है। अब उसे गुरू-उपदेश का मनन करना है और मनन के उपरान्त निदिध्यासन करना है। यही इस स्तर का पठनीय विषय है। इसी को वेदान्त में जीवन्मुक्ति कहा गया है।[3] यहाँ सब कुछ अनुभूति ही है, ब्रह्मानुभूति मे लीन हुआ व्यक्ति शान्त रहता है।[4] इस प्रकार आचार्य शंकर पारमार्थिक स्तर पर ऐसे पाठ्यक्रम की प्रस्तावना करते हैं जिसमें शिक्षार्थी प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता के स्तर पर अधीत विषयों का मनन करके और तदुपरान्त निदिध्यासन की स्थिति में पहुँचकर ब्रह्मानुभूति प्राप्त कर सके।

पाठ्य सहगामी क्रियाएँ

भगवान् शंकराचार्य ने ऐसी क्रियाओं का भी उल्लेख किया है जिनमें अध्ययन से अवशिष्ट समय का सदुपयोग हो सके। ऐसी क्रियाएँ जो ज्ञानार्जन में सहायक होती हैं उन पर वेदान्त में बड़ा ध्यान दिया गया है। मनुष्य के मन को संयम में रखने के लिए अनेक प्रकार की क्रियाओं का विधान शांकरदर्शन में मिलता है। आचार्य शंकर के अनुसार वेदान्त के अध्ययन के साथ देवाराधन, श्रुति (वेद) और सच्छास्त्रों के श्रवण, पवित्र तीर्थस्थानों के दर्शन (सरस्वती यात्राएँ) और गुरू की सेवा करने से पाप का बन्धन निवृत्त होता है।[5] इसी प्रकार वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, इन्द्रिय दमन का अभ्यास करना, श्रद्धा तथा

---

1. मुण्डकोपनिषद् (1-1-5) शां० भा० वही, पृ० 19।
2. मुण्डकोपनिषद् (1-1-4) शां० भा०, वही पृ० 16।
3. "ज्ञान की प्राप्ति होने पर इसी शरीर में मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस मुक्ति कानाम है जीवन्मुक्ति"—श्री बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० 317।
4. तुलना कीजिए—"मन शान्त हो जाने से उसमें किसी प्रकार का रागद्वेष नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था में पहुँचकर वह परमहंस हो जाता है।" डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री—वेदान्तसार की भूमिका, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ शहर, पृ० 28।
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां० भा० (1-) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 28।

स्वतन्त्रता (स्वावलम्बन) ये सब आत्मज्ञान के साधन हैं ।[1] इनके अतिरिक्त ईश्वर की भक्ति करना, भगवान् का ध्यान करना और योगाभ्यास करना—इन सबसे मनुष्य को मुक्ति मिलने में सहायता मिलती है ।[2] इसी प्रकार सत्सङ्ग करना, दान करना और सन्तोष करना आदि ब्रह्मज्ञान में सहायक है ।[3] शांकर शिक्षा में परिव्रजन (भ्रमण) का बड़ा महत्त्व है । इसीलिए संन्यासी को परिव्राजक कहा जाता है। विभिन्न धार्मिक स्थलों, पवित्र स्थानों, देवमन्दिरों तथा तीर्थ भूमियों में विचरण कर अन्य विद्वानों से सम्पर्क करना और ज्ञानार्जन करना शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग रहा है । उपर्युक्त क्रियाओं के द्वारा शिक्षा का विकास होता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने इनको भी ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप मे मान्यता दी है । इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा में जहाँ अध्ययन-अध्यापन से सम्बंधित शैक्षिक क्रियाओं को स्थान दिया है वहाँ ऐसी क्रियाओं को भी प्रस्तावित किया है जो ज्ञान प्राप्ति में सहायक होकर वेदान्त के विद्यार्थी को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसारित करती है। अतः इनकी गणना शिक्षा शास्त्रीय दृष्टि से [illegible] क्रियाओं के अन्तर्गत होनी चाहिए । इस प्रकार उनका पाठ्यक्रम इतना व्यापक एवं सर्वांगीण है कि उसमें न केवल सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की गयी है अपितु समस्त वर्णाश्रम धर्मों की समग्र शिक्षा का उसमें प्रावधान किया गया है ।

उपर्युक्त समस्त विवेचना के सारभूत बिन्दु निम्नलिखित है—

1. शंकराचार्य को प्राचीन आश्रम व्यवस्था मान्य है ।
2. प्राचीन आश्रम व्यवस्था में शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होकर शिक्षार्थी को गुरु गृह में रहकर वेद आदि शास्त्रो का अध्ययन करना होता है ।
3. इस आश्रम व्यवस्था मे शिक्षा के पाठ्यक्रम को जीवन के विविध अनुभवों से युक्त बनाने का प्रयास किया जाता था ।
4. आचार्य शंकर के पाठ्यक्रम निर्धारण मे इसी आश्रम व्यवस्था की महत्त्व-पूर्ण भूमिका है ।
5. पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों से सर्वथा भिन्न ढंग से आचार्य शंकर ने पाठ्यक्रम पर विचार किया है। उनके विचार का आधार वेदशास्त्र प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था है ।
6. शंकर के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होने से उन्होंने पाठ्यक्रम को मुक्ति प्राप्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया है ।

---

4. श्वेताश्वतरोपनिषद् शां० भा० (1-) वही, पृ० 29-30 ।
5. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 19 ।
6. वही, पृ० 11 ।

7. पाठ्यक्रम अत्यन्त पवित्र, धार्मिक एवं आध्यात्मिक वस्तु होने से सदैव आदरणीय एवं पूजनीय है। शांकर दर्शन में इसकी शास्त्र संज्ञा है।
8. आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्क्रम (शास्त्र) शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग होने से शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों ही इससे बंधे हुए है।
9. शांकर शिक्षा में पाठ्यक्रम (शास्त्र) अनिवार्य होने के साथ स्थिर तथा अपरिवर्तनीय है। यह शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का प्रकाशक होने से समस्त जीवन का आधार है।
10. मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद उपनिषद् को पाठ्यक्रम मे सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।
11. पाठ्यविषयों का निर्धारण शांकर दर्शन में प्रतिपादित प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं के अनुसार हुआ है।
12. प्रातिभासिक सत्ता में भ्रम अथवा अज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अत: भ्रम का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। इसी प्रकार स्वप्न की भी प्रातिभासिक सत्ता मानकर जगत् की उसके आधार पर व्याख्या होने से स्वप्न आदि का अध्ययन भी वेदान्त को स्वीकार्य है।
13 व्यावहारिक सत्ता में जगत् के सत्य होने से समस्त भौतिक एवं धार्मिक शिक्षा का प्रावधान शांकर शिक्षा-दर्शन में किया गया है।
14. इस स्तर पर आचार्य शंकर ने व्यापक पाठ्यक्रम की कल्पना की है। जिसमें मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद-उपनिषद्, स्मृति, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, वेदाङ्ग, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या, नक्षत्रविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, सर्पविद्या, श्रृंगार-नृत्य-संगीतवाद्य आदि ललितकलाओं तथा शिल्पकलाओं आदि विविध विषयों के अध्ययन को सम्मिलित किया गया है।
15 वेदान्त के आधारभूत विषय वेद–उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र है। इनके अध्ययन की विशेष व्यवस्था उन्होंने पाठ्यक्रम में की है।
16. ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पूर्व समस्त वेद उपनिषद्, वेदाङ्ग, मन्वादि, स्मृतियाँ तथा न्याय-वैशेषिक, साँख्ययोग और मीमांसा-दर्शन, बौद्ध, जैन, पाशुपत तथा पंचरात्र (वैष्णव) सिद्धान्त आदि का ज्ञान आवश्यक होने से शांकर शिक्षा के पाठ्यक्रम में इनके अध्ययन पर बल दिया गया है।
17. व्यावहारिक दृष्टि से निर्धारित पाठ्यविषयों के अध्ययन के फलस्वरूप ब्रह्मजिज्ञासु होकर शिक्षार्थी पारमार्थिक सत्ता के पाठ्यक्रम में प्रवेश करेगा।

18. पारमार्थिक स्तर पर किसी ग्रन्थादि का पठन-पाठन न होकर केवल ब्रह्मानुभूति ही पाठ्यविषय होगी। विद्यार्थी गुरू से 'तत्त्वमसि' (तू वह ब्रह्म है) का उपदेश लेकर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मै ब्रह्म हूँ) के रूप में ब्रह्मानुभूति को प्राप्त करेगा।

19. ईश्वर का भजन-पूजन, तीर्थाटन, दान, योगाभ्यास, ब्रह्मचर्याभ्यास, सत्संग करना, गुरू सेवा करना, यज्ञानुष्ठान करना अथवा कराना, उपवास आदि रखना तथा धर्मोपदेश के लिए इधर-उधर परिब्रजन करना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं जिनसे ब्रह्म ज्ञान में सहायता मिलती है। अत ये पाठ्य सहगामी क्रियाओं के अन्तर्गत स्वीकार की जाती है।

उपसंहार

वेदे ब्रह्मसमस्तदङ्ग-निचये गार्ग्योपमस्तत्कथा—
तात्पर्यार्थविवेने गुरसमस्तत्कर्मसवर्णने ।
आसीज्जैमिनिरेव तद्वचनजप्रोद्बोधकन्दे समो
व्यासेनैव स मूर्तिमानिव नवो वाणीविलासैर्वृतः ॥[1]

"वे (शंकर) दार्शनिक भी है और कवि भी, ज्ञानी पण्डित भी हैं और सन्त भी, वैरागी भी हैं और धार्मिक सुधारक भी।"

"The Vaishnavites, the Savites & the Saktas, the Mimanskas, the Vishishtadvaitas & the Dvaitas; the Vaidikas, the Tantrikas & the Mantrikas, all these & others yet to come, irrespective of their faith or creed or practice have a place in the wonderful system of philosophy evolved & perfected by the revered Sankara."[3]

---

1. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत—4-19), श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार, सं० 2000, पृ० 95-96—यह बालक (शंकर) वेद में ब्रह्मा के समान, वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के समान तथा इनके तात्पर्य के निर्णय करने में बृहस्पति के समान, वेदविहित कर्म के वर्णन करने मे जैमिनि के समान, वेद-वचन के द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान के विषय में व्यास के ही समान था और तो क्या, वाणी के विलास से युक्त वह बालक (शंकर) व्यास का नया अवतार प्रतीत होता था।
2. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट. दिल्ली, पृ० 444।
3. *Indian Historical*, Quarterly, 1929; P. 692.
शंकराचार्य द्वारा विकसित तथा प्रतिष्ठित आश्चर्यजनक अद्वैत सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों तथा आगामी दार्शनिकों के लिए भी, उनकी आस्था, धर्म एवं क्रिया का विचार किए बिना, स्थान प्राप्त है।

स्वामी शंकराचार्य एक महान् शिक्षा दार्शनिक :

भारत देश ऋषियों, सन्तों, विचारकों, विद्वान्-दार्शनिकों, मनीषियो एव मूर्धन्य शिक्षाविदों की भूमि है। इसी पुण्यभूमि पर अवतीर्ण होकर आद्य जगत् गुरु शंकराचार्य ने अपने ज्ञानालोक से न केवल भारतवर्ष को आलोकित किया था वरन् उनके दिव्य-प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशमान् हो उठा था। वह भारत की एक दिव्यविभूति है। जिस समय यह देश अवैदिकता तथा नास्तिकता में विमग्न हो रहा था, जब वैदिक क्रिया-कलापों तथा मान्यताओं का ह्रास हो रहा था, जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के ह्रास से मानव-समाज किंकर्तव्य विमूढ सा हो गया था, जब अनाचार तथा कुशिक्षा की काली घटाएँ चारों ओर छायी हुई थी, जब एक छोर से दूसरे छोर तक यह समस्त देश आलस्य, अकर्मण्यता एवं अशिक्षा तथा अज्ञान के चंगुल में फंसा हुआ था, तब आचार्य शंकर का मगलमय उदय इस देश में हुआ था।[1] उनका अविर्भाव भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने अपने अद्वैत सिद्धान्त. अध्यात्म प्रधान शिक्षा-दर्शन तथा समतामूलक आचार पद्धति से देश को जो सफल नेतृत्व प्रदान किया था उसके फलस्वरूप भारतीय जनता ने आदरपूर्वक उन्हें 'जगद्गुरु' तथा 'लोकशंकर' की उपाधि से विभूषित किया था।[2] उनका यह महान् कार्य केवल दार्शनिक चिन्तन अथवा धार्मिक मीमांसा तक ही सीमित न था, वरन् वह दार्शनिक विचारक अथवा धर्म-मीमांसक से बढ़कर अपने युग के महान् शिक्षा-शास्त्री थे। विगत अध्यायों में हमने उनके सर्वांगीण शिक्षा-दर्शन को भली-भांति हृदयङ्गम करने का प्रयास किया है। वस्तुतः उनका कार्य इतना व्यापक, विशाल तथा सारगर्भित है कि उसमे समस्त धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक मूल्यो तथा धारणाओं और विचारों का समाहार हो जाता है। अतः उनको शिक्षा शास्त्रियों की पंक्ति में स्थान देने में यद्यपि किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए तथापि इस सम्बन्ध में साङ्गोपाङ्ग विवेचना करने से शिक्षा शास्त्री के रूप में उनकी स्थापना को बल मिलेगा।

---

1. श्री शंकरदिग्विजय (माधवकृत–2-93) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार पृ० 61।
2. श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।
   नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्॥
   —स्वामी अमलानन्द सरस्वती—श्री बलदेव उपाध्यायकृत—श्री शंकराचार्य (हिन्दुस्तानी—एकेडेमी, इलाहाबाद, 1963) की 'श्री शंकर स्तुति' से उद्धृत।

किसको शिक्षा शास्त्री माना जाये ? यह प्रश्न अपने आप में इतना गम्भीर है कि इसका उत्तर देना सहज कार्य नहीं है। आज शिक्षा शास्त्र ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में इतना विकसित हो गया है कि शिक्षा शास्त्र के चिन्तन की कोई सीमा नहीं रही है। सामान्यतः शिक्षा के क्षेत्र में मौलिक रूप से चिन्तन करने वाले व्यक्ति को शिक्षा शास्त्री कहा जाता है किन्तु जबकि हम शंकराचार्य का एक शिक्षा शास्त्री के रूप मे मूल्यांकन कर रहे हैं, तब हमें बड़ी गम्भीरता से इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। वस्तुतः यदि देखा जाए तो शिक्षा शास्त्री की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। केवलमात्र शिक्षा शास्त्र की पुस्तक लिख लेने से कोई शिक्षा शास्त्री नहीं होता है। शिक्षा की एक-दो समस्याओं के निराकरण से कोई शिक्षा शास्त्री नहीं होता है। प्रथमतः शिक्षा शास्त्री मौलिक विचारक होता है। वह जीवन-जगत् की समस्याओं पर अपने ढंग से विचार करता है, अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत करता है और अपने ढंग से उस समाधान को क्रियान्वित करने को योजना प्रस्तावित करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि एक शिक्षा-दार्शनिक को शैक्षिक उद्देश्यों के प्रति अपनी दृढ़ आस्था रखनी चाहिए जो कि अन्ततः विधियों का चयन, संगठन की योजना, विषयवस्तु तथा विषय-सामग्री के चुनाव का निर्धारण करते है।[1] इस प्रकार शिक्षा-शास्त्री में दार्शनिक क्षमता का पूर्ण विकास होता है। वह अपने चिन्तन से शिक्षा-जगत् को नयी दिशा प्रदान करता है। पश्चिमी शिक्षा-जगत् में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, रूसो, पेस्टालाजी तथा ड्यूवी इत्यादि विचारक उन शिक्षा-शास्त्रियों में अग्रगण्य माने जाते हैं जिनका दार्शनिक चिन्तन-मनन अत्यन्त सबल एवं प्रभावशाली था। अपने प्रखर दार्शनिक चिन्तन के कारण ही उन्होंने तत्कालीन शिक्षा-शास्त्र को नया स्वरूप प्रदान किया था। इसी प्रकार भारत में शिक्षा-शास्त्रियो की विशिष्ट परम्परा रही है। आधुनिक भारतीय शिक्षा के निर्माताओं मे विवेकानन्द, दयानन्द, गाँधी, टैगोर, अरविन्द तथा राधाकृष्णन् इत्यादि के नाम मौलिक विचारकों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने प्रखर चिन्तन का सम्बल प्रदान कर शिक्षा को नई दिशा प्रदान की है।

स्वामी शंकराचार्य भारतीय दार्शनिक क्षेत्र के मौलिक विचारक, प्रखर चिन्तक तथा उत्कृष्ट समीक्षक माने जाते हैं।[2] उन्होने ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर अपने भाष्य-ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने दार्शनिक चिन्तन की सक्षमता का परिचय दिया था। उनकी दार्शनिक मीमांसा में इतनी तेजस्विता, प्रखरता

---

1. Patel, M. S.—*The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi,* Navjivan Publishing House, Ahmedabad, P. 8.
2. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, पृ० 438।

तथा गम्भीरता है कि उनके द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवाद भारतीय जनमानस में समाहित हो गया है। आज भारतीय जनता पर वेदान्त की जो अमिट छाप दिखाई पड़ती है उस सबका श्रेय आचार्य शंकर के मौलिक दार्शनिक चिन्तन को ही है।[1] अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा से आचार्य शंकर ने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है जो न एकदम भौतिकवाद है, न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद।[2] इससे आचार्य शंकर के दार्शनिक चिन्तन की सक्षमता, मौलिकता तथा प्रखरता स्पष्ट हो जाती है। इसी दार्शनिक प्रतिभा के कारण शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों में गाम्भीर्य, औदार्य तथा विलक्षणता के दर्शन होते हैं। उनके शैक्षिक विचारों एवं मान्यताओं तथा सिद्धान्तों में उनकी दार्शनिक प्रतिभा की छाप स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है। अतः यदि दार्शनिक प्रतिभा एवं मौलिक चिन्तन को शिक्षा शास्त्री का आधारभूत गुण माना जाता है तो स्वामी शंकराचार्य को शिक्षा-शास्त्री के रूप में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना को पढ़ने पर यह कहा जा सकता है कि भले ही आचार्य शंकर में दार्शनिक चिन्तन की प्रखरता तथा मौलिक प्रतिभा का पूर्ण विकास था किन्तु शिक्षा-शास्त्र पर उन्होंने कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा है। इसलिए उन्हें शिक्षा-शास्त्री के रूप में मान्यता देना कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। प्रथमतः तो शंकराचार्य के समय में शिक्षा-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप में आधुनिक युग की भाँति विकास नहीं हुआ था अन्यथा आचार्य शंकर अपने शैक्षिक विचारों को स्वतन्त्र रूप में भी प्रस्तुत कर सकते थे। जिस व्यक्ति ने इतनी उच्च शिक्षा-व्यवस्था का निर्माण किया हो, जिसकी परम्परा आज भी सजीव रूप में विद्यमान है, उसके लिए शिक्षा-शास्त्र पर एक दो ग्रन्थ लिख देना कोई कठिन कार्य नहीं था। पश्चिम में प्लेटो को उच्च कोटि का शिक्षा-शास्त्री माना जाता है किन्तु उन्होंने शिक्षा-शास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा है बल्कि 'रिपब्लिक' में ही शिक्षा सम्बन्धी विचारों को प्रकट किया है। इसी प्रकार भारत में महात्मा गाँधी और स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा पर अपना लिखा हुआ कोई ग्रन्थ नही है। उनके प्रवचनों के आधार पर उनकी शैक्षिक विचार-धाराओं को प्रस्तुत कर उन्हें शिक्षा-शास्त्री के रूप में मान्यता देना स्वीकार किया गया है। इन ठोस प्रमाणयुक्त तथ्यों के आधार पर आचार्य शंकर को मात्र शिक्षा-शास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखने के कारण शिक्षा-शास्त्रियों की श्रेणी में न

---

1. Das Gupta. S. N.—*Indian Philosophy*, Vol. I, Cambridge, London, Third Edition, P. 429.
2. डा० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पृ० 6।

माना जाना न्यायसंगत एवं न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। द्वितीयतः आचार्य शंकर का चिन्तन समग्र रूप में हुआ है। अतः उनके चिन्तन में धर्म, संस्कृति, समाज, अध्यात्म तथा शिक्षा आदि का एक साथ समावेश दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः आचार्य शंकर को इतना महनीय एवं गुरुत्तम कार्य करना था कि वह जीवन के समस्त क्षेत्रों को एक साथ लेकर कार्य करने में प्रवृत्त हुए थे। इसीलिए पृथक् रूप से शिक्षा पर उन्हें किसी पृथक् ग्रन्थ रचना की आवश्यकता ही अनुभव नही हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर ने भले ही शिक्षा-शास्त्र पर किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना न की हो किन्तु उनकी दार्शनिक प्रतिभा तथा मौलिक चिन्तन की सक्षमता इतनी उच्चकोटि की है कि उन्हें शिक्षा-शास्त्री से रूप में मान्यता देने में किसी को तनिक भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

किसी भी शिक्षा शास्त्री के लिये मौलिक प्रतिभा तथा दार्शनिक चिन्तन की सक्षमता का ही प्रदर्शन करना पर्याप्त नही होता है। कोई भी दार्शनिक केवल अपने सक्षम चिन्तन के बल पर सफल शिक्षा-शास्त्री नही हो सकता है। ऐसे चिन्तक एवं विचारक आचार्य शंकर के समय मे भी अवश्य रहें होगे जिनका नाम भी आज कहीं कोई नहीं जानता है किन्तु आचार्य शंकर की प्रसिद्धि शताब्दियाँ व्यतीत होने पर भी आज तक अक्षुण्ण है। शिक्षा शास्त्री मे निश्चित ही उपर्युक्त गुणो के साथ अन्य ऐसी विशेषताएँ भी होनी चाहिएँ जो उसे युग-युगों तक चिरस्मरणीय बना दे। यह विशेषता है—काल-निरपेक्ष-सिद्धान्तों की स्थापना। जो दार्शनिक ऐसे सिद्धान्त देता हैं जिनका प्रभाव समाज पर चिरस्थायी होता है तथा जो जन सामान्य को युग-युगों तक प्रेरणा देते रहते है, वह उच्चकोटि का शिक्षा-शास्त्री होता है। प्लेटो, रुसो, तथा ड्यूवी आदि ने केवल अपने युग तक सीमित रहने वाले सिद्धान्तो का प्रतिपादन नहीं किया है। शिक्षा में 'सत्यं', 'शिव', 'सुन्दरं' की प्लेटो की कल्पना आज भी प्रेरणादायी है। रुसो का 'प्रकृति की और प्लेटो' वाला नारा शिक्षा के विचारको को चिरकाल से मार्ग दर्शन दे रहा है। और ड्यूवी का शिक्षा में 'सामाजिक कुशलता' का सिद्धान्त दिन प्रतिदिन महत्त्व प्राप्त करता जा रहा है। इसी प्रकार महात्मा गाँधी की क्राफ्ट केन्द्रीय शिक्षा की कल्पना में सुदूर भविष्य की सुख-समृद्धि का स्वप्न निहित है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी भी शिक्षा शास्त्री के सिद्धान्त, मान्यताएँ एवं स्थापनाएँ क्षण स्थायी नहीं होनी चाहियें। उनमें काल के कराल आघात को सहन करने की पर्याप्त क्षमता होनी चाहिये। देश काल की सीमा का उलंघन करके जो सिद्धान्त स्थिर रहते है वस्तुतः वे ही श्रेष्ठ शिक्षा का दर्शन का निर्माण कर पाते है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी आचार्य शकर सर्व श्रेष्ठ शिक्षा-शास्त्रियों की श्रेणी में आते है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं आदर्शो का प्रभाव देशकाल की सीमा का उलंघन कर सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक बन गया है। उनका अद्वैतवाद आज भी जन-जन का सम्बल बना हुआ है। उनका ब्रह्मात्मवाद इस युग मे भी एकता, प्रेम, सहानुभूति सौजन्य को स्थापना मे मानव जाति को उत्प्रेरित कर रहा है। अतः यह कहना अति-

शयोक्ति नहीं है कि विश्व में सम्भवतः इतना प्राचीन शिक्षा दार्शनिक शंकर के अतिरिक्त अन्य न हो जिसने सहस्रों वर्ष व्यतीत होने पर भी अगणित लोगों के जीवन-दर्शन को प्रभावित किया हो।[1]

उपर्युक्त विवेचना से आचार्य शंकर का एक सफल एवं प्रभावशाली शिक्षा-शास्त्री होना स्पष्ट ही है। उनके दार्शनिक चिन्तन एवं शिक्षा-दर्शन के चिरस्थायी प्रभाव की समीक्षा करते हुये डॉ० राधा कृष्णन् के ये उद्गार उल्लेखनीय है—"एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप मे सर्व श्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने मे तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप मे महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी। बारह शताब्दियाँ व्यतीत हो गई किन्तु आज भी उनका असर देखा जा सकता है।"[2] इतना ही नही आचार्य शंकर का अद्वैत सिद्धान्त आधुनिक युग के महान् विचारक विवेकानन्द, अरविन्द, टैगोर तथा महात्मा गाँधी की विचारधारा का आधार रहा है। महात्मा गाँधी स्वयं कहते थे "मै अद्वैत में विश्वास करता हूँ। मैं मनुष्य की अनिवार्य एकता तथा उसके लिये समस्त प्राणियों की एकता में विश्वास करता हूँ।"[3] इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द का यह कथन अद्वैतवाद की महत्ता प्रकट करता है–"फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ, क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान् को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नहीं हो सकता-उसी प्रेम की पताका फहराओ।"[4] इस प्रकार हम देखते है कि शंकराचार्य ने जिस महान् अद्वैत सिद्धान्त की आज से हजारों वर्ष पूर्व स्थापना की थी वह न केवल अतीत एवं वर्तमान में ही उपादेय रहा है वरन् भविष्य में भी उसके प्रचारित तथा प्रसारित होने की उज्जवल सम्भावनाएँ है। अतः आचार्य शंकर ने उच्चकोटि का शिक्ष शास्त्री मानने में किसी को तनिक भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

शिक्षा शास्त्री शिक्षा के हर पहलु पर विचार करता है। उसके लिये शिक्षा

---

1. "आदि शंकराचार्य की कल्पना के अनुरूप इतिहास के एक लम्बे अन्तराल के बाद देश के विभिन्न भागों से भारी संख्या में जनसमुदाय कुम्भनगर (प्रयाग) की ओर उमड़ता चला आ रहा है।"—कुम्भपर्व के स्नान के सन्दर्भ में प्रकाशित समाचार (नव भारत टाइम्स, टाइम्स आफ इन्डिया प्रेस, प्रकाशन, नई दिल्ली, (13–1–1977) से उद्धृत।
2. डा० राधा कृष्णन्–भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 660।
3. Gandhi, M. K. *Young India* ,25. 9. 24.
4. विवेकानन्द संचयन–श्री राम कृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 235।

पर समग्र रूप से विचार करना ही जीवन का महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है। अतः वह शिक्षा के हर पहलू का विश्लेषण करता है। शिक्षा का स्वरूप, उसके उद्देश्य, उनका पाठ्यक्रम, उसकी शिक्षण विधियाँ, अध्यापक-विद्यार्थी संगठन एवं प्रशासन तथा अनुशासन आदि ऐसे बहुत से शिक्षा के अंग हैं जो शिक्षा-शास्त्री की पैनी दृष्टि से अछूते नही रह पाते है। वस्तुतः शिक्षा के समस्त अंगों पर ही विचार करने से किसी सुव्यवस्थित तथा सुविकसित शिक्षा-दर्शन का निर्माण हो पाता है। प्लेटो, रूसो, पेस्टालॉजी तथा ड्यूवी आदि पश्चिमी शिक्षा दार्शनिकों ने शिक्षा के समस्त अंगों पर अपने विचार प्रकाशन कर जिन महत्त्वपूर्ण शिक्षा-दर्शनों-आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद को जन्म दिया है वे उनके शिक्षा सम्बन्धी समग्र चिन्तन का परिचय देते है। विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी तथा टैगौर की शिक्षा-प्रणालियों के अध्ययन से भी यही पता चलता है कि शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र का चिन्तन करने के फलस्वरूप ही ये शिक्षाविद् ऐसा सर्वाङ्गीण शिक्षा-दर्शन विकसित कर पाये जो भारतीय शिक्षा-जगत् की महान् उपलब्धि है।

विगत अध्यायों की पृष्ठ-भूमि में यह तथ्य स्वतः स्पष्ट होता है कि आचार्य शंकर ने शिक्षा के सभी अंगों पर अपने विचार प्रकट किये है। शिक्षा का कोई अंग उनके चिन्तन से बचा नही है। उनके भाष्यग्रन्थो तथा प्रकरण ग्रन्थो के अध्ययन से स्पष्ट तथा विदित होता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचारों की स्पष्टता, सरलता तथा बोधगम्यता उच्चकोटि की है। उनके ग्रन्थों मे शिक्षा का स्वरुप, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षण विधियाँ, पाठ्यक्रम, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध तथा अनुशासन और धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा इत्यादि सभी के विषय मे पर्याप्त समृद्ध चिन्तन मिलता है। अतः शिक्षा सम्बन्धी विचारों की उच्चता, चिन्तन की प्रखरता एवं मनन की उत्कृष्टता के कारण आचार्य शंकर को महान् शिक्षा-दार्शनिक मानना तथ्यों की उपेक्षा नहीं होगी।

शिक्षा शास्त्रियों ने सदैव मानव जाति को ऐसे विशिष्ट सन्देश दिये है जिनका सम्बल पाकर निराशा एव दुरवस्था के गर्त में पतित हुई मानवता ने अपने कल्याण पथ का अनुसंधान किया है। नाना प्रकार के अत्याचारो, बलात्कारो तथा उत्पीडनो से जब मनुष्य संत्रस्त हो जाते है तब भगवान् श्री कृष्ण का यह आश्वासन कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब मै अवतार रूप में प्रकट होता हूँ[1]—इस बात का द्योतक है कि मानवता को आशा, उत्साह, प्रेम,

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता (4-7)

सहानुभूति एवं सहयोग का सन्देश देने वाले महापुरुषों की परम्परा का विश्व के इतिहास में विशिष्ट स्थान है।

पेस्टालॉजी ने अशिक्षित एवं अज्ञानी जनता के लिये शिक्षा से मानवता के उद्धार का सन्देश दिया था। हरबर्ट ने शिक्षा द्वारा नैतिक बनने का सन्देश देकर मानव जाति को शिक्षा का एक नया अर्थ प्रदान किया था। इसी प्रकार अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री ड्यूवी ने शिक्षा को सामाजिक कुशलता का साधन बताकर शिक्षा में समाजवादी विचारधारा का प्रवर्तन किया था। उसके इस प्रयास से व्यक्ति और समाज को एक दूसरे का अविरोधी मानकर परस्पर सहयोगी स्वीकार किया जाने लगा। इस प्रकार ड्यूवी का शिक्षा में समाजवादी पक्ष का समावेश करना एक नया सन्देश था जिसने शिक्षा को समाजोन्मुख बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। आचार्य शंकर ने एकता का सन्देश आज से हजारों वर्ष पूर्व मानव-जाति को दिया था। यद्यपि एकता का सिद्धान्त शंकर से पूर्व भी प्रचलित था तथापि शंकर ने जितने प्रभावशाली एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से उसे प्रस्तुत किया उतना उनसे पहले अथवा उनके बाद अन्य कोई विचारक न कर सका। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त की जितनी लोकप्रियता एवं प्रभावशालिता है उतनी अन्य किसी सिद्धान्त की नहीं है। आचार्य शंकर की स्पष्ट घोषणा है कि एकता सत्य है और अनेकता असत्य है।[1] एकता ही ज्ञान है और विविधता अज्ञान है। उनके अनुसार समस्त जगत् में एक ही आत्मा की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है जिसे भ्रमवश मनुष्य ऐक्य के रूप में न देखकर अनेक रूपों में देखता है। यही सबसे बड़ा बन्धन है और एकता की अनुभूति ही मुक्ति है। इस प्रकार आचार्य शंकर ने एकता का ऐसा आधार-भूत सन्देश मानव जाति को दिया है जो हर युग में कमनीय रहा है। इसी से मानव समाज में सहयोग, सहानुभूति सामन्जस्य एवं समता का विकास होता है। इसीलिये आचार्य शंकर ऐसे शिक्षा शास्त्री हैं जिन्होने मानव की मूल-भूत आवश्यकता-एकता को पहचाना और उसी के लिये जीवन भर कार्य करते रहे।

शिक्षा शास्त्री शिक्षा की भावी योजना भी प्रस्तुत करता है। प्लेटो, रूसो तथा ड्यूवी आदि पश्चिमी शिक्षा-दार्शनिकों ने अपने-अपने अनुसार शिक्षा की योजना प्रस्तावित की है। विवेकानन्द, अरविन्द, टैगौर तथा महात्मा गाँधी आदि भारतीय शिक्षा शास्त्रियों ने भी अपनी विचारधारा के अनुरूप शिक्षा योजना प्रस्तुत की है। गाँधी जी की शिक्षा योजना तो 'बेसिक शिक्षा' के नाम से सारे देश में सुविख्यात ही है। आचार्य शंकर भी इसका अपवाद नहीं हैं। उन्होंने जो शिक्षा योजना अपने जीवन-काल मे बनाई थी वह आज भी उसी रूप में दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने

1. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरणग्रन्थ संग्रह: सम्पादक-एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 48।

अद्‌वैतवेदान्त की शिक्षा का प्रसार करने के लिये देश में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम (चारों दिशाओं) में चार मठों की स्थापना की। जवाहरलाल नेहरु के शब्दों में, "अपने मठों अथवा अपने सम्प्रदाय के संन्यासियों के प्रधान केन्द्रों के लिये भारत के चारों कोनों का शंकर का चयन यह प्रकट करता है कि वह भारत को किस प्रकार एक सांस्कृतिक इकाई मानते थे।"[1] ये चारों पीठ उनकी शिक्षा योजना के ही अंग हैं। इनके द्वारा वह वेदान्त की शिक्षा को जन शिक्षा का रूप देना चाहते थे और आधुनिक काल में स्थापित विश्व-विद्यालयों की भाँति युग-युगों तक शिक्षा केन्द्रों के रूप में इनका विकास करना चाहते थे। यही कारण है कि आज भी ये चारों पीठ वेदान्त की शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० राममूर्ति शर्मा का यह कथन समीचीन होगा—"भारतीय दर्शन के अध्ययन एवं मनन के रूप में आज भी ये मठ पूर्णरूप से सहायक हो रहे है। मेरा विचार तो यह है कि किसी दार्शनिक द्वारा अपने धर्म-दर्शन के प्रचार के लिये ऐसा कार्य भारत ही नही विश्वभर मे अद्वितीय है।[2]" इस प्रकार आचार्य शंकर की कल्पना में राष्ट्रीय एकता तथा शिक्षा प्रसार की योजना दोनों ही थीं जब उन्होंने इन चारों पीठ की स्थापना की थी। अत: इन मठों की व्यवस्था पर संक्षेप में विचार करना अप्रासंङ्गिक नही होगा क्योंकि इसी से उनकी शिक्षा की भावी योजना का पता चल सकेगा।

वैदिक वाङ्मय में चारों दिशाएँ निश्चित हैं। ऋग्वेद की दिशा पूर्व, यजुर्वेद की दिशा दक्षिण, सामवेद की पश्चिम और अथवेद की उत्तर निश्चित है। शंकराचार्य ने इसी के अनुसार चारों मठों को स्थापना की जिनमें से प्रत्येक मठ का एक वेद, एक महावाक्य, एक आचार्य और कार्य क्षेत्र आदि निश्चित किये गये हैं। मठों का पूर्ण विवरण आचार्य शंकर प्रणीत 'मठाम्नाय' ग्रन्थ मे मिलता है। ये चारों पीठ निम्नलिखित हैं :—

1. ज्योतिर्मठ—उत्तर में बदरिकाश्रम क्षेत्र में स्थित है। यहाँ के प्रथम आचार्य 'तोटक' थे। यहाँ का महावाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्योपनिषद्-2) है। वेद अथवेद है। इसका कार्य क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग, कुरु (हरियाणा) तथा कश्मीर आदि है।

2. शृंगेरी पीठ :—दक्षिण में मैसूर राज्य में स्थित है। रामेश्वर क्षेत्र है। वेद यजुर्वेद है। प्रथम आचार्य सुरेश्वर हैं। महावाक्य–'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यको-

---

1. Nehru, J. L. *Glimpses of world History*, Letter–44–Lindsay Drunamond Limited, 2– Guilford Place, London, W. C. I., p. 129.
2. डा० राममूर्ति शर्मा-शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ शहर, पृ० 6।

पनिषद्-1-4-10) है। कार्यक्षेत्र में आन्ध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा केरल आदि सम्मिलित हैं।

3. गोवर्धन पीठ :—जगन्नाथपुरी मे स्थित यह पुरुषोत्तम क्षेत्र का पीठ है। प्रथम आचार्य पद्मपाद हुए हैं। ऋग्वेद यहाँ का वेद है। महावाक्य–'प्रज्ञान ब्रह्म' (ऐतरेयोपनिषद्-5) है। अंग, वंग (बंगाल), कलिंग, उत्कल और मगध इसके क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

4. शारदामठ :—पश्चिम दिशा में द्वारिका क्षेत्र का पीठ है। प्रथम आचार्य हस्तामलक थे। सामवेद इसका वेद है। 'महावाक्य–तत्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद्-6-8-7) है। इसका कार्य-क्षेत्र है—सिन्धु, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, आदि।

मठों की उपर्युक्त व्यवस्था को देखने से पता चलता है कि आचार्य शंकर ने वेदान्त की शिक्षा एवं वैदिक सनातन धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिये एक सुचारू योजना का निर्माण किया था। इसी कारण उन्होंने अपने समय मे ही उपर्युक्त चारों पीठों पर अपने चार प्रमुख शिष्यों–तोटक, पद्मपाद, हस्तामलक तथा सुरेश्वर को आसीन कर दिया था जिससे वे उनकी देख-रेख में पीठ का कार्य संचालन भली-भाँति करने का प्रशिक्षण प्राप्त कर लें। सभी पीठाधीशों को शंकराचार्य कहा जाता है।[1]

इन पीठों की कार्य प्रणाली तथा पीठासीन आचार्य के कर्त्तव्य तथा अधिकार का निरुपण आचार्य शंकर ने 'महानुशासन' में किया है। उन्होंने लिखा है -"ये आचार्य भूतल पर सदा भ्रमण किया करें। लोग वेद विरूद्ध धर्म का आचरण कितना कर रहे है इस बात की जानकारी के लिये उन्हें चाहिये कि अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण किया करें। अपने धर्म का विधिवत् पालन करे। किसी प्रकार अपने धर्म का निषेध न करे। अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये उन्हे अच्छी प्रकार भ्रमण करना चाहिये। मठ में आचार्य को नियमित रूप से कभी वास नही करना चाहिये। हम लोगों ने वर्णाश्रम के जिन सदाचारों को शास्त्र द्वारा उचित रीति से सिद्ध कर दिया है, उनकी रक्षा विधि पूर्वक अपने-अपने भागों मे करे।"[2]

इस लोक में धर्म का नाश विशेष रूप से होता जा रहा है। इसलिये आलस्य छोड़कर उद्योग शील होना चाहिये। एक दूसरे के भाग में कभी प्रवेश नही करना

---

1. "चारों शंकराचार्यों के मठों की स्थापना आज से 1200 वर्ष पूर्व आदि शंकराचार्य ने पूरे देश में हिन्दु धर्म के समुचित उत्थान के लिये की थी।" नवभारत टाइम्स (20-1-1977) कुम्भ पर चारों शंकराचार्य उपस्थित शीर्षक से प्रकाशित समाचार से उद्धृत-टाइम्स आफ इन्डिया प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. श्री बलदेव उपाध्याय कृत-श्री शंकराचार्य-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, के पृष्ठ 238 पर उल्लिखित 'महानुशासन' से उद्धृत।

चाहिए। आपस में मिलजुलकर धर्म की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। मर्यादा यदि नष्ट हो जायेगी तो समस्त विषय भी लुप्त जायेंगे। सर्वत्र कलह की वृद्धि होगी अतः कलह की वृद्धि को सर्वदा रोकना चाहिये। संन्यासी को चाहिए कि मेरी मर्यादा का भली-भाँति पालन करे तथा चारों पीठों की सत्ता और अधिकार अलग-अलग बनाये रखें।[1] "आचार्य शंकर की इस व्यवस्था में पीठ का स्वरूप एक शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रकट होता हैं। वर्तमान युग में जिस प्रकार विश्वविद्यालयों के कार्य-क्षेत्र एवं कार्य प्रणाली निर्धारित होती है उसी प्रकार पीठों के कार्यक्षेत्र और कार्य प्रणाली को आचार्य शंकर ने निर्धारित किया था। इतना ही नहीं, जिस प्रकार विश्वविद्यालय के कुलपति की योग्ताएँ होती हैं उसी प्रकार पीठासीन शंकराचार्यों की योग्यताओ का भी वर्णन महानुशासन में मिलता है—"पवित्र, इन्द्रियो को जीतने वाला, वेद-वेदाङ्ग का विद्वान् योग्य तथा सब शास्त्रों को भली-भाँति जानने वाला व्यक्ति ही मेरे स्थान को प्राप्त करे। इन लक्षणों से सम्पन्न होने वाला पुरुष मेरे पीठ का अधिकारी हो सकता है। यदि इन गुणों से विहीन हो और वह पीठ पर आरुढ हो गया हो तो विद्वानों को चाहिये कि उसका निग्रह करें।"[2]

अपनी शिक्षा योजना में आचार्य शंकर ने संन्यासी समाज का भी निर्माण किया जिससे त्यागी-तपस्वी-वैरागी व्यक्ति शिक्षा के कार्य के लिए मिल सकें। अतः हरिहरस्वरूप विनोद का यह निष्कर्ष समुचित प्रतीत होता है कि—आद्य शंकराचार्य ने जब सत्य सनातन धर्म के पुनरुद्धार का कार्य आरम्भ किया तब उन्होंने परमहंस दशनाम सन्यासी समाज का संगठन किया। इस समाज के त्यागी, तपस्वी, ध्येयनिष्ठ एवं कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों द्वारा उन्होंने लोगों में अच्छे संस्कार डालने की परम्परा का श्रीगणेश किया।[3] आचार्य शंकर ने जिस शिक्षा व्यवस्था को हजारों वर्ष पूर्व स्थापित किया था उसकी महान् परम्परा का अद्यतन यथावत् रूप में चला आना उनको एक महान् शिक्षा दार्शनिक सिद्ध करने का प्रबल प्रमाण है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि आद्य जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य विश्व के महान् शिक्षा दार्शनिकों मे अनन्यतम हैं।

आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन

आचार्य शंकर की अवतारणा आज से हजारों वर्ष पूर्व ऐसे समय में हुई थी

---

1. व 2. श्री बलदेव उपाध्यायकृत श्री शंकराचार्य-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद 1963 के पृष्ठ 238 पर उल्लिखित 'महानुशासन' से उद्धृत।
3. हरिहरस्वरूप विनोद—"दशनाम नागा संन्यासियों के अक्षाडों की परम्परा," नवभारत टाइम्स, टाइम्स आफ इण्डिया-प्रेस प्रकाशन, नई दिल्ली (13–1–1977) पृ० 5।

जबकि आधुनिक शिक्षा शास्त्र का जन्म भी नहीं हुआ था। तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर शंकर ने अपनी दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शैक्षिक विचारधारा को जन्म दिया था। हजारों वर्ष पूर्व प्रारम्भ एवं विकसित हुए उनके जीवन-दर्शन में आधुनिक युग के लिए भी सन्देश छिपा हुआ है क्योंकि आचार्य शंकर उन महान् मानवों में अग्रगण्य हैं जो केवल वर्तमान में ही जीवित नहीं रहते हैं वरन् भविष्य को भी अपने चिन्तन-मनन तथा विचार से प्रेरणा देकर जीवित रखते है। ऐसे विचारक वस्तुत: मानव जाति के उद्धारक होते है। उनके कृत्य विश्व की अमूल्य निधि होते हैं। उनकी वाणी की गूँज युगयुगों तक मानव-मस्तिष्क में गूँजती रहती है। उनके विचारों की झंकार मानव-मन को सदा झंकृत करती रहती है। उनका विचार-दर्शन इतनी उच्चकोटि का होता है कि उसमें अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् का सामयिक एवं उचित सामन्जस्य मिलता है। आचार्य शंकर ऐसे युगपुरुष थे जिनका दार्शनिक चिन्तन देशकाल से अतीत था। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-दर्शन का महत्त्व न केवल तत्कालीन मानव समाज तक ही सीमित रहा वरन् आधुनिक युग में भी उसका महत्त्व एवं उपयोगिता विद्यमान है। आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन के मूल्यांकन से हमें वह दिशा मिल सकेगी जिस पर चलकर आधुनिक शिक्षा-शास्त्र विश्व-मानव-समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेगा।[1] शैक्षिक मूल्यांकन करते समय हमें शिक्षा के आधार—दार्शनिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक और शिक्षा के विभिन्न पक्ष-स्वरूप, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षा विधि तथा अनुशासनादि की दृष्टि से विचार करना होता है। यहाँ हम क्रम से विचार करना समीचीन समझते हैं—

1. शिक्षा के आधारों की दृष्टि से मूल्यांकन—

(क) **दार्शनिक**—दर्शन शिक्षा का आधार होता है। शिक्षा की प्रगति उसके दर्शन में निहित होती है। शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक रूप होती है। जेम्स आर० एम० ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"इस पुस्तक का प्रयोजन इस सिद्धान्त का विस्तार है कि शिक्षा-दर्शन का गत्यात्मक पक्ष है।"[2] शिक्षा दर्शन का कभी साथ नहीं छोड़ सकती है। प्राचीनकाल से ही शिक्षा और दर्शन का प्रगाढ सम्बन्ध रहा है। अत: दर्शन को शिक्षा की आधारभूमि मान लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक युग की दार्शनिक विचारधारा तत्कालीन शिक्षा को प्रभावित करती रही है। आधुनिक युग का दार्शनिक चिन्तन मानवतावादी है। मनुष्य को सब प्रकार से सुख-सुविधा

---

1. डा० राधाकृष्णन्–भारतीय दर्शन–2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1969, पृ० 660।
2. *Ross* S. James, *Ground work of Educational Theory,* George G. Harrap & Co, p. 22.

सम्पन्न बनाना ही आधुनिक विचारकों के चिन्तन का मुख्य लक्ष्य है। स्वामी विवेकान्द का कथन है—"हम 'मनुष्य' बनाने वाले सिद्धान्त चाहते हैं। हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रो मे 'मनुष्य' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं।"[1] इस प्रकार मानवतावाद इस युग की प्रधान विचारधारा होने से शिक्षा का उद्देश्य मानव-निर्माण हो गया है किन्तु आज का मनुष्य भयंकर असन्तोष एवं क्षोभ से जर्जर होकर मानसिक कुण्ठाओं का शिकार होता जा रहा है। उसमें सहिष्णुता, सहानुभूति तथा उदारता का लोप होता जा रहा है। परस्पर घृणा, द्वेष तथा अनावश्यक आसक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण आधुनिक मनुष्य विनाश की ओर द्रुतगति से जा रहा है। अतः विज्ञान की प्रगति से प्राप्त अपार सुख-समृद्धि का उपभोग करते हुए भी पाश्चात्य देशों का मानव अशान्त होकर शान्ति की खोज में इधर-उधर भटक रहा है। आज मनुष्य के मन में एक विचित्र बेचैनी आन्दोलित हो उठी है जिसके कारण मनुष्य का चैन और सुख तिरोहित हो गया है। ऐसी स्थिति में मानवतावाद का विचार कैसे पुष्पित-पल्लवित होकर क्रियान्वित हो? यही आधुनिक शिक्षा का मुख्य चिन्तन होना चाहिए। हम शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक सुख, ऐश्वर्य आदि की वृद्धि का विचार दीर्घकाल से कर रहे है किन्तु आज इस भौतिकवादी विचारधारा को छोड़कर आध्यात्मवादी विचार-दर्शन का मनन करने का समय आ गया है।[2] आचार्य शंकर का शिक्षादर्शन हमें एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है जिसमे मनुष्य मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी सुखी, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे।[3] आचार्य शंकर ने अपने शिक्षा दर्शन को आध्यात्मिक विचारधारा पर आधारित कर मनुष्य को आन्तरिक रूप से स्वच्छ एवं निर्मल बनाने पर बल दिया है।[4] डा० राधाकृष्णन् के अनुसार मनुष्य कोई पौधा या पशु नहीं है, बल्कि एक चिन्ततशील और आध्यात्मिक प्राणी है जो अपनी प्रकृति को उच्चतर प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नियोजित करता है।[5] इस प्रकार आधुनिक युग में शिक्षा के दार्शनिक आधार पर शाँकर शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन करने से उसका महत्त्व एवं उपादेयता का प्रकटीकरण होता है।

---

1. स्वामी विवेकानन्द–शिक्षा—श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० 7।
2. डा० राधाकृष्णन्–प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 31।
3. श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा०(2–65), वही, पृ० 70।
4. श्री शंकराचार्य—प्रश्नोत्तरी, वही, पृ० 10।
5. डा० राधाकृष्णन्—प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड़ सन्स, दिल्ली, पृ० 52।

(ख) **सामाजिक**—आज शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है। समाज अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा का सहारा लेता है और उससे वह सब प्राप्त करता है जो उसको मान्य होता है और जिसकी आवश्यकता वह अनुभव करता है। प्रत्येक समाज अपनी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल ही शिक्षा की व्यवस्था करता है। दूसरी ओर शिक्षा समाज को प्रभावित करती है। शिक्षित मनुष्य का व्यवहार परिवर्तित होता है, उसके विचार बदलते है, वह अनुभव करता है और निर्णय लेता है। कभी-कभी एक व्यक्ति ही आचार्य शंकर, महात्मा-तुलसीदास तथा महात्मा गाँधी की भांति पूरे समाज को बदल डालता है। शिक्षा के अभाव में यह सब सम्भव नहीं हो सकता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज शिक्षा का एक सबल आधार होता है। इसीलिए प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षाशास्त्री ड्यूवी ने समाज को शिक्षा के महत्त्वपूर्ण ध्रुव रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार शिक्षा समाज को और समाज क्षिक्षा को प्रभावित करता है। आधुनिक युग में शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन मानकर प्रत्येक देश शिक्षा की उन्नति पर बल दे रहा है : आज शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण व्यक्ति के सन्दर्भ से हटकर समाज के सन्दर्भ में हो रहा है। नागरिकों को विनीत बनाना और उनकी बुद्धि को सुसंस्कृत कर समाज के निर्माण में लगाना आधुनिक युग में शिक्षा के उद्देश्य माने जाते हैं।[1] इससे अच्छे समाज का निर्माण करना और व्यक्ति एवं समाज के हितों मे सामन्जस्य स्थापित करना आज की शिक्षा के सामाजिक आधार है।

आज भारत में ही नहीं अपितु विश्व में विस्तीर्ण मानव समाज विभिन्न प्रकार की विविधताओं में विभाजित है। भारतीय समाज में जाति, उपजाति, धर्म, सम्प्रदाय, मत तथा पन्थ आदि के इतने प्रकार के भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं कि ऐक्य का सूत्र ढूँढना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आधुनिक विश्व-मानव-समाज में भी विभिन्न राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा, द्वेष एवं घृणा की भावनाएँ उग्ररूप धारण करती जा रही हैं। आर्थिक आधार पर विभक्त हुए विकसित देशों, अविकसित देशों और विकासशील देशों के इस कृत्रिम विभाजन ने विश्व में राष्ट्रों के मध्य तनाव, द्वेप तथा शीत-युद्ध उत्पन्न करने में सहयोग दिया है। आज मानव जाति का सबसे बड़ा अभिशाप है शक्ति सन्तुलन का भ्रष्ट होना। आर्थिक रूप से समृद्ध देशों के पास उपभोग करने के लिए आवश्यकता से अधिक सम्पन्नता है किन्तु अविकसित और अल्प विकसित राष्ट्रों के पास सर्वथा अभाव एवं कष्ट हैं। शक्ति सन्तुलन के भंग होने पर किसी भी समय मानव-समाज के विश्व-युद्ध की चपेट में आने की भविष्य में सम्भावनाएँ परिलक्षित हो रही है। अतः डा० राधाकृष्णन् का कथन

1. देखिए—परिशिष्ट सं०—एक।

इस सन्दर्भ में प्रस्तुत करना संगत होगा—"पृथिवी को जो वरदान प्राप्त हुए थे, वे आज ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, मूढ़ता और स्वार्थ के कारण अभिशाप में परिणत हो गए है। आज मनुष्य का जो रूप है, उसको देखते हुए लगता है कि वह जीने के योग्य नहीं है। उसे या तो परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए या विनाश का संकट मोल लेना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त अनपेक्षित सामाजिक परिस्थितियों एव प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन का मूल्य बढ जाता है। आचार्य शंकर का मूलभूत सिद्धान्त अभेदवाद है। उसमें किसी प्रकार की विभिन्नता, भेद अथवा पार्थक्य के लिए अवकाश नहीं है। मानव समाज में परस्पर स्नेह, सहानुभूति, सौजन्य एवं सामन्जस्य-स्थापना के लिए। घृणा आदि के आधारभूत तत्त्वों का निराकरण शांकर दर्शन मे किया गया है। "सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी दूपित पदार्थ को देखने वाले पुरुप को ही होती है। जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप को देखने वाला है, उसकी दृष्टि मे घृणा का निमित्तभूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं, यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसीलिए वह किसी से घृणा नही करता है।"[2] शांकर शिक्षा-दर्शन के आधार पर ऐसे मानव-समाज का निर्माण हो सकता है जिसमें समस्त मानव जाति अपने नाना प्रकार के भेदों को समाप्त करके [illegible] कर सकती है। इस कार्य को भगवान् शंकराचार्य के शिक्षा-दर्शन से प्रोत्साहन मिलेगा। इस सन्दर्भ में बलदेव उपाध्याय का कथन उपयुक्त होगा—"(शांकर) वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है—'वसुधैव कुटुम्बकम्' सम्पूर्ण संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना। आज क्षुद्र स्वार्थ की भावना से त्रस्त तथा परास्त मानव समाज के कल्याण के लिए वेदान्त की महनीय शिक्षा कितनी अमृतमयी है, इसे विशेप बताने की आवश्यकता नही। आज के पश्चिमी ससार विशेषतः अमेरिका में वेदान्त के प्रचुर प्रसार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छिपा है।"[3]

(ग) **मनोवैज्ञानिक**—आज की शिक्षा मनोविज्ञान से प्रभावित है। मनोविज्ञान के ज्ञान ने शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम (Curriculum), शिक्षण विधियाँ, अध्यापक और शिष्य के सापेक्षिक स्थान (Relative) एवं अनुशासन सम्बन्धी दृष्टि-

---

1. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ० 62।
2. ईशावस्योनिषद् (मं० 6 शां० भा०), वही, पृ० 27।
3 आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन शारदा मन्दिर, वाराणसी, पृ० 384।

कोण सभी कुछ बदल दिया है । आज शिक्षा के क्षेत्र में बालक को मुख्य स्थान दिया जाता है । पूरी शिक्षा का विधान बालक की शक्ति, रुचि, रुझान एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही किया जाता है । शिक्षा का यही मनोवैज्ञानिक आधार है । मनोविज्ञान ने शिक्षा की समस्त प्रक्रिया में आमूल परिवर्तन कर दिया है । इसलिए आज की शिक्षा बालकेन्द्रित हो गई है । शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास माना जाता है । शिक्षा की प्रक्रिया बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अनुसार चलाई जाती है । मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रभाव से पाठ्यक्रम में अनेक सुधार किये गये हैं और पाठ्यसहगामी (Co-curricullar) कार्यक्रमों का आयोजन किया गया है । अनुशासन की नई-नई मनोवैज्ञानिक विधियाँ निकाली गई हैं । अध्यापन विधियों में तो मनोविज्ञान ने एक सबल क्रान्ति का सूत्रपात किया है । मानसिक परीक्षण और निर्देशन (Mental test and guidance) मनोविज्ञान पर ही आधारित है । आज बालकों को सुधारने के लिये मनोवैज्ञानिक उपायों का सहारा लिया जाता है । संक्षेप में, मनोविज्ञान का आधार पाकर आधुनिक शिक्षा में शिक्षक को स्वयं को समझने, शिक्षार्थी को समझने, शिक्षण-विधियों में सुधार, मूल्यांकन और परीक्षण, पाठ्यक्रम में सुधार, व्यवस्थापन (Administration) और अनुसंधान, प्रयोग (Experiment) एवं अनुसंधान (Research) तथा कक्षा की समस्याओं का निदान (Diagnosis) तथा निराकरण में सफलता मिली है । इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में शैक्षिक सन्दर्भ के अन्तर्गत मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा दर्शन का जब हम मूल्याकन करते है तो हमें यही कहना पड़ता है कि शंकराचार्य के शैक्षिक विचारों का आधार अधिकांशतः दार्शनिक है मनोवैज्ञानिक नहीं । उनके प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार करते हुए डा० राधाकृष्णन् ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—"चूकि शकर ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय में विचार विमर्श नहीं किया है, हम उनके मत के विषय में कुछ नहीं कह सकते हैं ।"[1] किन्तु इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि शंकराचार्य ने जितना लिखा है वह सब अमनोवैज्ञानिक है, उनकी समस्त व्याख्याएँ, मान्यताएँ तथा सिद्धान्त मनोविज्ञान के प्रतिकूल हैं । उनके शिक्षा-दर्शन का आधार मनोवैज्ञानिक न होने के कई कारण हो सकते है । उनमें से एक कारण तो यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान इसी शताब्दी की देन है । अतः आज से 1200 वर्ष[2] पूर्व शंकराचार्य द्वारा आधुनिक मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंके आधार पर अपने सिद्धान्तों का निर्माण कैसे सम्भव हो सकता था ? इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि

1 डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2 राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ०482 ।

2. भारतीय मान्यता के अनुसार उनका समय लगभग 2500 वर्ष पूर्व है ।

से उनके शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन करना समुचित प्रतीत नहीं होता है। दूसरे आधुनिक मनोविज्ञान के विकसित होने से पूर्व इसका अध्ययन दर्शनशास्त्र के अंतर्गत होता था। उस युग में यह कोई पृथक् ज्ञान की शाखा नहीं थी। अतः प्राचीन विद्वानों के चिन्तन, मनन एवं विश्लेपण का प्रमुख आधार दार्शनिक ही रहा है। इस कारण शांकर शिक्षा-दर्शन का प्रमुख आधार दार्शनिक चिन्तन होने से उसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के उचित समावेश पर ध्यान न देना अस्वाभाविक नहीं था।

(घ) ऐतिहासिक :—प्रत्येक शिक्षा-दर्शन के विकास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्वामी दयानन्द के शिक्षा-दर्शन का ऐतिहासिक आधार वह इतिहास था जो उनके अवतीर्ण होने तक घटित हो चुका था। वेदों की उपेक्षा, स्त्रियों का अनादर, हरिजन जाति की दुर्दशा तथा स्वदेशी भाषा एवं आचार-विचार से घृणा का भाव भारतीय जनता में दीर्घकालीन परतन्त्रता का परिणाम था। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विकसित उनके शिक्षा-दर्शन में ऐसी शिक्षा-व्यवस्था पर बल दिया गया है जिसमें देश के अन्दर वेदों का प्रचार हो, स्त्रियों का सम्मान बढ़े, लोग स्वदेशी आचार-विचार का पालन करें और अपनी मातृभाषा संस्कृत अथवा हिन्दी का पठन-पाठन करें। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय समाज की दीनता, दरिद्रता, कुसंस्कारजन्य कायरता एवं आलस्य-प्रमाद को हटाने के लिये वेदान्त की शिक्षा का प्रतिपादन किया। उनके समय तक भारतीय जनता अंग्रेजी शासन से इतनी ऊब चुकी थी कि उसमें शौर्य, उत्साह तथा स्वकर्त्तव्य बोध सर्वथा लुप्त हो गये थे। ऐसी स्थिति में स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के माध्यम से देश के प्रसुप्त पुरुषार्थ को जागृत किया। महात्मा गांधी की बेसिक शिक्षा का आधारभूत दर्शन भारतीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही विकसित हुआ था। दीर्घ-कालीन विदेशी शासन ने समस्त राष्ट्र के स्वावलम्बन को नष्ट कर दिया था। सर्वत्र जनता में परावलम्बन ही दृष्टिगोचर होता था। जन सामान्य में निराशा, मानसिक कुण्ठा तथा उत्साहहीनता घर कर गई थी। महात्मा गांधी ने राष्ट्र की ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति देखकर लोगों को स्वावलम्बी बनाने के लिये बेसिक शिक्षा के विचार को जन्म दिया। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी शिक्षा-दर्शन के विकास में उसका ऐतिहासिक आधार होता है।

आचार्य शंकर ने शिक्षा-दर्शन का ऐतिहासिक आधार उनसे पूर्ववर्ती घटनाचक्र में निहित है। उनके आविर्भाव से पूर्व जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों ने वैदिक धर्म को ध्वस्तप्रायः कर दिया था। लोग वैदिक आचार-विचार का परित्याग कर स्वच्छन्द रूप से अमर्यादित जीवन यापन करने लगे थे। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा का वही कार्य होना चाहिए था जो शंकर ने किया। उन्होंने उपनिषदों (जो कि वेद का ही भाग हैं) पर अपने महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखकर लोगों को वेद के महत्त्व से परिचित कराया। गीता पर भाष्य लिखकर जनता में व्याप्त ग्लानि तथा अकर्मण्यता का शमन किया तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्य से लोगों की निराशा का प्रक्षालन किया। ऐसे

वातावरण में जबकि देश में चारों ओर अव्यवस्था, असन्तोष, अशान्ति, निराशा तथा भय का बोलबाला था, आचार्य शंकर के समक्ष वेदान्त की शिक्षा का प्रचार करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था क्योंकि वेदान्त के पठन-पाठन से ही व्यक्ति को आत्मविश्वास प्राप्त हो सकता था। उसमें निहित ब्रह्मभाव का जागरण हो सकता था। अतः अद्वैतवाद पर आधारित शिक्षा-दर्शन से एक ओर तो लोगों मे आशा, कर्मशीलता, साहस तथा आत्मविश्वास का उदय हुआ और दूसरी ओर समस्त समाज में ऐक्य का सूत्र स्थापित हुआ। आधुनिक काल में यद्यपि शिक्षा के वे ऐतिहासिक आधार नहीं हैं जो आचार्य शकर के शिक्षा दर्शन के विकास के समय थे तथापि उनके दर्शन का अवमूल्यन नही होता है क्योंकि उनका अद्वैत सिद्धान्त भले ही आधुनिक कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों से भिन्न दशाओं में विकसित हुआ हो तो भी उसकी मूल भावना (ऐक्य) का किसी युग में महत्व कम नहीं हो सकता है। इस प्रकार हमें यह कहने में कोई आपत्ति प्रतीत नही होती है कि शांकर शिक्षा दर्शन का मूलाधार अद्वैतवाद इतना सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित है कि उसमें युग-युगों तक लोगों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने की योजना है। इस सन्दर्भ में डा० राधाकृष्णन् के ये शब्द पठनीय हैं—"दर्शनशास्त्र मनुष्य जाति की विकासमान् भावना का व्यक्त रूप है और दार्शनिक विद्वान् इसकी वाणी हैं।"[1]

(2) शिक्षा के विभिन्न पक्षों की दृष्टि से मूल्याङ्कन :—

(क) शिक्षा का स्वरूप :—आचार्य शंकर के अनुसार आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया ही शिक्षा है।[2] अतः उनकी शिक्षा का स्वरूप आध्यात्मिक है। उनके अनुसार अध्यात्म से भिन्न कोई शिक्षा नहीं है।[3] शिक्षा की प्रक्रिया मुक्ति पर्यन्त चलती है। मनुष्य का अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानना उसकी वास्तविक शिक्षा है।[4] इसके लिए उसे गुरु (शिक्षक) की शरण में जाना होगा। गुरु शास्त्रानुसार उसे उपदेश देगा—तू वह (ब्रह्म) है[5] और शिष्य यह अनुभव करेगा—मे ब्रह्म हूँ।[6] इस समस्त प्रक्रिया को, जो शिक्षक के उपदेश से छात्र के अनुभव तक चलती है, स्वामी शंकराचार्य शिक्षा कहते है।[7] इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य शंकर के अनुसार

---

1. डा०राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन-2, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पृ०460।
2. "विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या।"—श्री शंकराचार्य-प्रश्नोत्तरी (श्लोक-11) वही, पृ०12।
3. देखिए परिशिष्ट सं०-3।
4. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (2-4-5), वही, पृ०552।
5. "तत्त्वमसि"—छान्दोग्योपनिषद् (6-8-16) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
6. "अहं ब्रह्मास्मि" बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
7. ब्रह्मसूत्र (1-3-5-19) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।

शिक्षा का एकमात्र आधार अध्यात्मवाद है। मनुष्य को अपने आध्यात्मिक विकास के लिये अवश्य ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक युग में भौतिकवाद का प्राधान्य होने से शिक्षा को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन माना जाता है। अतः आज की शिक्षा का स्वरूप भौतिक होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर की शिक्षा का अब कोई औचित्य नहीं रह जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है। आध्यात्मिकता का महत्त्व किसी भी युग में सर्वथा समाप्त नहीं होता है। जीवन-मूल्यों के निर्धारण में आध्यात्मिक दर्शन के महत्व को प्रायः शिक्षा-शास्त्री स्वीकार करते है—"मानव जीवन में जो वर्तमान संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है, उसका कारण यह है कि मानव-चेतना में आपत्काल उपस्थित हो गया है, संगठित एवं पूर्ण जीवन में न्यूनता आ गई है। लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि वे आध्यात्मिकता की उपेक्षा कर रहे है और बौद्धिकता को बढावा दे रहे हैं।"[1] उपर्युक्त कथन से आध्यात्मिकता का जीवन में महत्त्व प्रकट हो जाता है और शिक्षा में इसकी आवश्यकता भी अनुभव होने लगती है। सभी शिक्षा आयोगों ने विद्यालयों में नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा की संस्तुति की है।[2] इस प्रकार आचार्य शंकर की आध्यात्मिक शिक्षा के महत्त्व को एकदम आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ मे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(ख) शिक्षा के उद्देश्य :—आध्यात्मिक जीवन दर्शन से प्रभावित होकर आचार्य शंकर ने शिक्षा का मुख्य लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार[3] तथा मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार किया है।[4] वस्तुतः ब्रह्म और मोक्ष की एकरुपता होने से मोक्ष ही शिक्षा का प्रधान तथा एकमेव लक्ष्य सिद्ध होता है।[5] मोक्ष से तात्पर्य व्यक्ति का सर्वात्मभाव सम्पन्न होना है। इस सर्वात्मभाव के लिये व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में व्यक्ति की भेद बुद्धि का परिहार नहीं हो सकता है और

---

1 डा० राधाकृष्णन्—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 53।

2. "धार्मिक और नैतिक शिक्षण के सम्बन्ध में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने जो सिफारिश की है, उनके अनुसार अपने सीधे नियन्त्रण की सभी संस्थाओं मे नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा प्रारम्भ करने के लिये केन्द्रीय और राज्य सरकारें कदम उठायें।"—डा० डी० एस०कोठारी, शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, 1968, पृ०28।

3. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-1-1-1) वही, वाराणसी, पृ०29।

4. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (4-4-15) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०1153।

5. श्री शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी (श्लोक-11), वही, पृ०12-13।

भेदबुद्धि के रहते हुए व्यक्ति में सर्वात्मभाव का उदय नहीं हो पाता है।[1] सर्वत्र भेदभाव रहित होकर व्यक्ति का प्राणिमात्र के साथ प्रेम, सहानुभूति एवं समानता का व्यवहार करना शांकर शिक्षा का प्रधान लक्ष्य है। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर शिक्षा को केवल व्यक्ति के सुधार एवं उत्थान तक ही सीमित नहीं रखते हैं वरन् उनके अनुसार शिक्षा का सामाजिक लक्ष्य भी है। वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा के व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यों की परिकल्पना पृथक्-पृथक् की गई है। इस रूपमें यद्यपि शांकर शिक्षा के उद्देश्य नहीं मिलते हैं तथापि ब्रह्म-साक्षात्कारअथवा मुक्ति-प्राप्ति के उद्देश्यों मे व्यष्टि तथा समष्टि के सामन्जस्य का भाव निहित है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने अद्वैत भावना, धार्मिक भावना, वैराग्यमूलक जीवन तथा आत्मा एवं अनात्मा के विवेक को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर ऐसे शाश्वत सत्यों एवं मूल्यों की स्थापना की है जिनकी एच० एच० हार्न ने शब्दों मे कल्पना की है—"सत्य, सुन्दरता तथा शिवता जाति के आध्यात्मिक आदर्श है, इसी लिए शिक्षा का सर्वोच्च कार्य बालक का इन आवश्यक वास्तविकताओं से समायोजन करना है जिनका जाति के इतिहास ने प्रकटीकरण किया है।[2] "इसी प्रकार मानव-जीवन में एकता, समता, सत्यता, शील, स्थिति, अहिंसा, सरलता,[3] ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, सन्तोष तथा निष्कपटता[4] आदि के महत्त्व को स्वीकार कर आचार्य शंकर ने शिक्षा को मूल्योन्मुख करने का प्रयास किया है। इन जीवन-मूल्यों का हर युग में अपना महत्त्व रहता है। अतः मूल्यों की दृष्टि से शंकर शिक्षा दर्शन को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

(ग) पाठ्यक्रम—उद्देश्यों के अनुरूप पाठ्यक्रम होता है। शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति पाठ्य विषयों के द्वारा होती है। आचार्य शंकर ने शिक्षा के लिये शिक्षक और शिक्षार्थी के साथ पाठ्यक्रम की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार पाठ्यक्रम विविध विषयों वाला होना चाहिए। ब्रह्मविद्या के विद्यार्थियों को वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, षड्दर्शन तथा गीता एवं नास्तिक और आस्तिक विचारधारा का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान आवश्यक है। पाठ्यक्रम को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप माना गया है। विषयों के निर्धारण में एकीकरण के सिद्धान्त को

1. "ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।" माण्डूक्य कारिका (1-18)।
2. Horne, H. H. *The Philosophy of Education* revised edition, Harper & Brothers New York p. 102.
3. "बृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (4-4-9) वही, पृ० 1076।
4. [illegible] नुगृहीतः स एवं यावज्जोवव्रत धारणः···।" प्रश्नोपनिषद् (5-1) शां० भा० वही पृ० 82।

आचार्य शंकर ने स्वीकार किया है क्योंकि अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म केन्द्रीय बिन्दु है जिसके चारों ओर समस्त प्रक्रिया की योजना चलती है। व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से जब वह पाठ्यक्रम निर्धारण करते हैं तो उनका ध्यान पाठ्यविषयों की उपयोगिता (Utility) पर भी रहता है। इस प्रकार उपयोगिता के सिद्धान्त को भी उन्होंने पाठ्यक्रम-निर्माण में समुचित महत्त्व दिया है। मनुष्य में आध्यामिक वृद्धि के लिए उन्होंने पाठ्यक्रम में विविध विषयों का प्रावधान रक्खा है। इस प्रकार आचार्य शंकर के पाठ्यक्रम में अनेक गुणों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उनके पाठ्यक्रम में लचीलापन नहीं है। उसमें वेदशास्त्रों के अध्ययन का न कोई विकल्प है और न ही उनसे मुक्त होकर कोई व्यक्ति अपनी शिक्षा पूरी कर सकता है। इसी प्रकार अन्य आपत्ति यह भी हो सकती है कि उनके पाठ्यक्रम में तार्किक क्रम तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं दिखाई पड़ता है। इतना होने पर भी आचार्य शंकर ने जिस पाठ्यक्रम की परिकल्पना अपने शिक्षा-दर्शन में की है वह आधुनिक शिक्षा की दृष्टि से मूल्यवान ही कहा जा सकता है क्योंकि भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के अध्ययन द्वारा ही हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था का ठोस आधार प्राप्त कर सकते हैं। आचार्य शंकर ने इसीलिए पाठ्यक्रम में प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन को अनिवार्यरूप में निर्धारित किया है।

(घ) **शिक्षण विधियाँ**—आधुनिक शिक्षा शास्त्र में पाठ्यक्रम के अनुरूप शिक्षण विधियों की व्यवस्था पर बल दिया गया है। शिक्षण विधियों पर ही यह निर्भर करता है कि उनके द्वारा ज्ञान विद्यार्थी को सुलभ हो। वस्तुतः शिक्षण विधि ऐसा साधन होती है जिसके द्वारा शिक्षक एवं विद्यार्थी के मध्य सम्पर्क स्थापित होता है। आचार्य शंकर ने शिक्षणविधियों के निर्धारण में अपनी शिक्षा संकल्पना का अनुगमन किया है।

शांकर शिक्षा-दर्शन मे ब्रह्म की अवधारणा को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही समस्त शैक्षिक प्रक्रियाएँ प्रवर्तित होती रहती है। इस प्रकार ब्रह्म के एकमात्र प्राप्तव्य होने से ऐसी विधियों की आवश्यकता है जो इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हों। यह माना हुआ तथ्य है कि शिक्षा के उद्देश्य जितने श्रेष्ठ तथा उच्च होते है उनकी प्राप्ति के लिए उतनी श्रेष्ठ एवं उच्च शिक्षण-विधियों की आवश्यकता होती है। यदि हम ब्रह्म विचार, आत्मज्ञान तथा ईश्वर-प्राप्ति जैसे महान तथा श्रेष्ठ उद्देश्य को लेकर शिक्षा-दर्शन का विकास करते हैं तो निश्चितत: हमें प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों से हटकर ऐसी विधियों का विकास करना होगा जिनके द्वारा द्वारा छात्र ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सके। इसीलिए आचार्य शंकर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन की विधियों की स्थापना करते हुए लिखा है—"ब्रह्म पहले आचार्य से श्रवण करने योग्य एवं पीछे तर्क द्वारा मनन करने योग्य है, इसके पीछे वह निदिध्यासितव्य अर्थात् निश्चय से ध्यान करने योग्य है क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनो के सम्पन्न होने पर

और हर समय अनुशासित रहता है। इसी प्रकार के अनुशासित जीवन में वेदान्त का विद्यार्थी अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए कहा है—"ब्रह्म विद्यार्थियों को शम (मानसिक अनुशासन) और दम (इन्द्रियों का अनुशासन) आदि से युक्त होना चाहिए क्योंकि शान्त, दान्त (अनुशासित), तितिक्षु (सहिष्णु) और समाहित (एकाग्रमन) होकर (जिज्ञासु) आत्मा को देखता है।[1]"

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे शैक्षिक सिद्धान्तों मान्यताओं एवं अवधारणाओं का समायोजन मिलता है जिनके बल पर इसे आज भी एक सजीव शिक्षा-दर्शन कहा जा सकता है। शांकर शिक्षा-दर्शन में मनोवैज्ञानिक चिन्तन का अभाव होने पर भी नैतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक और मानवीय तत्त्वों का समावेश इतना उच्चकोटि का है कि इसकी उपादेयता हर युग में अक्षुण्ण रहेगी।

अध्ययन के निष्कर्ष :

शाङ्कर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठ भूमियाँ—जगद्गुरु शंकराचार्य के समग्र जीवन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवन का हर क्षण तथा उनके प्राणों का हर स्पन्दन एवं उनके हृदय की हर धड़कन शिक्षा के लिये समर्पित थी। वह प्रारम्भ से ही अध्ययनशील थे। शंकर ने इतिहास, पुराण, महाभारत, स्मृति आदि अनेक शास्त्रों का आद्योपान्त अध्ययन किया और सर्वज्ञ पद प्राप्त किया।[2] बालशंकर वेद में ब्रह्मा के समान वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के समान तथा उनके तात्पर्य के निर्णय करने में बृहस्पति के समान, वेद विहित कर्म के वर्णन करने में जैमिनी के समान तथा वेद वचन के द्वारा प्रकट किये ज्ञान के विषय मे व्यास के समान थे और तो क्या, वाणी के विलास से युक्त वह बालक व्यास का नया अवतार प्रतीत होता था।[3] उनकी इसी अध्ययन शीलता तथा ज्ञान सम्पन्नता ने उन्हें एक श्रेष्ठ एवं विख्यात अध्यापक बना दिया था। अतः उनके पास दूर-दूर से विद्यार्थी अध्ययनार्थ आते थे और शंकर अपने अध्ययन से उनको आनन्द मग्न कर देते थे।[4] वह उनका शिक्षण

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-4-23) शां० भा० तथा ब्रह्मसूत्र शा० भा० (3-4-6-27)
2. श्री शंकरदिग्विजय (माधवकृत 4-106) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० 127।
3. श्री शंकरादिग्विजय (माधवकृत 4-19), वही, पृ० 95-96।
4. वही (5-32), वही, पृ० 137।

का कार्य उनका जीवन भर चलता रहा था। इसीलिये वह अपने युग के केवल मात्र दार्शनिक विचारक नहीं थे अपितु उच्चकोटि के शिक्षक भी थे।[1] उनके शिक्षण का भारतीय जन मानस पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि भारतीय समाज ने उन्हें जगद्-गुरु की उपाधि से विभूषित कर उनका अभिनन्दन किया था।

आचार्य शंकर उच्चकोटि के शिक्षक होने के साथ-साथ एक महान् एवं प्रभाव शाली शिक्षा-शास्त्री के रूप मेजीवन भर कार्य करते रहे। चाहे प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) के भाष्य का कार्य हो अथवा भक्ति परक स्तोत्रों की रचना हो अथवा वेदान्त के ग्रन्थों का प्रणयन हो, अथवा मठो के स्थापन का कार्य हो अथवा मण्डन मिश्र के साथ वादविवाद हो अथवा संन्यासी समाज का संघटन हो, इन सभी कार्यों मे उनकी शैक्षिक उपलब्धि निहित है। वस्तुतः वह देश को ऐसी शिक्षा-व्यवस्था देना चाहते थे जिसका स्वरूप समस्त राष्ट्र मे एक सा हो। अतः उनके प्रत्येक कार्य एव विचार का उद्देश्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना था। उन्होने ज्ञान-प्राप्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य घोषित कर शिक्षा-शास्त्र मे ज्ञान और शिक्षा के अटूट सम्बन्ध की नई स्थापना की थी। इसी मान्यता के लिये वह जीवन भर कार्य करते रहे। शंकर के जीवन में साहित्य सृजना की अद्भुत क्षमता के दर्शन होते हैं। उनके में ऐसा आकर्षण, माधुर्य एवं ज्ञान पिपासा को तृप्त करने वाला तत्व छिपा हुआ है कि हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी उसकी महत्ता बनी हुई है। उनकी रचना शैली नितान्त प्रौढ़ एव अत्यन्त सुबोध है। वे सरल प्रसाद मयी रीति के उपासक है जिसमे स्वाभाविकता ही परम भूषण है।[2] उन्होंने भाष्य, स्तोत्र तथा प्रकरण ग्रन्थों के रूप मे विविध प्रकार के साहित्य की सृष्टि करके अपनी जिस बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है उससे उनकी गणना महान् साहित्यकारों में होती है। अतः आचार्य शंकर का समग्र जीवन कुशल अध्यापक, महान् शिक्षा-शास्त्री तथा उच्चकोटि के साहित्यकार के रूप में भारतीय इतिहास मे आलोकमान् है।

आचार्य शंकर के सम्मुख वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का प्रश्न मुख्य था। अतएव उन्होने देश के चारो कोनों में चार पीठ की स्थापना करके आने वाली पीढ़ियों के लिये एक शिक्षा-योजना प्रस्तुत की थी। मठों की समस्त व्यवस्था आधुनिक विश्व विद्यालयों जैसी थी। इन पीठो के माध्यम से उन्होंने देश में जन-शिक्षा के प्रचार-प्रसार की योजना बनाई थी। वे देशवासियों को वेदान्त की शिक्षा देना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने सत्य सनातन धर्म (आध्यात्मिक शिक्षा) के पुनरुद्धार का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने परमहंस दशनाम संन्यासी समाज का संगठन किया इस

---

1 श्री बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद, पृ० 150–172।

2. श्री बलदेव उपाध्याय–श्री शंकराचार्य—वही, पृ० 149।

इस (ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है। जिस समय इन सब साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्व विषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है। अन्यथा केवल श्रवण मात्र से उसकी स्फुटता नहीं होती[1]।" आचार्य शंकर की दृष्टि में ईश्वर चिन्तन का विषय होने से ऐसी विधि द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता है जिसका सम्बन्ध ईश्वर से न हो। इस सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा तकनीकी में अनेक प्रकार की वैज्ञानिक विधियों का विकास हो चुका है फिर इन विधियों की उपयोगिता ही नहीं रहती है किन्तु यहाँ इतना विचार अवश्य करना चाहिए कि आचार्य शंकर केवल ब्रह्म के सन्दर्भ मे इन विधियों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि ब्रह्म चिन्तन का ही विषय है। प्रायोगिक विधि द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है। आधुनिक शिक्षा शास्त्र भी इस बात से सहमत है कि सभी विषयों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षण विधियाँ उपयुक्त नहीं होती है। यही कारण है कि हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं की शिक्षण-विधियाँ वैज्ञानिक विषयों तथा गणित आदि की शिक्षण-विधियों से भिन्न है इसीलिए विषयानुसार विधियों का निर्धारण करना उचित ही है।

पाठ्यक्रम में ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य के लिए आचार्य शंकर प्रश्नोत्तर, तर्क, व्याख्या, अध्यारोप-अपवाद, दृष्टान्त तथा कथा-कथन आदि विधियों का प्रयोग करने पर बल देते हैं। ये सब विधियाँ ऐसी है जिनका उपयोग आज भी किसी न किसी रूप में होता है। अतः शिक्षण-विधियों की दृष्टि से आचार्य शंकर का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जिन विधियों का प्रयोग किया है उनमें अधिकतर को आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी स्वीकार करते है।

(ङ) **अनुशासन**—शिक्षा में अनुशासन का महत्त्व सदैव रहा है। भिन्न-भिन्न युगों में अनुशासन की कल्पना भिन्न-भिन्न रही है। जब समाज में एकतन्त्रीय राज-व्यवस्था का प्रचलन था तो दमनात्मक अनुशासन (Pepressionistic Discipline) की मान्यता को स्वीकार किया जाता था। फिर एक समय शिक्षा के इतिहास मे ऐसा आया कि अध्यापक को विद्यालय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता था। उसका व्यक्तित्व छात्रों को प्रभावित करता था और छात्र अनुशासित रहते थे। इसी को प्रभावात्मक अनुशासन (Impressionistic Discipline) कहा जाता है। अनुशासन की इस धारणा के प्रति भी शिक्षाविदो में असन्तोष की भावना जाग्रत होने लगी फलतः अनुशासन के क्षेत्र में एक नए विचार ने जन्म लिया जिसके अनुसार बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का समर्थन किया जाता है। अतः इसे मुक्त्यात्मक अनुशासन (Emancipationistic Discipline) कहते है किन्तु आधुनिक युग मे बालक से सामाजिक पर्यावरण में अनुशासित रहने की अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (2-4-5) वही पृ० 551।

अनुशासन बालक के विवेक पर निर्भर करता है, किसी बाह्य दबाव, प्रभाव अथवा विशवता में आकर बालक अनुशासित नहीं होता है। अतः वह स्वानुशासन अथवा आत्मानुशासन (Self Discipline) कहलाता है। वर्तमान युग के शिक्षा-शास्त्री इसी प्रकार के अनुशासन का समर्थन करते है प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था मे अनुशासन का स्वरूप दमनात्मक अथवा प्रभावात्मक न होकर बालकों के विवेक पर निर्भर करता है। इसलिए आज अधिकांश देशों में स्वानुशासन के सिद्धान्त को ही शिक्षा मे माना जाता है। इसी पृष्ठभूमि मे हमे आचार्य शंकर के अनुशासन सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन करना है।

शिक्षा में गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बधों का मुख्य आधार अनुशासन को माना जाता है। शांकर शिक्षा-दर्शन में गुरु-शिष्य सम्बन्धों की कल्पना आध्यात्मिक आधार पर हुई है। अतः दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों में किसी प्रकार की कटुता, संघर्षपूर्ण अथवा तनावपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने की आशका बहुत कम रहती है। इस प्रकार शांकर शिक्षा में अनुशासन की समस्या सामान्य वस्तु नहीं है। इतना होने पर भी आचार्य शंकर ने अनुशासन की आवश्यकता स्वीकार की है—"जो (शिष्य) पापकर्म और इन्द्रियों की चंचलता से हटा हुआ तथा समाहित चित्त और.... उपशान्तमना है, वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञान द्वारा · आत्मा को प्राप्त कर सकता है।[1]" यहाँ हम देखते है कि शंकर ने मन इन्द्रियो के संयम को अनुशासन माना है किन्तु यह संयम छात्र के विवेक पर निर्भर करता है। उस पर अध्यापक का प्रभाव अथवा दबाव नहीं है। छात्र स्वयं ज्ञानप्राप्त करने के लिए संयमी जीवन को स्वीकार करता है। इस संयम से मन को एकाग्रता प्राप्त होती है। यही एकाग्रता वेदान्त की शिक्षा का सार है। आचार्य शंकर के अनुसार मन की एकाग्रता न केवल छात्र के लिए आवश्यक है अपितु अध्यापक के लिए भी आवश्यक है[2]। इस प्रकार शांकर शिक्षा-दर्शन में अनुशासन का स्वरूप आन्तरिक है। छात्र अपने विवेक से अनुशासन को स्वीकार करता है। मन और इन्द्रियों का संयम करके शिक्षार्थी अपने मन को एकाग्र करता है जिससे ज्ञानप्राप्ति की क्षमता का उसमें विकास हो सके। आचार्य शंकर की अनुशासन सम्बन्धी अवधारणा आधुनिककालीन स्वानुशासन की कल्पना के अनुकूल है किन्तु संयम की दृष्टि से यह अधिक उत्कृष्ट है। स्वानुशासन में अपने विवेक से अनुशासित रहने का विचार तो निहित है किन्तु मन एवं इन्द्रियों का संयम वहाँ नहीं है जबकि आचार्य शंकर की अनुशासन की कल्पना में मन इन्द्रियो का संयम ही प्रधान है जिससे सभी प्रकार की चंचलता अस्थिरता तथा अपरिपक्वता का शमन होकर स्थितप्रज्ञता व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है। फलतः वह हर स्थिति में

---

1. कठोपनिषद् शां० भा० (2-24), वही, पृ० 79।
2. केनोपनिषद् शां० भा० (खं03), वही, पृ० 92।

और हर समय अनुशासित रहता है। इसी प्रकार के अनुशासित जीवन में वेदान्त का विद्यार्थी अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए कहा है—"ब्रह्म विद्यार्थियों को शम (मानसिक अनुशासन) और दम (इन्द्रियों का अनुशासन) आदि से युक्त होना चाहिए क्योंकि शान्त, दान्त (अनुशासित), तितिक्षु (सहिष्णु) और समाहित (एकाग्रमन) होकर (जिज्ञासु) आत्मा को देखता है।[1]"

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शैक्षिक सन्दर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे शैक्षिक सिद्धान्तों मान्यताओं एवं अवधारणाओं का समायोजन मिलता है जिनके बल पर इसे आज भी एक सजीव शिक्षा-दर्शन कहा जा सकता है। शांकर शिक्षा-दर्शन में मनोवैज्ञानिक चिन्तन का अभाव होने पर भी नैतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक और मानवीय तत्त्वों का समावेश इतना उच्चकोटि का है कि इसकी उपादेयता हर युग में अक्षुण्ण रहेगी।

अध्ययन के निष्कर्ष :

शाङ्कर शिक्षा-दर्शन की पृष्ठ भूमियाँ—जगद्गुरु शंकराचार्य के समग्र जीवन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवन का हर क्षण तथा उनके प्राणों का हर स्पन्दन एवं उनके हृदय की हर धड़कन शिक्षा के लिये समर्पित थी। वह प्रारम्भ से ही अध्ययनशील थे। शंकर ने इतिहास, पुराण, महाभारत, स्मृति आदि अनेक शास्त्रों का आद्योपान्त अध्ययन किया और सर्वज्ञ पद प्राप्त किया।[2] बालशंकर वेद मे ब्रह्मा के समान वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के समान तथा उनके तात्पर्य के निर्णय करने में वृहस्पति के समान, वेद विहित कर्म के वर्णन करने में जैमिनी के समान तथा वेद वचन के द्वारा प्रकट किये ज्ञान के विषय में व्यास के समान थे और तो क्या, वाणी के विलास से युक्त वह बालक व्यास का नया अवतार प्रतीत होता था।[3] उनकी इसी अध्ययन शीलता तथा ज्ञान सम्पन्नता ने उन्हें एक श्रेष्ठ एवं विख्यात अध्यापक बना दिया था। अतः उनके पास दूर-दूर से विद्यार्थी अध्ययनार्थ आते थे और शंकर अपने अध्ययन से उनको आनन्द मग्न कर देते थे।[4] यह उनका शिक्षण

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद् (4-4-23) शां० भा० तथा ब्रह्मसूत्र शा० भा० (3-4-6-27)
2. श्री शंकरदिग्विजय (माधवकृत 4-106) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर हरिद्वार, पृ० 127।
3. श्री शंकरादिग्विजय (माधवकृत 4-19), वही, पृ० 95-96।
4. वही (5-32), वही, पृ० 137।

का कार्य उनका जीवन भर चलता रहा था। इसीलिये वह अपने युग के केवल मात्र दार्शनिक विचारक नहीं थे अपितु उच्चकोटि के शिक्षक भी थे।[1] उनके शिक्षण का भारतीय जन मानस पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि भारतीय समाज ने उन्हें जगद्-गुरु की उपाधि से विभूषित कर उनका अभिनन्दन किया था।

आचार्य शंकर उच्चकोटि के शिक्षक होने के साथ-साथ एक महान् एवं प्रभाव शाली शिक्षा-शास्त्री के रूप मेजीवन भर कार्य करते रहे। चाहे प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) के भाष्य का कार्य हो अथवा भक्ति परक स्तोत्रों की रचना हो अथवा वेदान्त के ग्रन्थों का प्रणयन हो, अथवा मठो के स्थापन का कार्य हो अथवा मण्डन मिश्र के साथ वादविवाद हो अथवा संन्यासी समाज का सघटन हो, इन सभी कार्यों मे उनकी शैक्षिक उपलब्धि निहित है। वस्तुतः वह देश को ऐसी शिक्षा-व्यवस्था देना चाहते थे जिसका स्वरूप समस्त राष्ट्र मे एक सा हो। अतः उनके प्रत्येक कार्य एवं विचार का उद्देश्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना था। उन्होने ज्ञान-प्राप्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य घोषित कर शिक्षा-शास्त्र मे ज्ञान और शिक्षा के अटूट सम्बन्ध की नई स्थापना की थी। इसी मान्यता के लिये वह जीवन भर कार्य करते रहे। शंकर के जीवन में साहित्य सृजना की अद्भुत क्षमता के दर्शन होते हैं। उनके में ऐसा आकर्षण, माधुर्य एवं ज्ञान पिपासा को तृप्त करने वाला तत्व छिपा हुआ है कि हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी उसकी महत्ता बनी हुई है। उनकी रचना शैली नितान्त प्रौढ़ एव अत्यन्त सुबोध है। वे सरल प्रसाद मयी रीति के उपासक है जिसमे स्वाभाविकता ही परम भूषण है।[2] उन्होंने भाष्य, स्तोत्र तथा प्रकरण ग्रन्थों के रूप मे विविध प्रकार के साहित्य की सृष्टि करके अपनी जिस बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है उससे उनकी गणना महान् साहित्यकारों में होती है। अतः आचार्य शंकर का समग्र जीवन कुशल अध्यापक, महान् शिक्षा-शास्त्री तथा उच्चकोटि के साहित्यकार के रूप में भारतीय इतिहास मे आलोकमान् है।

आचार्य शंकर के सम्मुख वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का प्रश्न मुख्य था। अतएव उन्होने देश के चारो कोनों मे चार पीठ की स्थापना करके आने वाली पीढ़ियों के लिये एक शिक्षा-योजना प्रस्तुत की थी। मठों की समस्त व्यवस्था आधुनिक विश्व विद्यालयो जैसी थी। इन पीठो के माध्यम से उन्होंने देश में जन-शिक्षा के प्रचार-प्रसार की योजना बनाई थी। वे देशवासियों को वेदान्त की शिक्षा देना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने सत्य सनातन धर्म (आध्यात्मिक शिक्षा) के पुनरुद्धार का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने परमहंस दशनाम संन्यासी समाज का संगठन किया इस

---

1 श्री बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद, पृ० 150–172।

2. श्री बलदेव उपाध्याय–श्री शंकराचार्य—वही, पृ० 149।

समाज के त्यागी, तपस्वी, ध्येय निष्ठ एवं कर्त्तव्य निष्ठ व्यक्तियों द्वारा उन्होंने लोगों में अच्छे संस्कार (सुशिक्षा के भाव) डालने की परम्परा का श्री गणेश किया ।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर एक उच्चकोटि के कुशल-नियोजक कुशल व्यवस्थापक एवं सफल संगठनकर्त्ता थे ।

शंकराचार्य की दार्शनिक विचारधारा :

आचार्य शंकर की दार्शनिक विचारधारा का सार है–ऐक्य । एकता का भाव स्थापित करना ही उनकी दार्शनिक मीमांसा का उद्देश्य रहा है । ईश्वर, जगत् और जीवात्मा की भिन्नता का अनुभव हम सबको होता है । मनुष्यों में बाल्य-युवा- वृद्ध, स्त्री-पुरूष तथा काला-गोरा, बुद्धिमान-मूर्ख और धनवान्-निर्धन आदि बहुत प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं । इसी प्रकार मानवेतर सृष्टि में मनुष्य-पशु-पक्षी, जड़-चेतन, वनस्पति-पर्वत तथा अन्यान्य जीवधारी-अजीवधारी आदि में भेद स्पष्टत: दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु शंकराचार्य समस्त सृष्टि में व्यापत एक चैतन्य तत्त्व के आधार पर उपर्युक्त समस्त भेदों को समाप्त कर ऐक्य की स्थापना करते हैं । अत: उनके अनुसार जगत् में अभेद सत्य है और भेद मिथ्या है ।[2] यह एकता की अनुभूति ही शांकर दर्शन में ज्ञान माना गया है । जब मनुष्य को समष्टि के साथ तादात्म्य की अनुभूति होती है तो वही उसकी ज्ञानावस्था होती है । इस प्रकार शंकराचार्य ने ज्ञान को अनुभूति-जन्य माना है । जब तक मनुष्य का व्यष्टि भाव बना रहता है तभी तक अनेकता रहती है । समष्टि भाव की अनुभूति होने पर ऐक्य स्वत: प्रकट हो जाता है।[3]

शांकर सिद्धान्त मे एकता ज्ञान है और विविधता अज्ञान है ।[4] मनुष्य अज्ञान वश संसार की अनेकता को तो अनुभव करता है किन्तु इसके अन्दर निहित ऐक्य (ब्रह्म) भाव की अनुभूति नही कर पाता है । अज्ञानी लोगों का भ्रम वश एक ब्रह्म के स्थान पर अनेक वस्तुएँ देखना जगत् की विविधता का मूल कारण है । अत: आचार्य शंकर के अनुसार सम्पूर्ण अब्रह्म रूप (संसार की) प्रतीति रस्सी में सर्प-प्रतीति के समान अविद्या मात्र ही है । एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है ।[5] इस प्रकार शांकर

---

1. हरिस्वरूप विनोद-दशनाम नागा संन्यासियों के अखाडों की परम्पा, नवभारत टाइम्स, टाइम्स आफ इन्डिया प्रकाशन, नई दिल्ली 13-1-1977 ।
2. श्री शंकराचार्य-विरचित-प्रकरण-ग्रन्थ-संग्रहः–सम्पादकः एच० आर० भगवत्, पूना, पृ० 158 ।
3. श्री शंकराचार्य–विवेकचूडामणि, वही, पृ० 75 ।
4. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रहः–सम्पादक–एच० आ० भगवत, पूना शहर, पृ० 158 ।
5. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (2-1-11), वही, पृ० 81-82 ।

दर्शन में जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का कारण अविद्या होने से लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एव जन्म-मरण आदि दुःखों का कारण अविद्या ही है ।[1]

अतः जगद्गुरु शंकराचार्य ने उपर्युक्त अज्ञान के निराकरण के लिये मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया है । मनुष्य इच्छा, लोभ और मोह आदि के कारण बन्धन ग्रस्त होता है । वस्तुतः आत्मा सर्वदा विकार रहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है । अतः अज्ञान जन्य मिथ्या बन्धन के विनाश को ही आचार्य शंकर मोक्ष मानते है ।[2] जीव और ब्रह्म की भेद बुद्धि से अनेक प्रकार के क्लेशों की उत्पत्ति होती है । अतः गुरु के उपदेश से छात्र का अज्ञान और भ्रम दूर होता है और वह स्वाभाविकी मुक्ति पाकर प्रसन्न हो जाता है । इस प्रकार उसके काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि निवृत्त हो जाते है । यही जीवन का परम लक्ष्य है ।

आद्य शंकराचार्य ने जीवन के परम लक्ष्य रूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये ज्ञान को ही एक मात्र साधन माना है ।[3] अतः मोक्ष कर्म मूलक न होकर ज्ञान मूलक है । बन्धन के अविद्याकृत होने से विद्या ही मोक्ष का कारण है ।[4] मुमुक्षु के लिये शांकर वेदान्त में ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है ।[5] आचार्य शंकर के विचार में यद्यपि मुक्त पुरूप को किसी वस्तु की आकांक्षा न होने से किसी प्रकार का कर्म करना अभीष्ट नहीं है तथापि वह इस प्रकार कर्म कर सकता है जिससे वह बन्धन ग्रस्त न हो । साधारणतया मलिन चित्त आत्म तत्त्व का बोध नहीं कर सकता है परन्तु काम्य वर्जित नित्य कर्म के सम्पादन से चित्त-शुद्धि होती है । जिससे बिना रुकावट के व्यक्ति आत्म स्वरूप को जान लेता है ।[6] इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य ने ज्ञान प्राप्ति के लिये निष्काम कर्म और उपासना को महत्त्वपूर्ण माना है । आचार्य शंकर की आचार मीमांसा का महत्त्वपूर्ण पक्ष है—लोक सेवा । यही कारण है कि वह लोक सेवा (लोक संग्रह) को मुक्ति के पथ में बाधक नहीं प्रत्युत् साधक मानते है । अतः उनका समस्त जीवन जन कल्याणार्थ एवं राष्ट्र सेवार्थ समर्पित होने के कारण उनको 'लोक शंकर' के नाम से पुकारा जाता है ।[7] स्वामी विवेकानन्द तथा लोकमान्य तिलक आदि आधुनिक वेदान्ती भी इसी आदर्श का अनुमोदन करते है ।[8]

---

1. कठोपनिषद् (1–2–5) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य ।
2. केनोपनिषद, शां० भा० (खं०3) वही, पृ० 107 ।
3. व 4. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3–2–6–29) टेढीनीम, वही, पृ० 635 ।
5. श्रीमद्भगवद् गीता शां० भा० (3–) वही, पृ० 79 ।
6. गीता (18–10) वही, पृ० 412–13 ।
7. श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् । नमामि भगवत्पादं शंकरं लोक शंकरं । स्वामी अमलानन्द सरस्वती ।
8. स्वामी विवेकानन्द का 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' तथा लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' द्रष्टव्य ।

आचार्य शंकर की प्रमाण-मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (शास्त्र) प्रमाण को स्वीकार किया गया है।[1] किन्तु शंकर के अनुसार वेद नित्य ज्ञान है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकालाबाधित नियमों का भण्डार है। वेद को शांकर दर्शन में अपौरुषेय (मानवीय शक्ति से परे) माना गया है और वे ईश्वरीय ज्ञान को प्रकट करते है।[2] वेदों की प्रामाणिकता शाश्वत होने से वे देशकाल की सीमा से परे होने के कारण परम प्रमाण की कोटि में आते है। आचार्य कर शंश्रुति (वेद) को ऐसा ज्ञान प्रदान करने वाली मानते हैं जो इन्द्रियों अथवा विचारशक्ति (प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण) के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[3] इस प्रकार वेद-शास्त्र का प्रामाण्य निर्भ्रान्त तथा अन्तिम होने से धर्म और अधर्म सम्बन्धी विषयो पर वेद स्वत: तथा निरपेक्ष प्रमाण है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् शंकराचार्य की अवतारणा एक महान् दार्शनिक उत्कट विचारक, गम्भीर चिन्तक एवं श्रेष्ठ व्याख्याकार तथा उपनिषद्विद् के रूप में मानवीय इतिहास की अविस्मरणीय घटना है। अत: डा० राधाकृष्णन् के ये उद्गार सहसा स्मृतिपटल पर उदित हो जाते हैं—"एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी।"[5]

शिक्षा का स्वरूप :

शांकर शिक्षा का मूलाधार अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। अद्वैत सिद्धान्त में ज्ञान का अत्यन्त महत्त्व है। वेदान्त की केन्द्रीय समस्या ब्रह्म की धारणा है। अत: ब्रह्मतत्व का अन्वेषण करना शांकर शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार शंकर के अनुसार शिक्षा व्यक्ति की ज्ञान-प्राप्ति का साधन है[6] और उसके अज्ञान की निवृत्ति का माध्यम है।[7]

---

1. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन–2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 482।
2. ब्रह्मसूत्र (1-1-3) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
3. श्रीमद्भगवद्गीता (3-66) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
4. वही, (16-23,24) शां० भा०।
5. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग–2, वही, पृ० 660।
6. केनोपनिषद् शां० भा० (2-4) वही, पृ० 88।
7. केनोपनिषद् शां० भा० (2-4) वही, पृ० 83।

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना वेदान्त को सर्वाधिक अभीष्ट है अतः आचार्य शंकर का कथन है कि ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं, वह जिससे जाना जाता है वह ब्रह्म विद्या है।[1] इस प्रकार शंकर के अनुसार शिक्षा केवलमात्र भौतिक पदार्थों की जानकारी मात्र नहीं है वरन् ब्रह्म अथवा आत्मा का बोध कराती है।[2] आचार्य शंकर ने ब्रह्म और आत्मा **की एकता** की अनुभूति को ज्ञान माना है। अतः मानव समाज में व्याप्त नाना प्रकार की विषमताओं एवं विभिन्नताओं का शमनकर ऐक्य स्थापित करना आचार्य शंकर के अनुसार वास्तविक शिक्षा है।[3]

ज्ञान व्यक्ति के अन्दर निहित है। वह स्वभावतः आत्मबोध कराने में समर्थ होता है किन्तु बाह्य विषयों की आसक्ति आदि से व्यक्ति का आत्मतत्व कलुषित रहता है। यही कारण है कि मनुष्य सर्वदा समीपस्थ होने पर भी उस आत्मतत्व का मल से ढके हुए दर्पण तथा चञ्चल जल के समान दर्शन नहीं कर पाता है। यहीं से शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। शिक्षा द्वारा जब व्यक्ति के इन्द्रिय एवं विषय जन्य रागादि दोषरूप मल के दूर हो जाने पर दर्पण या जल आदि के समान चित्त प्रसन्न-स्वच्छ (शान्त) हो जाता है[4] तब अज्ञान से आवृत तथा उसमें विद्यमान यथार्थ तत्त्व का अनावरण हो जाता है।[5] यही उसकी शिक्षा है।

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन ही नहीं है वरन् यह व्यक्ति के मनोगत ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, शोक, मोह तथा आसक्ति आदि दोषों का अपनयन कर उसके मन को प्रसन्न, स्वच्छ तथा शान्त करती है। अतः जिससे मनुष्य के अज्ञान, शोक, मोह तथा क्रोध आदि दोषों की निवृत्ति होती है वह शिक्षा है।[6]

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया केवल शिक्षक तथा शिक्षार्थी से ही सम्पन्न नहीं होती है अपितु उसके लिए पाठ्यक्रम (शास्त्र) की भी आवश्यकता है। इस प्रकार वह शास्त्र पर आधारित गुरु एवं शिष्य के मध्य सम्पन्न होने वाली अन्तःक्रिया को शिक्षा कहते हैं।[7] अतः पाठ्यक्रम (शास्त्र), शिक्षक एवं शिक्षार्थी के समुचित समन्वय से ही शिक्षा-प्रक्रिया का विकास होता है।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-9), वही, पृ० 241।
2. [illegible] ।" वही, (1-4-7) वही, पृ० 23.-34।
3. 'श्री शंकराचार्य–विरचित–प्रकरण ग्रन्थ–संग्रहः' सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर, पृ० 42।
4. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (3-1-8) वही, पृ० 98।
5. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1) वही, पृ० 12।
6. श्रीमद्भगवद्गीता शां० भा० (18-73), वही, पृ० 479।
7. वही, (3-42), वही, पृ० 104।

उपर्युक्त विवेचन से शिक्षा का स्वरूप आध्यात्मिक एवं धार्मिक होना सिद्ध है। शंकर के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान से भिन्न कोई शिक्षा नहीं है। अतः शिक्षा की प्रक्रिया एक ऐसी धार्मिक एवं पवित्र प्रक्रिया है जो मुक्तिपर्यन्त चलती है।[1] यही कारण है कि स्वामी शंकराचार्य के शिक्षा दर्शन में आध्यात्मिक शिक्षा को भौतिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

जगद्गुरु शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा की उपयोगिता व्यक्ति एवं समाज दोनों ही के सन्दर्भ में है। व्यक्ति के लिए शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानते हुए आचार्य शंकर का यह कथन उल्लेखनीय है—"शिक्षा से मनुष्य को अमरत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है।"[2] अतः शिक्षा प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का आचरण, विचार तथा व्यवहार सुसंस्कृत हो जाते हैं। उसका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर हो जाता है।[3] जिससे श्रेष्ठ समाज के निर्माण को बल मिलता है। श्रेष्ठ मानव समाज में ही उन्नत राष्ट्र एवं समृद्ध तथा शान्तिमय विश्व की कल्पना निहित है।

आचार्य शंकर जीवन और शिक्षा को एकरूप मानते है। उनके अनुसार जीवन का वास्तविक स्वरूप आत्मा है और आत्मा ब्रह्म होने से सच्चिदानन्द स्वरूप है।[4] इस प्रकार ज्ञान जीवन का सारभूत तत्व सिद्ध होता है। अतः शिक्षा और जीवन में वस्तुतः पार्थक्य न होकर अभेद है।[5] शंकर के अनुसार जीवन की अवतारणा केवलमात्र भौतिक सुखसमृद्धि का भोग भोगने के लिए ही नहीं हुई है वरन् मानव-जीवन ज्ञानार्जन के लिए है।[6] इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य जीवन और शिक्षा के गहन सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं और दोनों को परस्पर अन्योन्याश्रित मानकर श्रेष्ठ जीवन को सुशिक्षा का फल स्वीकार करते है।[7]

शिक्षा के उद्देश्य तथा मूल्य :

भारतीय दर्शन तथा जन-जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अत्यधिक महत्त्व है। इसीलिए आचार्य शंकर ने शिक्षा का एकमात्र आधार आध्यात्मिकता

---

1. श्री शंकराचार्य—प्रश्नोत्तरी (श्लोक 11), वही, पृ० 12।
2. केनोपनिषद् शां० भा० (2-4), वही, पृ० 88।
3. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (1-9-2), वही, पृ० 119।
4. तैत्तिरीयोपनिषद् (2-1-1) पर शांकर द्रष्टव्य।
5. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, (श्लोक 204), वही, पृ० 67।
6. "तस्माज्ज्ञानमेवात्मनो लाभः।" बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-7) वही, पृ० 234।
7. छान्दोग्योपनिषद् (1-9-2) वही, पृ० 119।

को स्वीकार किया है। वह आत्मा की सत्ता को महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप मे मानते है। अतः उनके दर्शन में समस्त प्रयास आत्मा को लक्ष्य में रखकर किए गये हैं।[1] इस प्रकार जब शंकराचार्य शिक्षा के उद्देश्यो एवं मूल्यों का निर्धारण करते है तो भौतिक दृष्टिकोण के स्थान पर उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ही महत्त्व दिया है।

शांकर शिक्षा-दर्शन में जीवन लक्ष्यो से ही शिक्षा उद्देश्यो की उद्भावना हुई है। शांकर शिक्षा में ब्रह्म साक्षात्कार को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार किया गया है।[2] ब्रह्म और मोक्ष की एकरूपता स्वीकार करने के कारण शकर के अनुसार ब्रह्म की धारणा मानवीय जीवन के सर्वोत्तम चिन्तन का फल है।[3] अतः शांकर सिद्धान्त में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय मे मोक्ष ही को परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।[4] यही मुक्ति प्राप्ति शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य है।[5] शिक्षा द्वारा व्यक्ति की जब अविद्या का अपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा हो जाती है तो उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। यही सर्वत्मभाव व्यक्ति का मोक्ष है।[6] सर्वात्मभाव से मनुष्य व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि का चिन्तन करने लगता है। वस्तुतः आचार्य शंकर जब इस शरीर में ही मुक्ति (जीवन्मुक्ति) की कल्पना करते है तो उनका आशय मानव की समाजनिष्ठा से ही होता है।

स्वामी शंकराचार्य के अनुसार समस्त शिक्षा का सार ब्रह्म ज्ञान में ही निहित है। ब्रह्म जीवन का यथार्थ एवं परिपूर्ण तत्त्व है। अतः शिक्षा का उद्देश्य इसी यथार्थ तथा परिपूर्ण तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना है।[7] यही कारण है कि शंकर के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति ब्रह्ममय हो जाता है।[8]

मनुष्य में ब्रह्मनिष्ठा से आत्मविश्वास का जागरण होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति आत्मदृष्टा बन जाता है और वह आत्मा एवं परमात्मा

---

1. "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" बृहदारण्यकोपनिषद् (4-5-6) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।
2. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 29।
3. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ—सग्रहः—सम्पादक—एच० आर० भगवत्, पूना, पृ० 42।
4. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-4-15) वही, पृ० 1153।
5. श्री शंकराचार्य—प्रश्नोत्तरी (श्लोक-11) वही, पृ० (12-13)।
6. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (4-3-20) वही, पृ० 965।
7. ब्रह्मसूत्र शा० भा० (1-2-3-12) वही, पृ० 164।
8. मुण्डकोपनिषद् (3-2-9) पर शांकर भाष्य दृष्टव्य।

मे भेद को नहीं देखता है।[1] उसके लिए आत्मा परमात्मा एक है।[2] वेदान्त में आत्मा की सर्वाधिक महत्ता होने से उसी की प्राप्ति के लिए समस्त प्रयासों का प्रावधान किया गया है। इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जिससे बालक आत्मनिष्ठ बने। उसमें आत्म-विश्वास का विकास हो।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य ही शिक्षा है।[3] यही शिक्षा का परम उद्देश्य है। अतः विश्व मानव समाज में प्रेम, सहानुभूति, ऐक्य, सामन्जस्य तथा समन्वय की स्थापना की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर उन्होंने अद्वैतभाव को शिक्षा के लक्ष्य के रूप में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"जिस प्रकार रोगी पुरुष को रोग की निवृत्ति होने पर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दुःखाभिमानी आत्मा को द्वैत-प्रपञ्च की निवृत्ति होने पर स्वस्थता मिलती है। अतः अद्वैतभाव ही इसका (शिक्षा का) प्रयोजन है।"[4] इस प्रकार शांकर शिक्षा का उद्देश्य मानव समाज में ऐक्य की भावना का विकास करना है।

स्वामी शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा और धर्म का परस्पर सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। शिक्षा से धर्म का प्रचार-प्रसार होता है और धर्म से शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण होता है। आचार्य शंकर की भारतीय इतिहास तथा जनता में प्रसिद्धि एक धर्माचार्य के रूप में है। अतः उनके द्वारा धार्मिक भावना के विकास को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में प्रतिपादित करना उनके लिये स्वाभाविक एवं अपरिहार्य था। धार्मिक भावना के विकास के उद्देश्य का शंकराचार्य के अनुसार यही अभिप्राय है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति को यज्ञपरायण (समाजसेवी), अध्ययनशील, दानशील तपस्वी तथा आचार्य कुल (विद्यालय) में नियमपूर्वक रहकर विद्यार्जन करने वाला बनाया जाय। यही उसका धार्मिक विकास है। इसी के लिये आचार्य शंकर ने अपनी शिक्षा व्यवस्था को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है।

शांकर शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के लिये वैराग्य की नितान्त आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य है व्यक्ति को वैराग्यशील बनाना जिससे वह जीवन में सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा सके। मनुष्य अपनी इच्छाओं का दास होकर ही सुख-दुःख का अनुभव करता है। अतः सन्तान की इच्छा, ;धन की इच्छा और सम्मान आदि की इच्छा का त्याग करने वाला संन्यासी ही आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थिरप्रज्ञ है।[5] इस प्रकार आचार्य

---

1. गीता शां० भा० (4-35) वही, पृ० 137।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् शा० भा० (1-4-10) वही, पृ० 257।
3. श्री शंकराचार्य—विवेकचूडामणि, श्लोक 204, वही; पृ०67।
4. माण्डूक्योपनिषद् शां०भा० (सम्बन्ध भाष्य) वही, पृ० 21-22।
5. श्रीमद्भगवद् गीता शां० भा० (2-55) वही, पृ० 65।

शंकर के अनुसार शिक्षा का ऐसा उद्देश्य होना चाहिए जिससे व्यक्ति सयमी, वैराग्य-शील तथा त्यागी होकर आत्म-चिन्तन में प्रवृत्त हो सके।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर श्रेष्ठ व्यक्ति का निर्माण करना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मानते है। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा व्यक्ति में ब्रह्म साक्षात्कार, आत्मविश्वास, यथार्थ ज्ञान, ऐक्य की भावना, धार्मिक विकास तथा वैराग्य आदि का विकास हो सके। इस प्रकार उनके द्वारा मुख्यत: शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण वैयक्तिक रूप में हुआ प्रतीत होता है किन्तु जब आचार्य शंकर मनुष्य में मुक्ति की क्षमता तथा ऐक्य की भावना के विकास को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में निरुपित करते है तो उनके अनुसार सामाजिक उद्देश्यों की उद्भावना भी स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि शांकर शिक्षा-दर्शन में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्यों का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है तथापि सामाजिक उद्देश्यों की भी उसमें उपेक्षा नहीं की गई है।

आचार्य शंकर ने जिस प्रकार से शिक्षा के महान् उद्देश्यों की कल्पना की है उसी प्रकार उन्होंने शिक्षा के श्रेष्ठ मूल्यों की भी प्रस्थापना की है। उनके अनुसार मानव-जीवन के मूल्यों का आधार आध्यात्मिक एवं धार्मिक होने से शिक्षा के मूल्यों का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसमें भारतीय संस्कृति के चिरन्तन तत्त्वों का समावेश हो। सत्य, अहिंसा, दया, अपरिग्रह, एकता, प्रेम, सहानुभूति, तप एवं श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, सरलता, उपासना तथा त्याग आदि ऐसे जीवन-मूल्य है जिनका आचार्य शंकर ने अपने शिक्षा-दर्शन में पदे-पदे प्रतिपादन किया है।[1]

शिक्षा-पद्धतियाँ

शिक्षा-पद्धतियों का निर्धारण शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप होता है। शिक्षा के उद्देश्य जितने श्रेष्ठ तथा उच्च होते है उनकी प्राप्ति के लिये उतनी ही श्रेष्ठ और उच्च शिक्षण विधियों की आवश्यकता होती है। अत: आचार्य शंकर ने ब्रह्म-विचार, आत्मज्ञान तथा ईश्वर-प्राप्ति एवं मुक्ति लाभ जैसे महान् और श्रेष्ठ उद्देश्यों को दृष्टिगत करते हुए आधुनिक शिक्षण-प्रणालियों से भिन्न 'श्रवणमनन-निदिध्यासन' जैसी शिक्षा-पद्धतियों का प्रतिपादन किया है।

शंकराचार्य की शिक्षणविधियों पर विचार करने से पूर्व उनकी ज्ञान मीमांसा विचारणीय है। शांकर सिद्धान्त में अन्त:करण की वृत्ति को वस्तुबोधक माना जाता

---

1. डा० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन–शारदा मन्दिर. वाराणसी, पृ० 384।

है। यही वृत्ति वस्तु का आकार ग्रहण करके व्यक्ति को उस वस्तु का ज्ञान कराती है। घड़े को देखने पर मनुष्य का अन्तःकरण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है और एक विस्तृत प्रकाश-किरण के रूप में इसकी वृत्ति बाहर की ओर गति करती है तथा घटाकार होकर मनुष्य को घड़े का बोध कराती है। इसी प्रकार जब अन्तःकरण की यह वृत्ति ब्रह्माकार होती है तो मनुष्य को ब्रह्म-बोध होता है। अतः आचार्य शंकर ने ऐसी विधियों का प्रतिपादन किया है जिनसे ब्रह्माकारवृत्ति का विकास होता है।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने जिन शिक्षण-विधियों का प्रतिपादन किया है उनको निम्नलिखित दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) **छात्र की दृष्टि से विधियाँ :**—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तर्कविधि तथा प्रश्नोत्तर विधि।

(ख) **शिक्षक की दृष्टि से विधियाँ** :—प्रश्नोत्तर विधि, व्याख्या विधि, अध्यारोप-अपवाद विधि, दृष्टान्त विधि, कथा-कथन विधि तथा उपदेश विधि।

छात्र जब गुरु के उपदेश को सुनकर उसका मनन करता है और मनन करने पर उस पर दृढ़ हो जाता है तो वह श्रवण-मनन-निदिध्यासन विधि का अनुसरण करता है। आचार्य शंकर ने इन तीनों विधियों को ब्रह्म ज्ञान-प्राप्ति के लिए मुख्य-रूप से स्वीकार किया है।[1] श्रवणविधि में छात्र को अध्यापक का उपदेश सुनना होता है, उसे किसी प्रकार का अपना मत नहीं रखना होता है। प्रारम्भिक स्थिति छात्र को सुनने को होती है। अतः उसे आत्मा का श्रवण आचार्य और शास्त्र के द्वारा करना चाहिए। और तर्क से उस (सुने हुए) का मनन करना चाहिये।[2] युक्तिपूर्वक विचार करने की स्थिति मननविधि के अन्तर्गत आती है। अतः श्रवण के पश्चात् मनन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है किन्तु मनन करने मे छात्र स्वतन्त्र नही होता है। उसे गुरुमुख से सुने हुए उपदेश का मनन करना होता है। इसके विरुद्ध मनन करने का इस विधि में कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि आचार्य शंकर तर्क के महत्त्व को वेद-प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में ही स्वीकार करते है।[3] निदिध्यासन मनन की उत्तर भूमिका है। यह बोध की वह अवस्था है जहाँ छात्र का निश्चय स्थिर हो जाता है। उसका ध्यान परिपक्व हो जाता है। इस प्रकार छात्र अध्यापक के मुख से जिस ब्रह्मतत्त्व को सुनता है, उसी का भली भाँति मनन करता है और तत्पश्चात् उस ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव करने लगता है। निदिध्यासन

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् (6–21) शां०भा०, वही, पृ०257।
2. श्रीमद्भगवद्गीता (2-21) शां०भा० वही, पृ०46।
3. ब्रह्मसूत्र (2-1-3-11) पर शां०भा० द्रष्टव्य।

में छात्र को सुने हुए एवं मनन किये हुए का ही साक्षात् अनुभव होता है। वस्तुत: श्रवण-मनन-निदिध्यासन अलग-अलग तीन विधियाँ न होकर ये तीनों एक ऐसी समग्र विधि के अंग है जिनसे ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है।[1]

उपर्युक्त मननविधि में छात्र व्यक्तिगत रूप में तर्क का आश्रय लेकर विषय को ग्रहण करने की चेष्टा करता है किन्तु आचार्य शंकर ने ऐसी तर्क विधि का भी प्रतिपादन किया है जिसका मुख्य आधार सामूहिक है। इस विधि के अन्तर्गत छात्र गुरु अथवा अन्य विद्वान् व्यक्तियों के साथ बैठकर तर्क का आश्रय लेकर विचार-विमर्श करते हैं।[2]

अध्यापन में प्रश्नोत्तरी विधि का प्रयोग दो प्रकार से देखने को मिलता है—(1) शिष्य ज्ञान-प्राप्ति के लिये गुरु से प्रश्न पूछता है और गुरु उसका उत्तर देता है। (2) प्रश्नोत्तर विधि के दूसरे ढंग में शिक्षक छात्रों की योग्यता का मूल्यांकन करने के लिये प्रश्न पूछता है और छात्र उनका उत्तर देते हैं। आचार्य शंकर ने दोनों प्रकार से प्रश्न विधि के उपयोग का प्रतिपादन किया है। छात्र को अपना ज्ञातव्य प्रश्न के रूप में शिक्षक के सम्मुख उपस्थित करना चाहिये और शिक्षक को उसका उत्तर देना चाहिये।[3] शिक्षक भी छात्र की योग्यता एवं ग्रहणशक्ति के मूल्यांकन हेतु उससे प्रश्न पूछ सकता है।[4] आचार्य शंकर ने जिस प्रकार के प्रश्नों का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह आधुनिक शिक्षा शास्त्र में बताये हुए प्रश्नों से भिन्न है। उनके प्रश्नों में बड़े और छोटे उत्तर वाले दोनों प्रकार के प्रश्न सम्मिलित है।

(ख) शिक्षक की दृष्टि से शिक्षण विधियाँ :—

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षक प्रश्नोत्तर विधि के अतिरिक्त व्याख्याविधि के द्वारा विषय को छात्रों के लिये सरल बना सकता है। अध्यारोप-अपवाद विधि के अन्तर्गत शिक्षक आत्मा में शरीर, मन और बुद्धि आदि का आरोपण करके फिर उसका निराकरण करता है। इस विधि में शिक्षण प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष की ओर चलता है। ज्ञात से अज्ञात की ओर 'मूर्त से अमूर्त की ओर' तथा 'दृष्ट से अदृष्ट की ओर' जैसे आधुनिक शिक्षण सूत्रों का उपयोग इस विधि में स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्त की जटिल समस्याओं को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त या उदाहरण विधि का उपयोग अत्यन्त प्रभावशाली ढग से किया है। उनके रस्सी और सर्प एवं सीपी तथा चाँदी इत्यादि के दृष्टान्त

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (2-4-5) वही, पृ०551।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (3-1), वही, पृ०620।
3. श्री शंकराचार्यकृत विवेकचूडामणि, वही, पृ०20।
4. छान्दोग्योपनिषद् (5-12-1), पर शांकर भाष्य में शिक्षक द्वारा छात्र की योग्यता के मूल्यांकन-हेतु किया गया प्रश्न द्रष्टव्य है।

अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार दृष्टान्त विधि को उन्होंने शिक्षण का एक सशक्त माध्यम माना है।[2] आधुनिक युग में इस विधि का इतना विकास हुआ है कि आज छात्रों के सम्मुख केवलमात्र मौखिक दृष्टान्त (उदाहरण) ही प्रस्तुत नहीं किये जाते हैं वरन् प्रदर्शनात्मक उदाहरणों के अन्तर्गत अनेक प्रकार की श्रव्य-दृश्य सामग्री का उपयोग आधुनिक शिक्षण में होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने यद्यपि दृष्टान्त विधि के सीमित (मौखिक) रूप का ही प्रयोग किया है तथापि उन्होंने इस विधि को शिक्षण के प्रभावशाली माध्यम के रूप मे स्थापित किया है।

शिक्षक अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी कथा का आश्रय लेता है। आचार्य शकर के अनुसार छात्र को जब विषय ग्रहण करने मे कठिनाई का अनुभव हो रहा हो तो अध्यापक को समुचित आख्यायिका (कथा) का प्रयोग कर अपने शिक्षण को रोचक बनाना चाहिये[3]। शांकर शिक्षा दर्शन मे उपदेश विधि का वर्णन भी मिलता है। छात्र गुरु की शरण में जाकर आत्मा अथवा ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश की याचना करता है। गुरु शिष्य को ब्रह्मतत्व को समझाने के लिए शास्त्र के अभिप्राय को उसके सम्मुख प्रकट करता है। जीव ब्रह्म की एकता-बोधक महावाक्यों[4] का उपदेश गुरु शिष्य को करता है। शिष्य उस उपदेश को ग्रहण कर उसका अनुभव करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगद्गुरु शंकराचार्य ने शिक्षा पद्धतियों के अन्तर्गत अनेक विधियों का प्रतिपादन किया है उनकी प्रमुखविधि श्रवणमननिदिध्यासन हैं। इन्हीं के द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है। अत: शंकराचार्य विधियों को अपरिवर्तनीय मानते हैं। इन विधियों मे उन्होंने तार्किकता को जितना महत्व दिया है उतना मनोवैज्ञानिकता को नहीं। इतना होने पर भी वेदान्त की शिक्षा में उपर्युक्त विधियों का शंकराचार्य से लेकर अद्यपर्यन्त इतना अधिक महत्व रहा है कि आधुनिक युग मे भी इन्हीं विधियों से वेदान्त की शिक्षा सफलतापूर्वक चल रही है।

---

1. ब्रह्मसूत्र शां०भा० (1-4-1-6) मे रस्सी और सर्प का दृष्टान्त द्रष्टव्य है।
2. "दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षी भवति विवक्षितोऽर्थः।" बृहदारण्यकोपनिषद् शां०भा० (4–3–21), वही, पृ०971।
3. ऐतरेयोपनिषद् शां०भा० (2–1), वही, पृ०77–78।
4. वेदान्त में चार महावाक्य प्रसिद्ध हैं :—
   क–तत्त्वमसि (तू वही है) छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7)
   ख–प्रज्ञानं ब्रह्म (ब्रह्मज्ञानस्वरूप है) ऐतरेयोपनिषद् (3-1-3)
   ग–अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) बृहदारण्यकोपनिषद् (1-4-10)
   घ–अयमात्मा ब्रह्म *(यह आत्मा ब्रह्म है)* माण्डूक्योपनिषद् *(1-2)*

शिक्षक तथा शिक्षार्थी

वेदान्त-शिक्षा में गुरु छात्र (शिष्य) के अज्ञान का आवरण हटाकर उसे ज्ञान की प्राप्ति कराता है और शिष्य अपने प्रयासों द्वारा गुरु से ज्ञानोपार्जन कर अपने जीवन के परम लक्ष्य-मुक्ति को प्राप्त करता है[1]। अत: अध्यापक तथा विद्यार्थी शिक्षा के दो प्रमुख अंग है और इन दोनों के मध्य सम्पन्न होने वाली अन्त: क्रिया शिक्षा है।

आचार्य शंकर ने शिक्षक के रूप में एक महान् व्यक्तित्व की कल्पना की है। गुरु को केवल सैद्धान्तिक रूप से ग्रन्थ का ज्ञाता ही नहीं होना चाहिए वरन उसे स्वयं ब्रह्मानुभूति से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें नैतिक गुणों तथा चारित्रिक सबलता का पूर्ण विकास होना चाहिए। अत: मानसिक शान्ति एवं जितेन्द्रियता और सब प्रकार के भोगों से विरक्ति तथा अंहकार शून्यता और परोपकारशीलता आदि अध्यापक के आभूषण हैं। इन नैतिक गुणों के साथ ही अध्यापक में शैक्षिक योग्यता, अध्यापन-कुशलता तथा अध्ययन-प्रियता की उत्कृष्टता होनी चाहिये।

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षक छात्र का पथ प्रदर्शक ही नहीं है वरन् वह उसका आध्यात्मिक जन्मदाता भी है। अत: वह शिष्य को उन सब उपायों का सुझाव देता है जिनका अवलम्बन करके शिष्य आत्म कल्याण की प्राप्ति कर लेता है। यही कारण है कि वेदान्त-शिक्षा में गुरु-कृपा से प्राप्त ब्रह्मविद्या (आध्यात्मिक शिक्षा) को ही परब्रह्म प्राप्ति का साधन माना गया है[2]। इस प्रकार शांकर शिक्षा में गुरु का स्थान केवल महत्त्वपूर्ण ही नही है वरन् उसकी अनिवार्यता है।

स्वामी शंकराचार्य शिक्षण को शिक्षक का व्यवसाय नही मानते है बल्कि उनके अनुसार यह उसका धर्म है। अत: शिक्षण के लिए उसे सदैव तत्पर रहना चाहिए। उसे ज्ञान के इच्छुक शिष्य को कदापि निराश नही करना चाहिए। उसे किसी भी उपाय से शिष्य को कृतार्थ करना चाहिए[3]।

वेदान्त का शिक्षा-दर्शन पाश्चात्य विचारधारा की भाँति छात्र को मात्र शरीर नहीं मानता है। उसके अनुसार छात्र वस्तुत: ब्रह्म अथवा आत्मा है[4]। वह अनन्तशक्ति सम्पन्न है। उसमें अनन्त ज्ञान की क्षमता है। इसी अनन्त क्षमता का विकास शिक्षा है।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् (6-14-2) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
2 मुण्डकोपनिषद् (सम्बंध शा० भा०) वही, पृ० 9।
3 श्रीमद्भगवद्गीत शा० भा० (18-71) वही।
4. "तत्त्वमसि"—छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) शांकर भाष्य द्रष्टव्य।

आधुनिक शिक्षा मनोवैज्ञान की भाँति आचार्य शंकर छात्रों की रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं एवं इच्छाओं आदि में विभिन्नता स्वीकार करते है किन्तु वह इसी व्यक्तिगत वैभिन्य को आधार मानकर शिक्षा की प्रस्तावना नहीं करते है। वेदान्त के अनुसार जगत् का नानात्व (वैभिन्य) अज्ञानजन्य होने से छात्रों मे व्यक्तिगत भिन्नता भी माया या अविद्या के कारण है। अविद्या का पर्दा हटते ही शुद्ध आत्मा के दर्शन होते हैं।[1] इस प्रकार छात्र मूलत: आत्मा है और शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से स्वयं सच्चिदानन्द परब्रह्म है।[2] छात्र को इसी शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करना होता है।

शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु के पास जाने से पूर्व छात्र को कतिपय अपेक्षाओं की पूर्ति तथा विशिष्ट प्रकार की योग्यताओं का सम्पादन कर लेना चाहिए। आचार्य शंकर के अनुसार ये योग्यताएँ हैं—नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहलोक तथा परलोक के भागों से वैराग्य, शम-दम आदि संयम और मोक्ष की इच्छा[3] इन योग्यताओं के होने पर ही छात्र को ब्रह्मबोध की क्षमता प्राप्त होती है। इसी प्रकार आचार्य शंकर ने छात्रों की योग्यता का प्रतिपादन तो किया है किन्तु उन्होंने छात्रों की रुचियों का कही उल्लेख नहीं किया है।

वेदान्त-शिक्षा में गुरु की अनिवार्यता होने से शिष्य को विधिवत् गुरु की शरण में जाना चाहिए। शास्त्रज्ञ (विद्वान) होने पर भी छात्र को स्वतन्त्रतापूर्वक ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण नही करना चाहिए। अत: हाथ में समिधाओं का भार लेकर शिष्य को वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।[4]

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षक बोध कराने वाला है और शिष्य बोध करने वाला। गुरु उपदेश देने वाला है और शिष्य उपदेश ग्रहण करने वाला। इसी प्रकार गुरु विद्या द्वारा शिष्य को नित्य, अजर, अमर, एवं अभयरूप ब्रह्म शरीर को जन्म देने के कारण शिष्य का आध्यात्मिक पिता है।[5] अत: गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का आधार शंकर शिक्षा-दर्शन मे आध्यात्मिक है स्वामी शंकराचार्य के अनुसार गुरुकृपा के बिना शिक्षा की प्राप्ति कठिन है।

वेदान्त दर्शन में अनुशासित जीवन को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। मन एवं इन्द्रियों के संयम को आचार्य शंकर ने अनुशासन मानकर छात्रों के लिए साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, संयम तथा मोक्ष की इच्छा) को अनिवार्य रूप से प्रतिपादित

---

1. वही (18-73), वही पृ० 479।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् शां० भा० (1-4-10) वही, पृ० 257।
3. ब्रह्मसूत्र शां० भा० (1-1-1-1) वही, पृ० 26।
4. मुण्डकोपनिषद् शां० भा० (1-2-12) वही, 45।
5 प्रश्नोपनिषद्–(6-8) शां० भा० वही पृ० 124।

किया। शंकर के अनुसार छात्र संयमी होकर अनुशासित होते हैं और फिर उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे कठिनाई का अनुभव नही होता है।[1]

पाठ्यक्रम

जगद्‌गुरु शंकराचार्य गुरु तथा शिष्य के अतिरिक्त पाठ्यक्रम (शास्त्र) को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग मानते है। उनके अनुसार पाठ्यक्रम शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का उद्घाटक होने से स्थिर एवं अपरिवर्तनीय है। वैदिक सिद्धान्त भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों में यथार्थ होने से नित्य ज्ञान के उत्पादक हैं।[2] वेदशास्त्र के अत्यन्त पवित्र एवं धार्मिक वस्तु होने से उनके अनुसार पाठ्यक्रम मे किसी प्रकार का परिवर्तन संशोधन एवं परिवर्धन नही हो सकता है। अतः आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्यक्रम मे किसी प्रकार का लचीलापन-अस्थिरता तथा परिवर्तनशीलता नही होनी चाहिए।

आचार्य शंकर ने प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक स्तरों पर भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रमों की कल्पना की है। विविध पाठ्य विषयों का निर्धारण उन्होंने इन तीन स्तरों पर किया है। उनका पाठ्यक्रम व्यापक तथा विविधतापूर्ण है। विभिन्न पाठ्य विषयो के अतिरिक्त पाठ्य सहगामी क्रियाओं का प्रावधान भी उन्होंने पाठ्यक्रम में किया है जिससे एक व्यापक, वैविध्यपूर्ण तथा पूर्ण विकसित पाठ्यक्रम के शांकर शिक्षा में दर्शन होते है।

आचार्य शकर की कल्पना मे छात्रो के लिये वेद, पुराण, धर्म शास्त्र षड्दर्शन तथा गीता और वेदान्त जैसी आस्तिक विचारधारा एव बौद्ध जैन जैसे नास्तिक दर्शन का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन आवश्यक माना गया है। इसलिये इस दृष्टि से उनक पाठ्यक्रम संकीर्णता से मुक्त है। उसमें सभी प्रकार के पाठ्य विषयो के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है।

आचार्य शंकर का पाठ्यक्रम छात्रों के जीवन से सम्बन्धित है। उनके अनुसार व्यक्ति के जीवन का मूल स्वरूप आध्यात्मिक एवं धार्मिक है। आचार्य शंकर मनुष्य को मूलतः आध्यात्मिक प्राणी मानते हैं।[3] अतः मनुष्य के आध्यात्मिक तथा धार्मिक विकास की आवश्यकता की पूर्ति-हेतु उन्होंने जिस प्रकार के पाठ्यक्रम की संकल्पना की है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य ने पाठ्यक्रम को छात्रों की आध्यात्मिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है।

---

1 श्वेताश्वतरोपनिषद् शा० भा० (6-24), पृ० 263।
2 ब्रह्म सूत्र शां० भा० (2–1–3–11) वही, पृ० 358।
3. 'अहं ब्रह्मास्मि'–बृहदारण्यकोपनिषद् (1–4–10) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।

शंकराचार्य के पाठ्यक्रम में एक तार्किक व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने पाठ्यक्रम का प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक स्तर पर वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण के पीछे उनका तर्क यही है कि छात्र में उत्तरोतर ही ज्ञान के उसस्तर का विकास होता है जिसमें पहुँचकर वह ब्रह्म का पूर्व तादात्म्य प्राप्त कर पाता है। यह ज्ञान का अन्मित (पारमार्थिक) स्तर है। इस पूर्व ज्ञान का व्यावहारिक स्तर होता है जिसमें छात्र ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में नहीं होता है। इसी प्रकार छात्र के ज्ञान का एक ऐसा स्तर भी होता है जहाँ उसका ज्ञान अत्यन्त अविकसित अवस्था में होता है। ऐसे स्तर पर उसे वेदान्त का ब्रह्मतत्त्व सीखाना कठिन होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पाठ्यक्रम तथा पाठ्यविषयों के निर्धारण में आचार्य शंकर ने तार्किक क्रम को तो रखा है किन्तु उनकी इस व्यवस्था में किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक क्रम के दर्शन नही होते हैं। वेद, उपनिषद् गीता, पुराण, ब्रह्मसूत्र तथा धर्म शास्त्र आदि जिन पाठ्य विषयों को अध्ययन-अध्यापन की की दृष्टि से आचार्य शंकर ने पाठ्यक्रम में रक्खा हैं उनमें मनोवैज्ञानिक क्रम का संकलन की दृष्टि से भी अभाव है और शंकर ने भी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।

पाठ्यविषयों के निर्धारण में छात्रों की योग्यता का ध्यान रक्खा गया है। शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान मुक्ति का साधन होने से[1] जीवन में सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। अतः उन्होंने पाठ्यक्रम में वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा अन्यान्य दार्श-निक विचारों के पठन-पाठन को इसलिये रखा है जिससे छात्रों की उन योग्यताओं का विकास हो जो उन्हें मुक्ति प्राप्त कराने में सहायक हों। पाठ्क्रम मे पाठ्य विषयों के निर्धारण में आचार्य शंकर ने छात्रों की योग्यताओ का तो पूरा ध्यान रखा है किन्तु उनकी रुचियों का कोई ध्यान नहीं रखा है। ऐसे छात्रों के लिये उनके पाठ्यक्रम मे किसी विषय का निर्धारण नही किया गया है जिसकी आध्यात्मिक, धार्मिक तथा दार्श-निक रुचि नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य के पाठ्यक्रम में जहाँ छात्रो की योग्यताओं का ध्यान रखा गया है वहाँ उनकी रुचियों का ध्यान नहीं रखा गया है।

पाठ्यक्रम मे विषयों के निर्धारण में आचार्य शंकर का केन्द्र बिन्दु ब्रह्म की अवधारणा रहा है। वेदान्त-शिक्षा मे ब्रह्म-जिज्ञासा का ही सबसे अधिक महत्त्व है।[2] शंकर के अनुसार समस्त शैक्षिक प्रक्रिया का विकास ब्रह्म को केन्द्र बिन्दु मानकर होता है। अतः जितने प्रकार के पाठ्य विषयों का निर्धारण आचार्य शंकर ने किया है उन सबका ब्रह्म की दृष्टि से एकीकरण (इन्टीग्रेशन) हो जाता है।[3] इस प्रकार उनके पाठ्यक्रम में एकीकरण के सिद्धान्त का भी पालन किया गया है।

---

1. "विद्या मोक्ष उपपद्यते।" ब्रह्मसूत्र शां० भा० (3–2–6–29) वही, पृ० 635।
2. "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।" ब्रह्मसूत्र (1–1–1–1) पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य।
3. "अतएव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः।" ब्रह्मसूत्र शा० भा० (2–3–1-5) वही, पृ० 475।

व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से जब आचार्य शंकर विभिन्न प्रकार के विषयों का अध्यय-अध्यापन के लिये निर्धारण करते है तो उनका ध्यान उन पाठ्य विषयों की उपयोगिता पर रहता है छात्र व्यावहारिक स्तर के पाठ्यविषयों का अध्ययन करके ही इस योग्य बनता है कि वह पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्मानुभूति के योग्य होता है।[1] इस प्रकार शंकर ने पाठ्यक्रम निर्धारण और पाठ्य विषयों के चयन में उपयोगिता के सिद्धान्त को महत्त्व दिया है।

आचार्य शंकर ने जिस पाठ्यक्रम की प्रस्तावना की है उसका उद्देश्य छात्रों के आध्यत्मिक एवं धार्मिक विकास का है। उनका पाठ्यक्रम के माध्यम से समस्त प्रयास इसी ओर दिखाई पड़ता है कि छात्र अपना भौतिक विकास ही न करे बल्कि आध्यात्मिक विकास भी करे। इस प्रकार वृद्धि एवं विकास के सिद्धान्त को भी आचार्य शकर ने पाठ्यक्रम-निर्माण में अपनाया है।

भावी शोधकार्य-हेतु सुझाव :

वर्तमान अध्ययन में जगद्गुरु शंकराचार्य को महान् शिक्षा दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। समय एवं साधन की सीमाओं के कारण यह अध्ययन सीमित ही है। अतः आचार्य शकर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का और अधिक अध्ययन होना चाहिये। नीचे कुछ ऐसे क्षेत्रों का संकेत किया जा रहा है जिनमें और अधिक कार्य किया जा सकता है।

आचार्य शंकर ने वेदान्त की शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिये जिन चार पीठों कि स्थापना की थी उनके सम्बन्ध में अनुसंधान की आवश्यकता है। इन पीठों की कार्य-प्रणाली, पाठ्य विषय, शिक्षण-पद्धति, प्रशासनिक व्यवस्था तथा गुरु-शिष्य परम्परा आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हो सकते है जिनकी जानकारी शिक्षा के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

स्वामी शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठो की देख-रेख में अनेक शिक्षा-संस्थाओं का प्रचलन हुआ होगा जैस कि आज भी शृंगेरी पीठ के अधीन चलने वाले संस्कृत विद्या मन्दिर हैं। इसी प्रकार समस्त देश में फैली संस्कृत की शिक्षा-संस्थाएँ किसी सीमा तक आचार्य शंकर की शैक्षिक मान्यताओं से अवश्य प्रभावित हुई होंगी। प्राचीन काल से ही देश में अनेक प्रकार के साधु-समाज तथा संन्यासियों के संगठन राष्ट्रोत्थान-हेतु धर्म के प्रचार-प्रसार में कार्यरत रहें हैं जैसा कि आज भी शांकर दर्शन के उद्भट विद्वान तथा शांकर सम्प्रदाय के संन्यासियों में शिरोमणि स्वामी करपात्री जी महाराज की संस्था 'धर्मसंघ' है। इस संस्था के अन्तर्गत धर्म संघ शिक्षा मण्डल वाराणसी, 1940 से देश के विभिन्न भागों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् शां० भा० (6–1–3) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० 577।

इस संस्था के प्रयास के फलस्वरूप दिल्ली, वृन्दावन, वाराणसी, लखनऊ, द्वारिका चूरु, नरवर, नौहर और श्री गंगानगर आदि स्थानों पर संस्कृत विद्यालय शिक्षा का कार्य कर रहे हैं।[1] आज इस प्रकार की अनेक शिक्षा संस्थाएँ देश के अन्दर कार्य कर रही है जिनमे वेद, उपनिषद्, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि के अध्ययन के साथ कर्म-काण्ड तथा ज्योतिष आदि के शिक्षण की भी व्यवस्था है। आचार्य शकर के शिक्षा-दर्शन की पृष्ठ-भूमि में इन संस्थाओ के अध्ययन से शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान का पता चल सकता है ।

स्वामी शंकराचार्य की व्यवस्था के अनुसार उनके पीठों के प्रधान आचार्य (जिन्हें शंकराचार्य कहा जाता है) वेद-वेदाङ्ग तथा दर्शन शास्त्र एवं विभिन्न विषयों के उच्चकोटि के विद्वान होते है। शंकर से लेकर अद्यपर्यन्त यह आचार्य परम्परा अक्षुण्ण रही है। इस आचार्य परम्परा का पूर्ण विवरण प्रत्येक मठ में मिलता है।[2] इससे यह तथ्य स्पष्ट ही है कि मठो के इन विद्वान आचार्यों की भूमिका धर्म, संस्कृति एवं शिक्षा के क्षेत्र मे अवश्य रही होगी। विभिन्न समयों में इन आचार्यो ने शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित किया होगा। इस प्रकार शंकराचार्य के चारों मठों के आचार्यो का शिक्षा के क्षेत्र मे योगदान का अध्ययन किया जा सकता है।

जगद्गुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध मे स्वामी रामानुजाचार्य, मध्वा-चार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यो ने क्रमशः अपने नए सिद्धान्तों—विशिष्टा द्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की थी। शंकराचार्य की भाँति ये सभी वैष्णव आचार्य भी अपने-अपने युग के महान् शिक्षक एवं उच्चकोटि के शिक्षाविद् रहे है। अतः आचार्य शंकर तथा रामानुजादि वैष्णव आचार्यो के शैक्षिक दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी हो सकता है ।

अद्वैतवादी दार्शनिक विचारकों की सुदीर्घ परम्परा आचार्य शंकर से अद्यपर्यन्त अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। इस परम्परा में सुरेश्वराचार्य (800ई0) पद्मपादा-चार्य (820 ई0) वाचस्पति मिश्र (840 ई0) सर्वज्ञात्म मुनि (900 ई0), आनन्द-बोध भट्टारकाचार्य (12 वी शताब्दी), स्वामी अमलानन्द (13 वीं शताब्दी), स्वामी विद्यारण्य (1330 ई0), मधुसूदन सरस्वती (1600 ई0), ब्रह्मानन्द सरस्वती (17 वीं शताब्दी) तथा महादेव सरस्वती (18 वी शताब्दी) एवं स्वामी कृष्ण बोधाश्रम जी

1. विस्तृत विवरण-हेतु पठनीय-श्रीधर्म संघ महाविद्यालय रजत जयन्ती महोत्सव-स्मारिका, श्रीधर्मसंघ महाविद्यालय रजत जयन्ती समारोह, प्रवन्धक समिति निगम बोध यमुनातट, दिल्ली–6, 1973, पृ० 17–26 ।
2 श्री बलदेव उपाध्याय-श्री शंकराचार्य-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ० 191–211 आचार्यो की परम्परा के लिए द्रष्टव्य ।

(19 वीं 20 वीं शताब्दी), स्वामी करपात्री जी (20 वीं शताब्दी) आदि ऐसे अनेक अद्वैत विचारकों ने अद्वैत सिद्धान्त का मौलिक-चिन्तन करके अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वेदान्त की शिक्षा की दृष्टि से इनका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। इन अद्वैतवादी विचारकों का शैक्षिक दृष्टि से अध्ययन करके उनके शिक्षा दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकता है। शांकर शिक्षा-दर्शन का अन्य अद्वैतवादी विचारकों के शिक्षा-दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी हो सकता है।

आधुनिक युग में भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों में ऐसे बहुत से विचारक हैं जिनके साथ आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्य हेतु नए आयामों की सृजना हो सकती है। भारतवर्ष के आधुनिक युग के प्रसिद्ध शिक्षा-दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रवीन्द्र नाथ टैगोर, महात्मा गाँधी तथा विनोबा भावे आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं कि इन शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों को वेदान्त के शिक्षा-दर्शन ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। आचार्य शंकर के शिक्षा-दर्शन के साथ इन आधुनिक भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक विचारों की तुलना करने से शिक्षा के शोध-क्षेत्र में नयी स्थापनाओं की सम्भावना बढ़ सकती है।

इसी प्रकार पाश्चात्य आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन की विचारधारा और शांकर शिक्षा-दर्शन में पर्याप्त निकटता है। अतः प्लेटो आदि आदर्शवादी शिक्षाविचारकों के साथ आचार्य शंकर के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी। शिक्षा के क्षेत्र में भावी शोधकर्त्ताओं के लिये पाश्चात्य आदर्शवाद तथा शांकर शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सर्वेऽत्र भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत-ग्रन्थ :

1. अथर्ववेद संहिता, सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद, सं० 1987।
2. अग्नि पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
3. अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917।
4. अद्वैत चन्द्रिका (सुदर्शनाचार्य कृत) महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, 1920।
5. अपरोक्षानुभूति (शंकराचार्य कृत) गीता प्रेस गोरखपुर, सं० 2017।
6. आत्मबोध (शंकराचार्य कृत) रामा स्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, एस्प्लेनेड मद्रास, 1920।
7. ईशावास्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस. गोरखपुर, सं० 2026।
8. उपदेश साहस्री (शंकराचार्य कृत) भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी–1, 1954।
9. ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना–9, 1972।
10. ऐतरेयोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2025।
11. ऐतरेय ब्राह्मण, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
12. ऐतरेयारण्यक, वाणी विलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
13. केनोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2028।
14. कठोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2028।
15. कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक, वाणी विलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
16. केवल्योपनिषद्, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
17. गरुड पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
18. चिद्गगन चन्द्रिका (कालिदास कृत) आगमानुसंधान समिति, कलकत्ता, 1937।
19. चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श: (स्वामी करपात्री कृत) धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1976।

20\. a. छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, स०2028।

20\. b. तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखाचार्य कृत), षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी, 1974।

21.a. तैत्तिरीयोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2029 ।
21.b. तैत्तिरीयसंहिता (कृष्ण यजुर्वेदीय सायणभाष्य), श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1981 ।
22. तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942 ।
23. दशश्लोकी (शंकराचार्यकृत) चौखम्बा, वाराणसी, सं० 1985 ।
24. दृग्दृश्यविवेक (भारतीतीर्थ कृत) बुद्धि सेवाश्रम, रतनगढ़, सं० 2011 ।
25. दुर्गासप्तशती, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2032 ।
26. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, रामास्वामी शास्त्रुलु एण्ड संस, एस्प्लेनेड, मद्रास, 1920 ।
27. नृसिंहतापनीयोपनिषद् (शांकर भाष्य) वाणी विलास संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942 ।
28. निघंटु, वाणी विलास, संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942 ।
29. निरुक्त, वाणी विलास, संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942 ।
30. पद्मपुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
31. प्रश्नोत्तरी (शंकराचार्यकृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं०2026 ।
32. प्रश्नोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2026 ।
33. पंचतन्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1, 1968 ।
34. पंचदशी (विद्यारण्यकृत) बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ, सं० 2011 ।
35. ब्रह्म पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
36. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
37. ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, सं० 2028 ।
38. ब्रह्मसिद्धि (मण्डनमिश्रकृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917 ।
39. ब्रह्मविद्याभरण (अद्वैतानन्दकृत) बी० जी० पाल एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1950 ।
40. भामती (वाचस्पति मिश्र कृत) निर्णय सागर, बम्बई, 1917 ।
41. भविष्य पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
42. महानारदीय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
43. मार्कण्डेय पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
44. महाभारत, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
45. माण्डूक्योपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, स० 2013 ।
46. माण्डूक्यकारिका (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, स०2030 ।
47. मानमेयोदय, अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली, काशी, 1912 ।
48. मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सं० 2036 ।
49. यजुर्वेद संहिता (उवटमहीधरभाष्य) मोतीलाल, बनारसीदास, जवाहर नगर, दिल्ली, 1971 ।

50. रत्नप्रभा टीका (गोविन्दानन्द कृत) निर्णयसागर, बम्बई, 1917 ।
51. बृहदारण्यकोपनिषद् (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं०2029 ।
52. वेदान्त परिभाषा (धर्मराजाध्वीन्द्र कृत), कल्याण, बम्बई, सं०1999 ।
53. विष्णुसहस्रनाम (शांकर भाष्य) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2028 ।
54. वाजसनेय संहिता, वाणी विलास, संस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, 1942 ।
55. वामन पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
56. वराह पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
57. विष्णु पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
58 बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक (सुरेश्वराचार्य कृत), गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
59. विवेक चूडामणि (शंकराचार्य कृत) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 20 0 ।
60. वाक्य सुधा (शंकराचार्यकृत) दामोदर शास्त्री सम्पादित, बनारस, 1901 ।
61. a. वेदस्वरूप विमर्श: (स्वामी करपात्री कृत) धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1976 ।
61. b. वेदार्थपारिजात (स्वामी करपात्री कृत) श्री राधा[illegible] प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1979 ।
62.a. वेदान्तसार (सदानन्द कृत)साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ शहर, 1964 ।
62.b. व्यास शिक्षा, वेदमीमांसा मीमांसानुसंधान केन्द्र, वाराणसी, 1976 ।
63. शंकर विजय (व्यासाचलकृत) मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्यूस्क्रीप्ट्स सीरिज–24, 1954 ।
64. श्री शंकर दिग्विजय (माधवकृत) श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार, सं० 2000 ।
65. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, स० 2008 ।
66. श्वेताश्वतरोपनिषद्, शांकर भाष्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2017 ।
67. शतपथ ब्राह्मण, वाणी विलास, संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी, 1942।
68. श्रीमद्भागवत पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956 ।
69. शिव संहिता, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं०2008 ।
70. शंकर विजय (आनन्दगिरी कृत) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917 ।
71. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह: —सम्पादक एच० आर० भगवत्, पूना शहर, 1925 ।
72. सिद्धान्तलेश संग्रह (अप्पयदीक्षितकृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं० 2011 ।

73. सिद्धान्तबिन्दु (मधुसूदन सरस्वतीकृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, 1932।
74. सर्वदर्शन-संग्रह (माधवाचार्यकृत) अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं॰2011।
75. सौन्दर्य लहरी (शंकराचार्यकृत) श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी, संन्यास आश्रम, नारायण कुटी, देवास (मध्य प्रदेश), सं॰ 2015।
76. स्कन्द पुराण, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1956।
77. सामवेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, औन्ध नगर (सतारा प्रदेश), सं॰ 1996।
78. सकलाचार्यमत सग्रह (रत्नगोपाल भट्ट द्वारा सम्पादित) चौखम्बा बुक डिपो, बनारस, 1960।
79. स्तोत्र रत्नावली, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2022।
80. संक्षेप शारीरकम् (सर्वज्ञात्ममुनिकृत), वेद मन्दिर, अहमदाबाद, सं॰ 2014।

(ख) अंग्रेजी के ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

1. Adems, John, The Evolution of Educational Theory, MacMillan and Comany, London, 1915.
2. Blanshard and others, Philosophy in American Education, New York, Harper and Bros., 1945.
3. Butler, J. Donald, Four Philosophies and their practice in Education and Religion, New York, Harper and Row Publishers, Evanston and London, 1957.
4. Bogoslovaky, B,B , The Ideal School, New York, The Macmillan Company, 1936.
5. Broudy, Harrys, Bulding a Philosophy of Education, New York, Prentic-Hall. Inc , 1954.
6. Briggs, B.H., Curriculum Problems, New York, The Macmillan Co., 1927.
7. Brubacker, Johns, Modern Philosophies and Education, Chicago, University of Chicago Press, 1955.
8. Buford, Thomas O, Toward a Philosophy of Education, New York, Chicago, San Francisco, Atlanta, Dallas, Montreal, Toronto, London, Syney, Holt, Rinehart and Winston, Inc., 1969.
9. Butler, J. Donald, Idealism in Education, New York, Harper and Row, 1966.
10. Brown, L.M., General Philosophy in Education, MC Graw Hill, 1966.

11. Buch, M.B., Editor, A Survey of Research In Educntion, M.S. University of Baroda, 1974.
12. Belvelkar, S.K., Vedanta Philosophy (Lecture VI) Bilva-kunja Publishing House, Poona, 1929.
13. Chaube, S.P., Some Foundations and Guidelines of Modern Education, Ram Prasad and Sons, Agra–3, 1975.
14. Cunningham, G.M., Problems of Philosophy, New York, Henry Holt & Co., 1924.
15. Campbell, C.A., Selfhood & Godhood (Philosphical) Allen & Unwin, 1957.
16. Carl Capller, Sanskrit English Dictionary, London, 1890.
17. Das Gupta, S.N., Indian Philosophy Vol. I, Cambridge University Press, 1951.
18. Deussen, Pal, The Philosophy of Vedanta, Sushila Gupta, Calcutta, 1957.
19. Dewey, John, Democracy & Education, New York, The Macmillan Co., 1916.
20. Dewey, John, Experience and Education, New York, Collier Books, 1963.
21. Dewey, John, The School of Society, Chicago, Uni. of Chicago Press, 1915.
22. Demos, Rapheel, The philosophy of Plato, New York, Charles Scribner's Sons, 1939.
23. Descartes, Rene, Discourse on Method, Translated by John Veitch Ca Salle, ill, The Open Court Publishing Co. 1945.
24. Froebel, F.W.A·, The Education of Man. Translated and Annotated by W.N. Hailman, New York, D. Appleton & Co. 1899.
25. Fichte, J.G., Addresses to the German Nation. Translated by R.F. Janer and G.N. Turntill, The open Court Publishing Co. London, 1922.
26. Gcntile, Giovanni, The Reform of Education. Authorised translation by Dion Bigongiari, New York, Harcourt, Brace and Co., 1922.
27. Herbart, J.P., Allgenmeine Padagogik, Translated under the title 'The Science of Education' by H.M. & E. Felkil (London Swan Sonnenschien Co., 1904).

28. Huxley, Aldous—Ends & Means, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1952.

29. Horne, H.H., The Philosophy of Education, Revised Edition, New York, The MacMillan Co., 1927.

30. Horne, H.H., This New Education, New York, The Abingdon Press, 1931.

31. Horne, H.H., The Psychological Principles of Education, New York, The MacMillan Co., 1908.

32. Hegal, G.W.F., Lectures on the Philosophy of Religion. Translated by E.B. Speirs and J.B. Sanderson London, Kegan Paul, Trench, Trubner & Co., Ltd., 1895.

33. Hocking, William E., The Self, Its Body and Freedom, New Haven, Yake Uni. Press, 1928.

34. Hocking, William E., Types of Philosophy, New York, Charles Scribner's Sons, 1929.

35. Hook, Sidney, Education for Modern Man, New York, Alfred A. Knopf, 1963.

36. Horne, H.H., The Idealism in Education, New York, The Macmillan Co., 1910.

37. Horne, H.H., The Democratic Philosophy of Education, New York, The Macmillan Co., 1932.

38. Hegal, G.W.F., Encyclopedia of Philosophy, Translated and annotated by Gustav E. Mueller, New York, Wisdom Library, 1959.

39. James, William, Pragmatism, New York, Longmans, Green & Co., 1907.

40. Jha, Ganga Nath, Shankara Vedanta, Allahabad University, 1939.

41. Kabir, Humayun, Indian Phillosophy of Education, Asia Publishing House, Bombay, 1961.

42. Keatinge, M.W., The Didactic of John Amos Comenious, Adom and Charles Black, London, 1896.

43. Kilpatrick, Willam H., 'The Project Method', Teachers College Record, (1918).

44. Kant, Immanuel, The Critique of Pure Reason, Translated by J M.D. Meiklejohn Revised Edition, London and New York, The Colonial Press, 1900.

45. Kant, Immanuel, Fundamental Prineiples of the Metaphysics of Ethics. Translated by Otto Manthy Zorn, New York, D. Applition-Century Company, 1938.

46. Kant, Immanuel, The Critque of Practical Reason, Translated by L.W. Beck, Chicago Uni. of Chicago Press, 1949.

47. Kirtikar, V.J., Studies in Vedanta, Taraporevala and Co., 1924.

48. Keith A.B., A History of Sanskrit Literature, Oxford Uni. Press, London, 1928,

49. Lucas, Christopher J., What is Philosophy of Enucation ? Toronto, Collier-Macmillan, 1969.

50. Lodge, R.C., Plato's Theory of Education, Routledge & Kegan Paul, 1947.

51. Majumdar, R.C , The Age of Imperial Kanauj, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1955.

52. Maxmuller-Three Lectures on the Vedanta Philosophy, Longman's Green, London, 1894.

53. Thomson, M.M., The Educational Philosophy of Giovanni Gentle, Los Angeles, Uni. of Southern California Press, 1934.

54. Monroe, Paul, A Brief Course in the History of Education, New York, Macmillan, 1907.

55. Monroe, Paul, Text Books in the History of Education, Macmillan, 1925.

56. Mookerji, R.K., Ancient Indian Education, S.L. Jain, M L. Banarsi Dass, Benglow Road, Jawahar Nagar, Delhi-6, 1960.

57. Magee, John B., Philosophical Analysis in Education, New York, Harper & Row, 1971.

58. Mahadevan, T.M.P., The Philosophy of Advaite, Madras, Ganesh & Co. Pvt. Ltd., 1957.

59. Nehru, J.L., Glimpses of World Hitory, Guildford Place, London. W.C.I., 1949.

60. Nunn, T.P., Education, Its Data and First Principles, Edward & Co., London, 1930.

61. New Essays in the Philosophy of Education, Edited by Glenn Langford and D.J.O. Connor, Routledge and Kegan Paul London & Boston, 1973.

62. O' Connor, D J., An Introduction to the Philosophy of Education, London, Routledge and Kegan Paul, 1957.
63. Patel, M.S., The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, Navajivan Publishing House Ahmedabad, 1956.
64. Peters, R.S., Ethics and Education, Glenview, Illinois, Scott, Foresman and Co., 1967.
65. Phenix, P.H., Philosophy of Education, Henry Holt and Co. New York, 1958.
66. Peters, R.S., The Concept of Education, Routledge and Kegan Paul, 1967.
67. Plato—Republic, Translated by D.M. Conford, Oxfor Uni. Press, 1941.
68. Rusk, R.R., The Philosophlcal Bases of Education, Uni. of London Press, 1956.
69. Ross, J.S., Ground Work of Educational Theory, George, G. Harrap & Co., 1949.
70. Radhakrishanan, Indian Philosophy, Vol. II, London, Allen & Unwin, 1960.
71. Raymount, T., The Principles of Education, Orient Longmans, 1949.
72. Russell, Bertrand, Principles of Social Reconstruction, George Allen & Unwin Ltd , London, 1960.
73 Rousseau, J.J.. Emile, New York, Dent, 1940.
74. Reid, Louis Arnaud, Philosophy & Education, Heinemann Educational Books Ltd. 48 Charls Street, London, W,X 8 AH & the English Language Book Society, 1973.
75. Russell, Bertrand, A History of Western Philosohy, Allen & Unwin, London, 1946
76. Ranade, R.D., A Constructive Survey of Upnishadic Philodophy, Oriental Book Agency, Poona, 1926.
77. Raju, P.T., Idealistic Thought of India, London, Allen & Unwin, 1952.
78. Sri Aurobindo, A System of National Educational, Arya Publishing House, Cal., 1948.
79. Sri Aurobindo, The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo Library Inc. Now York, 1950.
80. Sri Aurobindo, Essays on the Gita, Arya Publishlng House, Calcutta, 1949.

81. Spencer, Hurbert, Education, Intellectual, Moral and Physical, New York, D. Appletion & Company, 1989.
82. Schofield, Harry, The Philosophy of Education, London, George Allen & Unwin Ltd., 1972.
83. Scheffler, Isreal, Philosophy & Education, Allen & Decon, 1966.
84. Shastri, N.,A Study of Shankar, Calcutta, 1942.
85. Shastri,Mahadeva,Vedanta Doctrine ofSri Shankaracharya Rama Swami Sastrulu & Sons, Esplanade, Madras, 1920.
86. Tomlin, E.V.F., The Great Philosophers (The Eastern World) Skeffington London, 1952.
87. The Future of Education in India, The Publications Division, Ministry of Infor mation & Broadcasting Govt. of India, 1956.
88. The Dialogues of Plato Trans. by Benjamin Jowett, 4th Ed., 1953, Revised by D.J. Allen & H.E. Dale, Vol. I (Symposium, Meno, Phaedo) Vo. II (Republic) Voll. III (Theatctus) by permission of Clarendon press, Oxford.
89. Upadhyay, V.P., Lights on Vedanta, Chaukhamba Sanskrit Series Varanasi, 1952.
90. Verma, M., The Philosophy of Indian Education, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969.
91. Wild, John , "Education and Human Society, A Realistic View", in Nelison B. Henry (Editor), Modern Philosophies and Education, Chicago University of Chicage, 1955.
92. Wingo, G. Max, Philosophies or Education, An Introducation, Sterling Pnblishers Private Limited AB 19 Safdarjang Enclave New Dhelhi, 1975.
93. Whitehead, A.N., The Aims of Education, New York, The New American Library of World Literature,Inc ,1961.
94. Winternitz, History of Indian Literature, Vol. IInd M. University of Calcutta, 1933.
95. Yesipov, B.P., and Goncharov, N.K., I want to be Like Stalin, New York, The John Day Company, 1947.
96. Report on the Search for Sanskrit MSS, 1882.
97. Report of Secondary Education Commission, 1952.
98. Report of All India Oriental Conference, Kurukshetra University, 1974.

99. Astrological Magazine, June 1964, Raman Publications, Bengalore—20.
100. Darashana International (Quarterly), January, 1976, Moradabad.
101. Gandhi, M. K., Harizan, Ahmedabad, 29-8-1936 & 31-7-37.
102. Gandhi, M.K., Young India, 25-9-1924 & 8-9-1927.
103. Indian Antiquary VII, Oct. 1933.
104. Indian Historical, Quarterlly 1920 & 1928.
105. Journal of Oriental Research, Madras, 1927.
106. Journal of Royal Asiatic Society, 1925.
107. Indian Thought, 1907, Edited by Thibout and Ganganath Jha.
108. Sankara Jayanti (Souvenir 1966), The Sankara Academy of Sankrit Culture and Classical Arts (Reg.) New Delhi

(ग) हिन्दी-ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी-5, 1971।
2 आचार्य बलदेव उपाध्याय—श्री शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1963।
3 उमादत्त शर्मा—शंकराचार्य, कलकत्ता, सं० 1983।
4. उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन–हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964।
5. गगाप्रसाद उपाध्याय, अद्वैतवाद, कला प्रेस, प्रयाग, 1957।
6. दौलतसिंह कोठारी—शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964-66) शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, 1968।
7 (डा०) देवराज–भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1950।
8. पुरषोत्तम नागेश ओक—'भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें', कौशल पाकेट बुक्स, दिल्ली–7, 1961।
9. a. (डा०) भीखनलाल आत्रेय—योग वाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त, तारा प्रिन्टिंग वर्क्स, बनारस, 1957।
9 b पं० माधवाचार्य शास्त्री—परतत्त्वदिग्दर्शनम्, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली सं० 2020।

9.c. पं० माधवाचार्य शास्त्री—वेद दिग्दर्शन, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली, सं०2030।

9.d. पं० माधवाचार्य शास्त्री—धर्मदिग्दर्शन, 103 ए, कमला नगर, दिल्ली, सं० 2020।

10. (डा०) राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य, साहित्य भण्डार, सुभाप बाजार, मेरठ, 1964।

11. (डा०) राममूर्ति शर्मा, अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, दिल्ली–6, 1972।

12. (डा०) रामशकल पाण्डेय—बर्ट्रेण्ड रसेल का शिक्षा-दर्शन, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1974।

13. (डा०) रामशकल पाण्डेय—शिक्षा के मूल सिद्धान्त, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1975।

14. (डा०) रामशकल पाण्डेय—शिक्षा-दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा. 1972।

15. (डा०) रामानन्द तिवारी—श्री शंकराचार्य का आचार-दर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० 2006।

16. (डा०) राधाकृष्णन्—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6, 1970।

17. (डा०) राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 1969।

18. विवेकानन्द संचयन—श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1974।

19. विनोबा–उपनिषदों का अध्ययन, सस्ता साहित्य मण्डल, 1961।

20. (डा०) सरयू प्रसाद चौबे—भारतीय शिक्षा का इतिहास, रामनारायण लाल, बैनीमाधव इलाहाबाद, 1959।

21. स्वामी करपात्री— विचार पीयूष, श्री सन्तशरण वेदान्ती, प्रचार मन्त्री, अ०भा० रामराज्य परिषद्, वाराणसी, 1975।

22 a. स्वामी करपात्री–मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं० 2023।

22 b. स्वामी करपात्री–भक्ति सुधा, श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980।

23. स्वामी दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1971।

24. स्वामी विवेकानन्द—व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1974।

25. स्वामी विवेकानन्द—प्राच्य और पाश्चात्य, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1971।

26. स्वामी विवेकानन्द—शिक्षा, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1971।
27. स्वामी परमान्द—शंकराचार्य का जीवन-चरित्र, खेमराज, बम्बई, 1913।
28. उपनिषद् अंक (कल्याण) गीता-प्रेस, गोरखपुर, जनवरी, 1949।
29. उपनिषद् अंक (विश्व ज्योति) विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, जून-जौलाई, 1976।
30. गंगा विशेषांक (धर्मयुग), टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस, बम्बई, 22 मई 1977।
31. धर्मशास्त्र अंक (विश्वज्योति) उपर्युक्त, अप्रैल-मई 1974 तथा जून-जौलाई 1974।
32. नवभारत टाइम्स, टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस, प्रकाशन, नई दिल्ली, दिनांक 29–9–1976, 13-1-1977, 20-1-1977।
33. वेदान्त अंक (कल्याण) गीता-प्रेस, गोरखपुर, सं०1993।
34. शंकरांक (गीता धर्म) काशी, मई, 1936।
35. श्री धर्मसंघ महाविद्यालय रजत जयन्ती महोत्सव स्मारिका, श्री धर्मसंघ महाविद्यालय दिल्ली रजत जयन्ती महोत्सव प्रबन्धक समिति, निगमबोध यमुना तट, दिल्ली–6, 1973।
36. शिक्षा अंक (विश्वज्योति) विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, अप्रैल, 1968।
37. "सौभाग्य विशेषांक", श्रीमानव कल्याण आश्रम कनखल (हरिद्वार) 1973।

परिशिष्ट- 1

भारतीय दर्शन के उद्भट विद्वान् तथा धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी से साक्षात्कार का विवरण।

साक्षात्कार कर्ता—शोधकर्ता।

स्थान—वृन्दावन विहारीधाम काशी।

दिनाँक—23-8-1975 से 25-8-1975।

प्रश्न—शिक्षा का क्या अर्थ है?

उत्तर—किसी विषय के विशेषज्ञ का अपने वाग्व्यवहार अथवा आचरण द्वारा अपने विशेष ज्ञान-विज्ञान को श्रोता के अन्तःकरण में संक्रान्त करना शिक्षा है।

प्रश्न—शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?

उत्तर—जैसी शिक्षा की कल्पना होती है वैसे ही उसके उद्देश्य होते हैं। दृष्टि से शिक्षा विविध प्रकार की होती है जैसे पाणिनीय शिक्षा, पूर्व मीमांसा की शिक्षा तथा उत्तर मीमांसा (वेदान्त) की शिक्षा इत्यादि। व्याकरण की शिक्षा उद्देश्य पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा की शिक्षा से भिन्न होंगे किन्तु आज की शिक्षा का क्षेत्र व्यापक होने से वर्तमान में शिक्षा के उद्देश्य प्राचीनकाल से भिन्न हो गये है। आज शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—नागरिकों को विनीत बनाना। उनकी बुद्धि को परिष्कृत करना इत्यादि। आचार्य शंकर ने श्रौत-स्मार्त धर्म के आधार पर शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया था। अतः उनके अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति होना चाहिए।

प्रश्न—जगद्गुरू शंकराचार्य के अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थी का स्वरूप क्या है? उन्होंने दोनों के सम्बन्ध का निर्धारण किस प्रकार किया है?

उत्तर—वेदान्त में परमात्मा के साक्षात्कार में एकाग्र मन मुख्य कारण है। वेदान्त वाक्यों (तत्त्वमसि आदि) की भी ब्रह्मज्ञान में प्रधानता है। वेदान्त वाक्यों को पुस्तकों से नहीं गुरू परम्परा से ही प्राप्त करना चाहिये। अतः वेद का एक नाम अनुश्रव है—जो गुरू परम्परा से सुना जाता है। जो शास्त्रों का अर्थ (शिष्य में) संक्रमण करे और उसे स्वयं व्यवहार में लाये तथा शिष्य से उसका व्यवहार कराए वह आचार्य है। इसी प्रकार जो उपनयन आदि संस्कार करके ब्राह्मणादि को शौचाचार आदि सिखाए वह आचार्य है। जो (चतुष्ट्य) साधन सम्पन्न हो वही शिष्य है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र (1-1-1) के भाष्य में भगवान् भाष्यकार (श्री शंकराचार्य) ने साधन चतुष्ट्य के सम्बन्ध में सब कुछ लिख दिया है। गुरू शिष्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी ने कहा—आचार्य साक्षात् ईश्वर है। शतश्लोकी में आचार्य शंकर ने कहा है कि गुरू के लिए कोई दृष्टान्त नहीं है। गुरू

परिशिष्ट- 1

भारतीय दर्शन के उद्भट विद्वान् तथा धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी से साक्षात्कार का विवरण।

साक्षात्कार कर्ता—शोधकर्ता।

स्थान—वृन्दावन विहारीधाम काशी।

दिनांक—23-8-1975 से 25-8-1975।

प्रश्न—शिक्षा का क्या अर्थ है ?

उत्तर—किसी विषय के विशेषज्ञ का अपने वाग्व्यवहार अथवा आचरण द्वारा अपने विशेष ज्ञान-विज्ञान को श्रोता के अन्तःकरण में संक्रान्त करना शिक्षा है।

प्रश्न—शिक्षा के उद्देश्य क्या है ?

उत्तर—जैसी शिक्षा की कल्पना होती है वैसे ही उसके उद्देश्य होते हैं। दृष्टि से शिक्षा विविध प्रकार की होती है जैसे पाणिनीय शिक्षा, पूर्व मीमांसा की शिक्षा तथा उत्तर मीमांसा (वेदान्त) की शिक्षा इत्यादि। व्याकरण की शिक्षा उद्देश्य पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा की शिक्षा से भिन्न होंगे किन्तु आज की शिक्षा का क्षेत्र व्यापक होने से वर्तमान में शिक्षा के उद्देश्य प्राचीनकाल से भिन्न हो गये हैं। आज शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—नागरिकों को विनीत बनाना। उनकी बुद्धि को परिष्कृत करना इत्यादि। आचार्य शंकर ने श्रोत-स्मार्त धर्म के आधार पर शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया था। अत: उनके अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धमार्थकाममोक्ष को प्राप्ति होना चाहिए।

प्रश्न—जगद्गुरू शंकराचार्य के अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थी का स्वरूप क्या है ? उन्होंने दोनों के सम्बन्ध का निर्धारण किस प्रकार किया है ?

उत्तर—वेदान्त में परमात्मा के साक्षात्कार में एकाग्र मन मुख्य कारण है। वेदान्त वाक्यों (तत्त्वमसि आदि) की भी ब्रह्मज्ञान में प्रधानता है। वेदान्त वाक्यों को पुस्तकों से नहीं गुरू परम्परा से ही प्राप्त करना चाहिये। अत: वेद का एक नाम अनुश्रव है—जो गुरू परम्परा से सुना जाता है। जो शास्त्रों का अर्थ (शिष्य में) संक्रमण करे और उसे स्वयं व्यवहार में लाये तथा शिष्य से उसका व्यवहार कराए वह आचार्य है। इसी प्रकार जो उपनयन आदि संस्कार करके ब्राह्मणादि को शौचाचार आदि सिखाए वह आचार्य है। जो (चतुष्टय) साधन सम्पन्न हो वही शिष्य है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र (1-1-1) के भाष्य में भगवान् भाष्यकार (श्री शंकराचार्य) ने साधन चतुष्टय के सम्बन्ध में सब कुछ लिख दिया है। गुरू शिष्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी ने कहा—आचार्य साक्षात् ईश्वर है। शतश्लोकी में आचार्य शंकर ने कहा है कि गुरू के लिए कोई दृष्टान्त नहीं है। गुरू

पारस से बढ़कर है क्योंकि उसे छूकर शिष्य ब्रह्मरूप हो जाता है। वह तो दीपक है जिससे जलकर अन्य दीपक, दीपक बन जाता है। अतः शिष्य के लिए गुरू पूजनीय एवं वन्दनीय होने से वेदान्त में यह श्लोक बहु प्रचलित है—

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूस्साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

प्रश्न—आध्यात्मिक शिक्षा को आचार्य शंकर ने किस रूप में स्वीकार किया है ?

उत्तर—वेदान्त में आत्मा का वास्तविक रूप प्रकट करना आध्यात्मिक शिक्षा है। अतः लोक में प्रसिद्ध आत्मा का संशोधन करके आत्मा-अनात्मा का निरुपण शंकराचार्य के अनुसार वास्तविक शिक्षा है। वस्तुतः परब्रह्म का साक्षात्कार आत्म-रूप से ही हो सकता है। इस प्रकार आचार्य शंकर आत्मा और परमात्मा को अभिन्न मानकर इस अभेद की अनुभूति को ही आध्यात्मिक शिक्षा कहते हैं। परमार्थतः ब्रह्म निर्गुण, निराकार एवं निर्विकार, सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद शून्य है किन्तु उपासना के लिए उसका सगुणरूप—कृष्ण, विष्णु, राम तथा शिव आदि भी मान्य है। अतः भगवान् शंकराचार्य ने आध्यात्मिक शिक्षा में वेद तथा वर्णाश्रम धर्म सम्मत उपासना, निष्काम कर्म एवं साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान आदि का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न—धार्मिक शिक्षा के प्रति आचार्य शंकर का क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर—आचार्य शंकर को पूर्व मीमांसाकार महर्षि जैमिनी का धर्म के प्रति दृष्टिकोण मान्य है। अर्थात् शास्त्रविहित अर्थ ही धर्म है और शास्त्र निषिद्ध अर्थ धर्म नहीं है। इसीलिए गीता के सोलहवे अध्याय के अन्त में शास्त्र द्वारा ही धर्माधर्म का निर्णय करने की बात कही गई है। इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार व्यक्ति के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहंकार की हलचल धर्म है। अतः धार्मिक शिक्षा में आश्रम धर्म और वर्ण धर्म का ही महत्त्व है। धर्म में निष्काम कर्म, भगवदुपासना तथा ब्रह्म साक्षात्कार तीनों ही के लिए आचार्य शंकर ने प्रबल आग्रह का प्रदर्शन किया है। इस प्रकार भगवान् शंकराचार्य की धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य है—व्यक्ति एवं समाज को निषिद्ध कर्मों से रोककर विहित कर्मों में निष्काम भाव से लगाना और ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर उन्मुख करना।

प्रश्न—शांकर शिक्षा में पाठ्यक्रम का क्या स्वरूप है और पाठ्यविषयों का निर्धारण किस प्रकार किया गया है ?

उत्तर—जिससे वेदान्त के सिद्धान्त समझने में (छात्र को) सुविधा हो वही पाठ्यक्रम है। अतः वेदान्त-परिभाषा, पंचदशी, सांख्यतत्त्व कौमुदी, तर्कसंग्रह तथा मुक्तावली का बोध होने पर ही वेदान्त की शिक्षा में प्रवेश मिलना चाहिए। फिर उपनिषद् (शांकर भाष्य सहित) फिर ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य सहित) फिर गीता

(शांकर भाष्य सहित)। तत्पश्चात् माण्डूक्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के शांकर भाष्य पढ़ाये जाने चाहिए। इतना पढ़ लेने पर छात्र शंकर-प्रणीत स्तोत्र ग्रन्थ, उपदेश-साहस्री विवेक चूडामणि तथा प्रपञ्चसार आदि का अध्ययन करे। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित अपरा विद्या के अन्तर्गत वे सारे ग्रन्थ आ जाते हैं जिनको पाठ्यक्रम में रक्खा जाना चाहिए। वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य में कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों का उल्लेख किया है। कर्मकाण्ड का प्रतिपादन संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में हुआ है और बृहदारण्यकोपनिषद् इत्यादि में ब्रह्मकाण्ड का विवेचन हुआ है। इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार उन सभी विषयों को पाठ्यक्रम में रक्खा जाना चाहिए जिनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड दोनों से ही है।

यतिचक्र चूडामणि अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

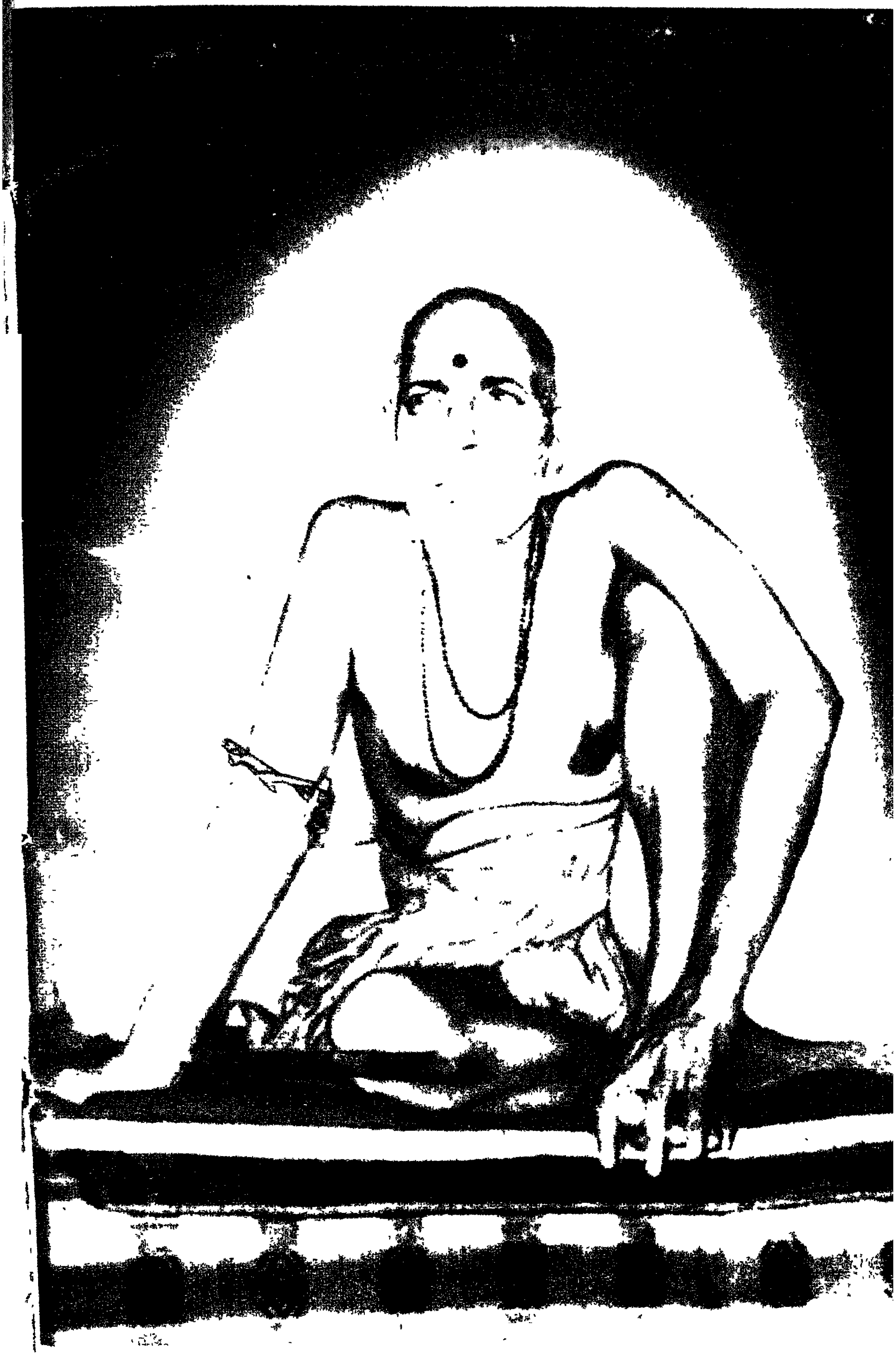

परिशिष्ट 2

अनन्त श्री विभूषित श्रीमद्-जगद्‌गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठधीश्वर स्वामी स्व-रूपानन्द जी सरस्वती महाराज से [illegible] का विवरण।

साक्षात्कार-कर्त्ता—शोधकर्त्ता ।

स्थान—श्री कृष्ण बोधदण्डी आश्रम, जादूगिर का बाग, मेरठ नगर।

दिनांक—24–6–1976 ।

प्रश्न —आधुनिक संदर्भ में शांकर शिक्षा-दर्शन की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर (1) भौतिक दिशा में प्रगति की तीव्रता के लिये आतुर मानव समाज आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर न हो तो मानसिक अस्थिरता के कारण भौतिक समृद्धि अभिशाप बन जाती है। अतः हमें देश के महान् अध्यात्म तत्ववेत्ता तथा विश्व कल्याण के मार्ग दर्शक भगवान् शंकराचार्य के सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहिए।

(2) वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा का आचार्य शंकर ने जीवन भर प्रचार-प्रसार किया। ये दोनों ऐसे माध्यम हैं जिनसे विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न प्रदेशों के निवासी तथा विभिन्न प्रकार की आस्थाओं एवं मान्यताओं वाले भारतीयों को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है—"भगवद्‌गीता किञ्चिदधीता गंगा जल लव कणिका पीता। सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा तस्य यमः कि कुरुते चर्चाम्" (चर्पटपञ्जरिका-स्तोत्रम्)—भगवान् शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित भगवद् गीता, गंगा जल एवं भगवान् श्री कृष्ण की अर्चना पर दक्षिण-उत्तर और पूर्व-पश्चिम सभी एक हो जाते हैं। यह एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा समस्त विभिन्नताओं का अन्त होकर एकता की स्थापना हो सकती है। हम सभी जानते है कि नेपाल भौगोलिक तथा राजनैतिक दृष्टि से एक पृथक् प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र है किन्तु वहाँ के आराध्य भगवान पशुपतिनाथ हम भारतीयों के लिये अर्चनीय हैं तथा यहाँ के भगवान् बद्रीनारायण, रामेश्वर और जगन्नाथ भगवान् उनके लिये पूजनीय हैं। इसी प्रकार देशवासियों में सांस्कृतिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक आधार पर देश प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भाव का विकास होता है।

(3) देश की चारों दिशाओं में उनके द्वारा स्थापित चारों मठों से भारत-माता के भव्य चित्र की सृजना हो उठती है। भारत चीन सीमा विवाद के समय चीन द्वारा हिमालय पर अपना दावा किया जाने पर और उसके द्वारा मैक मोहन रेखा को अस्वीकार किये जाने पर पौराणिक सन्दर्भ तथा महा कवि कालिदास के हिमालय वर्णन आदि के श्लोकों को ढूंढा गया था। इस प्रकार आचार्य शंकर द्वारा स्थापित

प्रश्न—शिक्षा के उद्‌देश्य क्या हैं ?

उत्तर—शिक्षा संस्कार को कहते हैं। व्यक्ति की उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी खान मे से निकले हीरे की। जब तक उस पर खराद करके पालिश इत्यादि नहीं हो जाती है तब तक उसका अधिमूल्यन नहीं हो पाता है। ठीक यही स्थिति मनुष्य की है। शिक्षा उसका संस्कार करती है। अतः मनुष्य को योग्य नागरिक बनाना शिक्षा का उद्‌देश्य है। सद् शिक्षा से सद् विचार, सद् विचार से सद् इच्छा, सद् इच्छा से सद् प्रयत्न और सद् प्रयत्न से सद्‌कार्य होते है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति का अभीष्ट दिशा में निर्माण करके उसमें योग्य नागरिकता का सम्पादन करती है। आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा का उद्‌देश्य व्यक्ति को श्रेय (पारलौकिक अभ्युदय) और प्रेय (इहलौकिक उन्नति) प्राप्त कराना है।

प्रश्न—जगद्‌गुरु शंकराचार्य के अनुसार आध्यात्मिक एवं धार्मिक शिक्षा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—शिक्षा धर्म का अंग है। शंकराचार्य जी के अनुसार धर्म के बाहर कुछ नहीं है। धर्म के अन्तर्गत वह सब कुछ है जो मानव कल्याण के लिए उपयोगी है। इसी प्रकार आध्यात्मिकता जीवन का मूलभूत आधार है क्योंकि अपने अन्दर तथा समस्त जगत् के भीतर विद्यमान् एक आत्मतत्त्व को स्वीकार करना अध्यात्म है। केवलमात्र नाम से संकीर्तन कर लेना धर्म नहीं है बल्कि आत्मतत्त्व की अनुभूति करना धर्म का सर्वोच्च लक्ष्य है। अतः शांकर शिक्षा का स्वरूप धार्मिक तथा आध्यात्मिक है।

प्रश्न—शिक्षक-शिक्षार्थी के सम्बन्धों को शाँकर शिक्षा दर्शन में किस प्रकार स्वीकार किया गया है ?

उत्तर—आजकल विद्यालय अपने उत्तरदायित्व (शिक्षादान) से पराङ्मुख हैं। कक्षा में भली भाँति शिक्षण न होने से छात्र को व्यक्तिगत शिक्षण के लिये विवश होना पड़ता है। आज धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में छात्रों के अन्दर श्रद्धाविहीनता के कारण आत्मानुशासन का विकास नहीं हो पाता है। अतः शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के सम्बन्धों का विकास आध्यात्मिकता पर आधारित होना चाहिये। शिक्षार्थी के लिये शिक्षक की अनिवार्यता है। शांकर सिद्धान्त में गुरु को अनुपमेय कहा गया है। उसकी उपमा स्पर्शमणि से भी नहीं कर सकते है क्योंकि स्पर्शमणि तो लोहे को स्वर्ण बनाकर ही छोड़ देता है परन्तु गुरु तो शिष्य को अपने समान बना देता है।

प्रश्न—आचार्य शंकर के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्धारण किस प्रकार होना चाहिए ?

उत्तर—भगवान् शंकराचार्य के अनुसार वेद, षड्वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण,

रामायण, महाभारत आदि सभी धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन-अध्यापन होना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित परा-अपरा विद्या के उल्लेख से पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ता से सम्बन्धित सभी विषय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के सम्वाद में आए हुए सभी विषय पठनीय है। भगवान् शंकराचार्य ने श्रुति-स्मृति आदि की व्याख्या में जिस अपूर्व सामन्जस्य तथा समन्वय का परिचय दिया है वह इस ओर इंगित करता है कि छात्रों को भक्तिपरक साहित्य, कर्मकाण्ड सम्बन्धी वाङ्मय एवं ज्ञानमार्ग सम्बन्धी ग्रन्थरत्नों का विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये किन्तु उनका पाठ्यक्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता है बल्कि 'तरति शोकमात्मवित्' (छां०उ०) इस उक्ति से व्यक्ति को पारमार्थिक दृष्टि से आत्मानुभूति तक पहुँचना है। अतः उपर्युक्त सभी विषयों का अध्ययन-अध्यापन साधन है साध्य नहीं। साध्य आत्मज्ञान। यही परा-विद्या के अन्तर्गत आता है।

परिशिष्ट-3

श्रीहरि:

अनन्त श्री जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ जी महाराज

Office Of His Holiness

Anant Shree Jagadguru Shankaracharya
Swami Shree Niranjan Dev Teertha Ji Maharaj
Shree Govardhan Math, Puri, Orissa,

Phone : 161

Dated 20-7-1976

Camp.

जोधपुर,

श्रीयुत् शर्मा जी शुभाशी: । आपका पत्र मिला पढ़कर प्रसन्नता हुई । आप शंकराचार्य पर शोधन कर रहे हैं और साथ ही लिख रहे हैं कि आचार्य के शैक्षिक विचारों, मान्यताओं और आदर्शों की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया । यह आश्चर्य है इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा । क्या उनके सैंकड़ों ग्रन्थ उनके विचार, मान्यता और आदर्श पर प्रकाश नहीं डालते । जिसने सम्पूर्ण भारत से सनातन विरोधी मतों का उच्छेद कर सनातन वैदिक मार्ग की स्थापना की और जिसके सामने कोई वादी टिक न सका क्या उससे बढ़कर कोई शिक्षा शास्त्री हो सकता है जिनके सामने आते ही मूक बालक में भी बोलने की शक्ति आ गई क्या वर्तमान में ऐसा कोई शिक्षा शास्त्री है जो मूक बच्चे को बोलना सिखा दे । दु:ख है कि आजकल के रिसर्च स्कालर केवल ऊटपटांग बातों पर ध्यान देते है—वास्तविकता पर नहीं । (1) मद्रास से निकलने वाली शंकर कृपा गोष्ठी आदि पत्रिकाएँ । (2) जीव के लिए भगवत् प्राप्ति का साधन ही शिक्षा है जीव शिव बन जाये आत्मा परमात्मा बन जाये, नर-नारायण बन जाये यही शिक्षा का उद्देश्य है । गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्य का पालन कर वेदादि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा है । भगवान् और भक्त का सम्बन्ध गुरु शिष्य का सम्बन्ध है । धार्मिक, आध्यात्मिक से भिन्न कोई शिक्षा है ही नहीं । शांकर दर्शन के बिना मोक्ष हो सकता हों नही यही सबसे बड़ी उपादेयता है । इससे अधिक जानना हो तो भद्रपद शुक्ला 15 तक जोधपुर आ सकते है ।

—श्री चरणों की आज्ञा से,

ह० अपठित ।

परिशिष्ट-4

श्रीहरिः

अनन्त श्री जगद्गुरु शंकराचार्य
स्वामी श्री निरञ्जन देव तीर्थ जी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी।
Anat Seree Jagadguru Shankaracharya
Swami Shree Niranjan Deva Teerth Ji Maharaj
Govardan Math, Puri.

Camp :
जोधपुर,
Dated 31-7-1976,

सं०

श्री शर्मा जी शुभाशीः आपका पत्र मिला। ज्ञानोपदेश के लिए ही ज्ञानावतार होता है। भगवान् का तो अवतार ही शिक्षा के लिए होता है। इसलिए उनकी शिक्षा के बारे में खोज करना भगवान् में ही कमी ढूँढना है। लोगों की मान्यता कैसी भी रही हो कि भगवान् शंकर का शिक्षा दर्शन वह है जो आत्मा को परमात्मा और नर को नारायण बनाता है वास्तव में इसी का नाम शिक्षा है। इसी दृष्टि से हमने केवल आपके ही लिए नहीं अपितु आजकल के सभी रिसर्च करने वालों के लिए सामान्य रूप से लिखा था कि ये प्रायः उटपटांग विचार करते हैं वास्तविक नहीं। शंकर कृपा गोष्ठी आदि पत्रिकाएं अधिकांश तमिल और अंग्रेजों में निकलती है। आप चाहें तो शृंगेरी से नमूने मंगवालें।

—श्रीचरणानुज्ञया,
ह० अपठित।